श्री जवाहर किरणावली— २०वीं किरण

卐

अनाथ भगवान

(प्रथम खण्ड)

व्याख्याता

स्वर्गीय जैनाचार्य

पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज

सादर भेंट ....

सम्पादक

श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्राप्ति स्थान

जवाहर साहित्य समिति

भीनासर (बीकानेर)

प्रकाशकीय निवेदन

प्रखर प्रतिभाशाली, सन्तशिरोमणि, अध्यात्म एवं दर्शन शास्त्र के तलस्पर्शी विद्वान्, युगनिर्माता, दिवंगत परम पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज की प्रवचन-वाणी में से संगृहीत 'अनाथ भगवान' नामक यह किरण पाठकों के कर-कमलों में पहुँचाते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है। पूज्य श्री के प्रवचन-साहित्य के संबंध में नये सिरे से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं रह गई है। कवि ठीक कहता है—

न हि कस्तूरिकाऽऽमोदो शपथेन विभाव्यते।

कस्तूरी का सौरभ बतलाने के लिए कसम खाने की आवश्यकता नहीं होती। मन को मुग्ध करने वाला वह सौरभ तो आप ही आप प्रकट हो जाता है।

पूज्यश्री के इस साहित्य की धर्मप्रिय, गंभीर विचारशील विद्वानों ने तथा सन्त-समुदाय ने एक स्वर से प्रशंसा की है। धर्मनिष्ठ जैन जनता के लिए यह स्वाध्याय की उत्तम सामग्री सिद्ध हुआ है। जहाँ सन्तों सतियों के चातुर्मास नहीं हो पाते, उन क्षेत्रों में यह साहित्य ही व्याख्यान के रूप में पढ़ा-सुना जाता है।

इतना सब होने पर भी इस साहित्य का जितना प्रचार और प्रसार होना चाहिए था, उतना नहीं हो सका है। सर्व-साधारण जनता की ओर से जितना प्रोत्साहन मिलना चाहिए, उतना नहीं मिल रहा है। किरणावली

का जितना अधिक विक्रय होना चाहिए, वह नहीं हो रहा है। इस कारण हमारी स्थिति द्विविधा-पूर्ण हो रही है। एक ओर विचारक-वर्ग, साहित्य-प्रेमी और तत्त्वजिज्ञासु विद्वान् किरणावली-साहित्य के प्रकाशन के लिए प्रबल प्रेरणा करते हैं और दूसरी ओर यथेष्ट विक्रय के अभाव में हमारा उत्साह मन्दा पड़ता जा रहा है। यही कारण है कि पिछली किरणों की भूमिका में ५१ किरणों के प्रकाशन की अपनी भावना व्यक्त कर चुकने पर भी आज हमें नया प्रकाशन करने में हिचकिचाहट हो रही है। इसी के फलस्वरूप पिछले वर्षों में जिस तेजी के साथ प्रकाशन कार्य हुआ था, अब नहीं हो रहा है। फिर भी यह सिलसिला चालू ही है। हमे आशा है, इस साहित्य के प्रेमी पाठक, एव पूज्य श्री के भक्त गण इस ओर ध्यान देकर हमारे उत्साह की वृद्धि करेंगे।

प्रस्तुत किरण का नाम 'अनाथ भगवान्' है। पाठकों को यह नाम अनोखा सा प्रतीत होगा। भगवान् को जगत् का नाथ एव तीनों लोकों का नाथ तो सभी कहते हैं, पर अनाथ भी भगवान् हो सकते हैं यह बात विचित्र है। फिर भी इस पुस्तक को आदि से अत तक पढ़ने वाले समझ सकेंगे कि यह नाम कितना वास्तविक है।

इस किरण का प्रकाशन समाज में सुविख्यात भद्रभावी सेठ श्री इन्द्रचन्द्रजी साहब गेलडा की धर्मनिष्ठा धर्मपत्नी जी की ओर से हो रहा है। बडे ही सताप एवं दु ख का विषय है कि आज गेलड़ाजी हमारे मध्य में नहीं हैं। विकराल काल ने उन्हें हम से अकाल में ही छीन कर समाज को जो क्षति पहुँचाई है उसकी पूर्ति होना कठिन है। श्रीमान् गेलड़ाजी परमोदार, शान्त, मधुरभाषी और साहित्य प्रेमी सज्जन थे। श्रीजवाहर-

"जिन ढूढा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ ।
मै बापुरा डूबन डरा, रहा किनारे बैठ ।"

प्रस्तुत पुस्तक में महान् ज्योतिर्धर, आचार्य प्रवर, श्रद्धेय जवाहरलाल जी महाराज के प्रवचनों का सुन्दर एव सरस सकलन है । पूज्य प्रवर अपने युग के महान् व्याख्याताओं में से अग्रणी थे। उनकी वाणी में सहज प्रवाह, स्वाभाविक गहनता और जन्मजात प्रखरता प्रस्फुटित हो उठी है । जिस युग में, जैन जगत युग की प्रगति और विकास से अपरिचित था, उस अन्धकार पूर्ण युग के पूज्य प्रवर तेजस्वी सूर्य हैं । उनकी वाणी के दिव्य आलोक का स्पर्श पाकर एक ओर हमारा प्रसुप्त समाज अगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ और दूसरी ओर दूसरा समाज भी अपने प्रखरतम प्रतिद्वन्द्वी को पाकर अपनी मनमानी न कर सका । ज्योतिर्धर जवाहर ने अपने आत्म-बल से उपनिषत्कालीन ऋषि के स्वर में स्वर मिलाकर आघोष किया—"भूत्यै जागरणम्, अभूत्यै स्वप्नम् ।" जागने वाला विभूति पाता है और सोनेवाला उसे खो बैठता है । पूज्य श्री की वाग्धारा मे बहने वाला श्रोता भलीभाति यह जान सकता है कि उनके प्रवचनों में कितना जीवन-तत्त्व और कितनी जीवन-ज्योति उभर कर ऊपर उठ रही है । वे केवल प्रखर प्रवक्ता ही नहीं, समाज के जीवन धन के सच्चे प्रहरी भी थे । सत्य-पथ से भटक कर इधर उधर गलत प्रचार करने वालों को उन्होंने गम्भीर चेतावनी दी थी—

"रात बिचारी क्या करै, पथी न चले विचार ।
सत मारग को छोड़िकै, फिरै उजार-उजार ॥"

प्रचार और प्रसार करना, पण्डित जी महाराज का अपना एक महान् कर्त्तव्य है, जिसे वह बड़ी श्रद्धा और निष्ठा से निभा रहे हैं और भविष्य में भी उनसे बहुत आशाएं की जा सकती हैं।

महावीर-भवन
अलवर, १०-१-५५

—विजय मुनि

प्रचार और प्रसार करना, पण्डित जी महाराज का अपना एक महान् कर्त्तव्य है, जिसे वह बड़ी श्रद्धा और निष्ठा से निभा रहे हैं और भविष्य में भी उनसे बहुत आशाएं की जा सकती हैं।

महावीर-भवन
अलवर, १०-१-५५

—विजय मुनि

सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।
अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसिट्ठिं सुणेह मे ॥ १ ॥

अर्थ— सिद्धों को और सयतों को भावपूर्वक नमस्कार करके मैं धर्म रूप अर्थ का मार्ग क्या है, यह कहता हूँ। मेरा कथन सुनिए।

इस अध्ययन के वक्ता श्री सुधर्मा स्वामी हैं। सुधर्मा स्वामी भगवान् महावीर के पांचवें गणधर और पट्टशिष्य थे। उन्होंने अपने पट्टशिष्य श्री जम्बूस्वामी को उद्देश्य करके यह अध्ययन कहा है।

गुरु अपने शिष्य से कहते हैं— मैं तुम्हें शिक्षा देता हूँ और मुक्ति का मार्ग बतलाता हूँ, परन्तु मैं अपनी निज की शक्ति से नहीं किन्तु सिद्धों और सयतों को नमस्कार करके, उनकी शरण ग्रहण करके और उनसे शक्ति प्राप्त करके बतलाता हूँ।

साधारणतया जहां का मार्ग पूछा जाता है, वहीं का बतलाया जाता है। किन्तु यहां तो मुक्ति का मार्ग बतलाया जा रहा है। अतएव यहां कहा गया है कि मैं अर्थ और धर्म का मार्ग बतलाता हूँ।

'अर्थ' का अर्थ

'अर्थ' शब्द की व्याख्या यहां इस प्रकार की गई है :—

'अर्थ्यते प्रार्थ्यते धर्मात्मभिरित्यर्थः, स च प्रकृते मोक्षः संयमादिर्वा; स एव धर्म तस्य गतिर्ज्ञान यस्या, ताम् अनुशिष्टि मम शृणुत।'

जिस वस्तु की इच्छा की जाती है, उसे अर्थ कहते हैं। साधारण जन अर्थ का अर्थ धन-दौलत समझते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए इधर-उधर दौड़धूप करते हैं। किन्तु यहां यह अर्थ विवक्षित नहीं है। आप लोग धन के लिए यहां नहीं आये हैं। आप धन के लिए दौड़धाम करते हैं, किन्तु यहा धन मिलने की सभावना न होने पर भी आये हैं, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अर्थ का धन के अतिरिक्त और भी कुछ अर्थ है और उसी के लिए आप यहा आये हैं।

किसी गृहस्थ की कदाचित् ऐसी इच्छा हो सकती है कि हम साधुओं के पास जायेंगे तो किसी दूसरे बहाने हमे धन की प्राप्ति हो जायगी परन्तु साधु या सती की ऐसी भावना भी नहीं होती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यहा धन की प्राप्ति न होने पर भी आप आये हैं, अतएव अर्थ का अर्थ धन ही नहीं, कुछ और भी है।

कहा जा चुका है कि जिस वस्तु की इच्छा की जाती है, उसका नाम अर्थ है। किन्तु इस प्रकरण मे यह विशेष समझना चाहिए कि धार्मिक जन जिसकी इच्छा करें वह धर्म है। धार्मिक जन धर्म की ही इच्छा करते हैं। अतएव यहा अर्थ का अर्थ धर्म विवक्षित है।

इसी गाथा मे आगे कहा गया है कि धर्म रूपी अर्थ में जिसके द्वारा गति होती है, उसकी मैं शिक्षा देता हूँ। धर्म रूप अर्थ मे ज्ञान द्वारा गति होती है और ज्ञान द्वारा ही धर्म रूपी अर्थ प्राप्त

किया जा सकता है, अतएव इस कथन का आशय यह होता है कि 'मैं ज्ञान की शिक्षा देता हूँ।'

ज्ञान का अर्थ भी व्यापक है। ससार व्यवहार का ज्ञान भी ज्ञान ही कहलाता है, परन्तु यहा यह कहा गया है कि धर्म रूपी अर्थ मे गति कराने वाले तत्त्व का ज्ञान देता हूँ। यह ज्ञान आपके अन्तर मे विद्यमान है, किन्तु वह जागृत नहीं है। अतएव मै शिक्षा देकर उस ज्ञान को जागृत करने का प्रयत्न करता हूँ।

दीपक में तेल भी हो और बत्ती भी हो, फिर भी अग्नि का सयोग हुए विना वह प्रकाश नहीं दे सकता। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा मे ज्ञान विद्यमान है, किन्तु वह ज्ञान महापुरुष के सत्सग के बिना विकसित नहीं हो सकता। अगर आत्मा मे ज्ञान की सत्ता ही न होती तो महापुरुष का सत्सग भी क्या काम आता? वह किसको विकसित करता? जिस दीपक मे तेल नहीं है या बत्ती नहीं है, उसे दूसरे जलते हुए दीपक का स्पर्श कराया जाय तो भी क्या परिणाम निकलने वाला है? खाली चूल्हे मे फूंक मारने से आंखों मे राख ही पडती है, और कोई सुपरिणाम नहीं निकलता। इसी प्रकार जब तक अपनी आत्मा मे शक्ति न हो तब तक महापुरुषों की संगति या उनकी शिक्षा भी व्यर्थ जाती है।

इस गाथा मे कहा गया है कि—'मैं शिक्षा देता हूँ' इस कथन से यह फलित होता है कि महापुरुषों ने हमारे भीतर शक्ति देखी है, इसी कारण वे हमे शिक्षा देते है। हमारे अन्दर ऐसी शक्ति विद्यमान है— हममें उस ज्ञान की सत्ता है जो महापुरुषों की

शिक्षा के द्वारा विकसित हो सकता है, अतएव हमे सावधान होकर उनकी शिक्षा को सुनना चाहिए।

'सिद्ध' पद का अर्थ

शिक्षा देने वाले महापुरुष ने कहा है— मै सिद्ध और सयत को नमस्कार करके शिक्षा को प्रारभ करता हूँ। परन्तु यहा हमे जानना चाहिए कि सिद्ध का अर्थ क्या है ? पचनमस्कारपद मे भी सिद्धों को नमस्कार किया गया है। अतएव हमे 'सिद्ध' शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

'सिद्ध' पद मे का 'सित्' शब्द 'सिञ् बन्धने' धातु से बना है। जिस महान् आत्मा ने सित् को अर्थात् आठ कर्म रूप लकड़ियों के बधे भार को, ध्यातम् अर्थात् शुक्लध्यान रूप जाज्वल्यमान अग्नि केद्वारा भस्म कर डाला हो, वह सिद्ध कहलाता है।

'षिधु गतौ' धातु से भी सिद्ध शब्द बनता है। इसका अभिप्राय यह निकलता है कि जो ऐसे स्थान पर गमन कर चुके है— पहुँच गये हैं कि जहाँ से वापिस नहीं लौटना पड़ता, वह सिद्ध कहलाते हैं।

कुछ लोग कहते है कि सिद्ध होने के पश्चात् भी सिद्ध ससार का अभ्युत्थान करने के लिए पुन ससार मे अवतरित होते हैं। किन्तु ऐसा हो तो सिद्धिस्थान भी एक प्रकार का ससार ही बन जायगा। सच्चा सिद्धिस्थान तो वही कहला सकता है कि जिससे फिर कभी भी ससार मे आना ही न पड़े। गीता मे कहा है :—

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परम मम ।

अर्थात्—जहाँ पहुँचजाने के बाद कभी वापिस नहीं लौटना पडता, वही परम धाम कहलाना है। यही परम धाम सिद्धिस्थान है। जहाँ जाने के पश्चात् फिर ससार मे आना पड़ता है, वह तो एक प्रकार का ससार ही है।

व्युत्पत्ति के आधार पर सिद्ध शब्द का तीसरा अर्थ भी किया गया है। 'षिधु सराद्धौ' इस अर्थ मे जो कृतकृत्य हो गया हो। जिसके लिए कुछ भी करना शेप न रह गया हो वह भी सिद्ध कहलाता है।

जैसे पकी हुई खिचड़ी को कोई दोबारा नहीं पकाता, उसी प्रकार जिन्होंने आत्मा के समस्त काम सिद्ध कर लिये हों और जिनके लिए कुछ भी करना शेष न रह गया हो, वह सिद्ध है। इस प्रकार एक ही शब्द के तीन अर्थ निकलते है, किन्तु उनका भावार्थ एक ही है।

'षिधूम् शास्ते मागल्ये' इस धातु से बने सिद्ध शब्द का अर्थ है—दूसरों को उपदेश देकर जो मोक्ष पहुँचे है, वह सिद्ध हैं, शास्ता का अर्थ उपदेशक होता है। अतएव दूसरों को उपदेश प्रदान कर के जिन्होंने सिद्धि प्राप्त की है, वह सिद्ध हैं।

यहाँ यह शका की जा सकती है कि जो तीर्थंकर हो कर सिद्ध हुए है, उन्हे शास्ता कहना तो उचित है, क्योंकि वे दूसरों के कल्याण का उपदेश देकर मोक्ष पहुचे हैं, किन्तु सभी सिद्ध तीर्थंकर नहीं होते। सिद्ध पन्द्रह प्रकार के होते है। उनमे से कई ऐसे भी है जो उपदेश दिये बिना ही मोक्ष पहुचते है। उनके लिए 'शास्ता'

पद का प्रयोग कैसे किया जा सकता है ? जो महात्मा ध्यान मौन द्वारा मोक्ष पाते है, क्या वे भी जगत को कोई उपदेश देते हैं ? अगर नहीं तो उन्हें शास्ता कैसे कहा जाय ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो महात्मा ध्यान-मौन द्वारा मोक्ष मे जाते हैं, वे भी ससार को किसी न किसी प्रकार की शिक्षा देते ही है। अतएव उन्हे भी शास्ता कहा जा सकता है। वे मौन का सेवन करके भी शिक्षा देते है और ससार को ऐसी शिक्षा की आवश्यकता भी है। यह ससार विशेषत मौन सेवन करनेवालों की सहायता करने से ही चल रहा है। मूक सृष्टि के आधार पर ही यह बोलती सृष्टि टिकी हुई है। अतएव यह कहना सही नहीं है कि जो महात्मा बोलते नहीं हैं, किन्तु ध्यान-मौन द्वारा ही कल्याण करते हैं, वे ससार को कोई उपदेश या शिक्षा नहीं देते। वे भी जगत् के उपकारक और शिक्षा दाता होते है।

सिद्ध भगवान् ने मोक्ष प्राप्त किया है और इसी से लोग मोक्ष के इच्छुक हैं। अगर वे मोक्ष न गये होते तो कोई मोक्ष की इच्छा न करता। वे महात्मा मन, वचन और काम की सशुद्धि साध कर मोक्ष गये हैं और इस प्रकार उन्होंने ससार के लोगों को मोक्ष का मार्ग बतलाया और उनके अन्त करण मे मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न की। अतएव उन्हें भी शास्ता कहा जा सकता है।

शास्ता के साथ यह भी कहा गया है कि जो मांगलिक हो, वह सिद्ध है। मांगलिक का अर्थ है— पाप का नाश करने वाला। तो जो पाप का नाश करने वाला है वह सिद्ध है। इस प्रकार जो शास्ता और मांगलिक है वह सिद्ध है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सिद्ध भगवान् अगर मांगलिक हैं तो बडे बडे महात्माओं को रोग और दु ख क्यों सहन करने पड़े ? गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते हुए अगार रक्खे गये और दूसरे महात्माओं को भी अनेक दु ख सहन करने पडे। वहाँ सिद्धों की मांगलिकता क्यों काम न आई ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मगल का अर्थ पाप को नाश करने वाला होता है। अगर कष्ट देने वाले पर कष्ट सहन करने वाले को द्वेष उत्पन्न हो तो उसमे मगल नहीं है। हाँ, अगर द्वेष का भाव उत्पन्न न हो तो मंगल समझना चाहिए। गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर दहकते हुए अगार सोमिल ब्राह्मण ने रखे, परन्तु उन मुनि ने सोमिल को शत्रु नहीं माना, अपने मे मगल जगाने वाला मित्र माना।

इस प्रकार सिद्ध भगवान् भावमङ्गल हैं। आप द्रव्य मङ्गल देखते हैं। जिनमे भाव-मागलिकता है, वे द्रव्यमङ्गल का चमत्कार भी दिखला सकते हैं, किन्तु वे महात्मा ऐसा करने की इच्छा नहीं करते। वे तो आत्मा की शान्ति की ही रक्षा करना चाहते हैं। अगर वे किसी प्रकार का द्रव्य ने चमत्कार बताने के इच्छुक होते तो चक्रवर्त्ती का राज्य और सोलह-सोलह हजार देवों की सेवा क्यों त्याग देते ? और क्यों सयम को धारण करते ? जहाँ देवता सेवक बन कर रहते हों वहाँ द्रव्य चमत्कार मे क्या कमी रह सकती है ? किन्तु सत्य तो यह है कि ऐसे महात्मा इस प्रकार के चमत्कार की इच्छा ही नहीं करते। जैसे कोई सूर्य की पूजा करता है और कोई सूर्य को गाली देता है। मगर सूर्य गालिया देने वाले पर रुष्ट होकर उसे कम प्रकाश नहीं देता और पूजा करने वाले पर तुष्ट हो

कर उसे अधिक प्रकाश नहीं देता। वह सब को समान प्रकाश देता है। यही स्थिति सिद्ध भगवान् की है।

सिद्ध का पांचवां अर्थ है—जिनकी सिद्धि प्राप्त करने का आदि तो है किन्तु अन्त नही है, वह भी सिद्ध कहलाते हैं।

गुरु महाराज शिष्य से कहते हैं कि सिद्ध भगवान को नमस्कार करके, धर्म रूपी अर्थ का सच्चा मार्ग क्या है, यह बात मै तुम्हें बतलाता हूँ। सिद्धों को नमस्कार करके मै सयमियों को भी नमस्कार करता हूँ।

सूत्र के रचयिता गणधर चार ज्ञानों के स्वामी थे। वे भी कहते है कि जो सयत है—भाव से सयम का पालन करनेवाले है, मैं उन्हें भी नमस्कार करता हूँ। गणधर महाराज के इस कथन से साधुओं को समझना चाहिए कि यदि हममे भाव से साधु का गुण होगा तो गणधर भी हमे नमस्कार करते है और यदि साधुता का गुण न हुआ तो हममे कुछ भी नहीं है।

इस वीसवें अध्ययन मे जो कुछ भी कहा गया है, उसका सक्षिप्त सार इस पहली गाथा मे दे दिया गया है। इस प्रथम गाथा मे सम्पूर्ण अध्ययन का सार किस प्रकार समाविष्ट कर दिया गया है इस बात को विशेषज्ञ ही समझ सकता है। यह बात केवल जैन शास्त्र के सम्बन्ध मे ही लागू नहीं होती, किन्तु अन्य ग्रन्थों मे भी पूरे ग्रन्थ का सार आदि सूत्र मे ही कह दिया गया, देखा जाता है। उदाहरण के लिए कुरान को लीजिए। मैंने कुरान का अनुवाद देखा था। उसमे कहा गया है कि १२४ इल ही पुस्तकों का सार तो तूरेत, इजील, जबूर और कुरान इन चार पुस्तकों मे दिया गया है।

फिर चारों का सार कुरान मे लाया गया है और कुरान का सार उसकी पहली आयत मे दिया गया है—

बिसमिल्लाह रहिमाने रहीम ।

इस एक ही आयत मे कुरान का सार किस प्रकार समाविष्ट है, यह एक विचारणीय बात है। परन्तु जब इस आयत मे 'रहिमान' और 'रहीम' यह दोनों आगये तब कुरान मे और क्या शेष रह गया ? हमारे यहाँ भी कहा गया है कि—

दया धर्म का मूल है

दया शब्द में दो ही अक्षर हैं, परन्तु क्या उसमें सभी धर्मों का सार नहीं आ जाता है ? दया सब धर्मों का सार है, यह बात कुरान, पुराण या वेद शास्त्र से ही नहीं, वरन् अपने अन्त करण से भी जानी जा सकती है। कल्पना कीजिए, आप जगल में हैं और कोई मनुष्य तलवार लेकर आता है और आपकी जान लेना चाहता है। तब आप उस मनुष्य मे क्या कमी देखेंगे ? यही कि उसमे दया नहीं है।

इसी समय कोई दूसरा मनुष्य आता है और उस दुष्ट मनुष्य से कहता है 'भाई, इसे मत मार। अगर मारना ही है तो मुझे मार डाल।' अब आप इस दूसरे मनुष्य मे क्या विशेषता देखेंगे ? आप यही कहेंगे कि वास्तव मे इस मनुष्य मे दया की विशेषता है इसमे दया का गुण है।

प्रश्न यह है कि यह बात आप किस प्रकार जान सके ? इसका उत्तर आप यही देंगे कि हम अपने अन्त.करण से ही यह बात

समझ सके हैं। हमारा अन्त करण ही साक्षी दे रहा है कि इस मनुष्य मे दया है। आत्मा स्वय ही अपनी रक्षा चाहता है, अतएव इस व्यवहार से उसने परख लिया कि इस मनुष्य मे दया का गुण है।

इस प्रकार दया आत्मा का धर्म है अगर आपको धर्मात्मा बनना है तो दया को अपने जीवन मे ताने-बाने की तरह बुन लो। शास्त्र मे कहा है -

एवं खु नाणिणो सारं जे न हिसइ किचण।

—सूयगडाग सूत्र

अर्थात्—किसी जीव को न मारना ही ज्ञान का सार है। जैसी अपनी आत्मा वैसी ही दूसरों की आत्मा है। जैसे तुम नहीं मरना चाहते, वैसे ही दूसरे भी नहीं मरना चाहते। जैसे तुम्हें खराब वस्तु पसद नहीं, वैसे ही दूसरों को भी पसद नहीं। इसी प्रकार तुम्हें अपने लिए प्रतिकूल जान पडता है, वही दूसरों को भी प्रतिकूल जान पड़ता है। ऐसा जान कर दूसरों को दु ख न पहुचाना, किन्तु दूसरों पर दयाभाव रखना चाहिए। एक फारसी कवि ने कहा है -

ख्वाहि कि तुरा हेच, वदी न आयद पेश,
तात्वानी बदी मकुन, अज कमोवेश ॥

अर्थात्—अगर तू चाहता है कि मेरे ऊपर कोई जुल्म न करे तो जिसे तू जुल्म मानता है, उसे तू दूसरों पर न कर। कोई तुम्हें

मार कर तुम्हारी चीज छीन लेना चाहता है, भूठ बोल कर ठगना चाहता है अथवा तुम्हारी स्त्री पर बुरी निगाह डालता है तो तुम उसे अत्याचारी समझोगे। यह बात इतनी सीधी और सरल है कि इसकी खातिरी के लिए किसी पुस्तक की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं। ज्ञानी जनों का कहना है कि जिस चीज को तुम अपने लिए अत्याचार समझते हो, वह दूसरों के प्रति मत करो। किसी की हिंसा न करो। असत्य न बोलो। किसी की स्त्री पर बुरी निगाह न डालो और किसी की चोरी न करो। यह मान लोगे तो तुम अत्याचारी नहीं रहोगे। जब तुम स्वयं अत्याचारी नहीं रहोगे तो क्या दूसरे तुम्हारे ऊपर अत्याचार कर सकेंगे ? इस बात पर गहरा विचार करोगे तो तुम्हें स्पष्ट मालूम हो जाएगा कि दया धर्म का और हिंसा पाप का मूल है। करीमा में ठीक ही कहा है :—

चहल चाल उम्रे अजी जश्त गुजिश्त।
मिजाजे तो अजहाल तिफली न जश्त ॥

अर्थात—तू चालीस वर्ष का हो गया फिर भी तेरा छुकड़पन नहीं गया। अब तो बचपन को छोड कर बात को समझ। जिसे तू जुल्म गिनता है, उसे दूसरा त्यागे, अथवा न त्यागे किन्तु अगर तुझे धर्मात्मा बनना है तो तू तो त्याग दे। कोई राजा यह नहीं सोचता कि सब लोग राजा नहीं हैं तो मैं ही क्यों राजा रहूँ ? तो फिर दूसरों ने जुल्म का त्याग किया है या नहीं, यह बात भी तुम्हें क्यों सोचनी चाहिए ? दूसरे जुल्म का त्याग नहीं करेंगे तो वे भुगतेंगे, किन्तु मुझे तो धर्मात्मा बनना है। तू जुल्म का त्याग करदे।

'मैं कल्याण की शिक्षा देता हूँ' ऐसा यहाँ कहा गया है। यह कल्याण की शिक्षा शास्त्रकार न केवल साधुओं और न श्रावकों को ही, वरन् जगत् के समस्त जीवों को देते हैं। जब सूर्य सबको समान प्रकाश देता है, किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता तो फिर जो भगवान् सूर्य से भी अधिक महिमा से मण्डित है, वे किसी भी प्रकार का भेदभाव कैसे रख सकते है ?

१—महान् का अर्थ

उत्तराध्ययन शास्त्र का जैन परम्परा मे एक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट स्थान है। इस शास्त्र के सबंध मे अन्यत्र विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है। अतएव उसे यहाँ दोहराना उचित नहीं है। जिज्ञासु जन वहाँ देख लें।

यहाँ उत्तराध्ययन के वीसवें अध्ययन का व्याख्यान किया जा रहा है। इस अध्ययन का नाम 'महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन' है। अतएव यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि महान् और निर्ग्रन्थ शब्दों का अर्थ क्या है ?

पूर्वाचार्यों ने महान् शब्द का अर्थ बतलाते हुए अनेक बातें समझाई है। उन सब बातों को कहने का अभी समय नहीं है, क्योंकि सूत्र समुद्र की भाँति असीम है। अपने जैसे जीव उसकी सीमा का निर्धारण नहीं कर सकते। फिर भी इस सबध मे थोडा कहना आवश्यक है।

पूर्वाचार्यों ने आठ प्रकार के महान् बतलाए है— (१) नाम से (२) स्थापना से (३) द्रव्य से (४) क्षेत्र से (५) काल से (६) प्रधानता से (७) प्रतीत्य अर्थात् अपेक्षा से और (८) भाव से। इस अध्ययन मे किस प्रकार के महान् का वर्णन किया गया है, यह यहाँ देखना है, किन्तु इससे पहले उपर्युक्त आठ महानों का अर्थ समझ लेना उचित है।

(१) नाम-महान्— जिसमे महत्ता का एक भी गुण नहीं है,

परन्तु जो केवल नाम से ही महान् है, वह नाम महान् कहलाता है।

जैन शास्त्रों ने प्रारभ और अन्त समझाने का बहुत प्रयत्न किया है। साधारणतया प्रत्येक वस्तु को नाम से ही जाना जा सकता है। किन्तु नाम के साथ उसके स्वरूप को भी समझना चाहिए

(२) स्थापना महान्— किसी वस्तु मे महानता का आरोपण कर लेना स्थापना महान् है।

(३) द्रव्यमहान्— जब केवलज्ञानी अन्त समय मे केवलि-समुद्घात करते है तब उनके कर्मप्रदेश चौदह राजू लोक मे फैल जाते हैं और उनके शरीर मे से निकला महास्कन्ध समस्त लोक में समा जाता है। वह द्रव्य से महान् है।

(४) क्षेत्र महान्—समस्त क्षेत्रों मे आकाश ही महान् है, क्योंकि आकाश समस्त लोक और अलोक में व्याप्त है।

(५) कालमहान्—कालों मे भविष्य काल महान् है। जिनका भविष्य सुधरा उनका सभी कुछ सुधरा। भूतकाल कैसा ही उज्ज्वल क्यों न रहा हो, पर वह बीत चुका है। अतएव भविष्य काल ही महान् है।

(६) प्रधान महान्—जो प्रधान माना जाता है, उसे सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तीन भेद हैं। सचित्त मे भी चतुष्पद, द्विपद और अपद, यह तीन भेद हैं। द्विपदों मे तीर्थंकर महान्

पारिणामिक भाव से क्षायिक भाव मे प्रवर्त्तते हैं, उन्हें महान् कहा है।

२– निर्ग्रन्थ का अर्थ

अब विचार कीजिए कि निर्ग्रन्थ किसे कहना चाहिए? निर्ग्रन्थ का अर्थ क्या है? जो द्रव्य और भाव से, बन्धनकर्त्ता पदार्थों से निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् जो द्रव्य और भाव ग्रन्थि से मुक्त होते हैं, वह निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। द्रव्यग्रन्थि नौ प्रकार की और भाव ग्रन्थि चौदह प्रकार की है। इन दोनों प्रकार की ग्रंथियों का त्याग कर देने वाले निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

कोई व्यक्ति द्रव्यग्रन्थि को तो छोड दे किन्तु कषाय आदि भावग्रन्थि को न छोड़े तो वह निर्ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। निर्ग्रन्थ को तो निश्चय और व्यवहार-- दोनों प्रकार की ग्रन्थियों को त्यागने की आवश्यकता है। पन्द्रह प्रकार के सिद्धों मे गृहलिंगी भी सिद्ध होते हैं और अन्यलिंगी भी सिद्ध होते हैं, किन्तु वे भाव की अपेक्षा सिद्ध होते हैं। द्रव्य की अपेक्षा तो स्वलिंगी ही सिद्ध होते हैं। अतएव द्रव्य और भाव-- दोनों प्रकार की ग्रन्थियों से जो विमुक्त होते हैं, वही निर्ग्रन्थ कहलाते है और जो सम्पूर्ण रूप से दोनों प्रकार की ग्रन्थियों से मुक्त हो जाते है, वह महानिर्ग्रन्थ कहलाते हैं। कोई द्रव्यग्रन्थि से ही मुक्त होते हैं और कोई भाव-ग्रंथि से ही, परन्तु जो दोनों प्रकार की ग्रन्थियों से छूट जाता है, वही महानिर्ग्रन्थ कहलाता है।

आजकल लोग प्राय जो आता है उसी के बन जाते हैं।

परन्तु शास्त्र कहता है कि तुम निर्ग्रन्थधर्म के अनुयायी हो, किसी विशेष व्यक्ति के अनुयायी नहीं। कोई निर्ग्रन्थधर्म की बात कहे उसे मानो और जो निर्ग्रन्थधर्म की बात न कहे उसे मत मानो।

निर्ग्रन्थधर्म का प्रतिपादन निर्ग्रन्थप्रवचन करता है। द्वादशांगी निर्ग्रन्थप्रवचन की वाणी को सजीवन करने वाले- उसका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ और शास्त्र निर्ग्रन्थप्रवचन ही हैं। किंतु जो द्वादशांगी का खण्डन करता है और उसके विरुद्ध किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है उसे निर्ग्रन्थप्रवचन नहीं कहा जा सकता। निर्ग्रन्थधर्म का अनुयायी निर्ग्रन्थप्रवचन के सिद्धान्त से विरुद्ध जाने वाले ग्रंथ या शास्त्र को कदापि अंगीकार नहीं करेगा। वह तो यही कहेगा कि मेरे लिए तो निर्ग्रन्थप्रवचन ही प्रमाण है।

३—महान् कौन ?

सब की समझ मे आ जाय, इस दृष्टि से इस बात पर व्यावहारिक रीति से विचार करें। महान् पुरुषों की सेवा करने की सब की इच्छा होती है, परन्तु महान् कौन है ? भागवत मे कहा है—

महत्सेवा द्वारमाहुर्विमुक्ते', तमोद्वार योषिता संगि संगम् ।
महान्तस्ते समचित्ता' प्रशान्ता विमन्यव' सुहृद् साधवो ये ॥

अर्थात्—इस संसार मे मोक्ष का द्वार महान् पुरुषों की सेवा, संगति और उपासना है और नरक का द्वार स्त्री के उपासक—कनक-कामिनी के भोगी जन की सेवा करना है। जो समभावी हों, शान्तचित्त हों, क्षमावान् हों और निर्मल अन्त करण वाले साधु हों, वही महान् हैं।

महान् पुरुषों की सेवा-संगति को मोक्ष का द्वार कहा गया है, परन्तु प्रश्न यह है कि महान् पुरुष किसे कहा जाय ? जो बड़े जागीरदार हैं, जो ठाठ के साथ मूल्यवान वस्त्र पहनते हैं और अकड़ते हुए चलते हैं, जो विशाल हवेलियों मे रहते हैं, उन्हें महान् समझा जाय या किसी दूसरे को ? महान् वास्तव में किसे कहना चाहिए इसका निर्णय शास्त्र द्वारा किया ही जायगा, परन्तु भागवत-पुराणकार कहते हैं कि ऐसी उपाधियों को धारण करने वाले महान् नहीं हैं। किन्तु जिनका चित्त सम है—समतोल है, वही महान् कहलाने योग्य है। जिनका मन आत्मा मे है, पुद्गलों मे रचा पचा नहीं रहता है, वह महान् है।

महान् पुरुष का मन हमेशा समतोल रहना चाहिए। मन को समतोल रखने का अर्थ है—आत्मा को भूल कर पुद्गलों मे रमण न करना। जड और चेतन का विवेक करके जड़-स्वभाव को दूर करना और चेतन स्वभाव को अपनाना अर्थात् यह मानना कि जड का धर्म नश्वरता और अज्ञान है और चेतन का धर्म अविनाशी और ज्ञानमय है। यही चित्त की सम-स्थिति है।

कहा जा सकता है कि कार्मण शरीर की अपेक्षा जीव के पीछे अनादिकाल से उपाधि लगी है। यह मेरा कान है, यह मेरी नाक है, यह मेरा शरीर है, इस प्रकार जड को अपना मान कर आत्मा शरीर के अधीन हो रहा है। इस उपाधि के कारण कैसे माना जाय कि किसी का चित्त सम है ? परन्तु यह तो सत्य है कि अनादि काल से आत्मा के साथ उपाधि लगी है, परन्तु उपाधि को उपाधि मानना भी समचित्त का लक्षण है।

कंकर को रत्न और रत्न को कंकर कहने वाला मूर्ख गिना जाता है। यद्यपि रत्न और कंकर दोनों जड हैं, फिर भी रत्न और कंकर को एक मानने वाला मूर्ख समझा जाता है, तो फिर चेतन को जड और जड को चेतन समझने वाले को समचित्तवान् कैसे कहा जा सकता है ? अज्ञान के कारण लोग चेतन को जड़ और जड को चेतन मानते हैं। परन्तु किसी के कहने या मानने से जड चेतन नहीं बनता और चेतन जड़ नहीं बन सकता। एक आदमी जंगल में जा रहा था। जाते-जाते उसने कुछ दूरी पर सीप देखी। चमचमाती सीप को वह चांदी समझने और कहने लगा। दूसरा आदमी चांदी को सीप कहने लगा। परन्तु उनके कहने से चांदी सीप न बनी और सीप चांदी न बनी। इसी प्रकार किसी के कहने से जड या चेतन अपना स्वभाव नहीं त्यागते। जो लोग जड को चेतन और चेतन को जड़ मानते हैं, वह उनका अज्ञान ही है और इस अज्ञान के कारण ही लोग समझते हैं कि यह मेरा है और यह मेरा है।

आशय यह है कि जो ऐसी उपाधियों में उलझा हुआ है, वह महान् नहीं, जड का गुलाम है। वह आत्मवादी नहीं, जड़वादी है। महान् पुरुष तो वह है जो अपने शरीर को भी अपना नहीं मानता। ऐसा पुरुष संसार की अन्यान्य वस्तुओं को अपनी न माने, इसमें कहना ही क्या है ?

अब यह देखना है कि महान् पुरुषों की सेवा किस उद्देश्य से करनी चाहिए ? महान् पुरुष की सेवा करेंगे तो वे कान में मन्त्र

फूंक देंगे अथवा मस्तक पर हाथ फेर कर आशीर्वाद दे देंगे तो हम ऋद्धि समृद्धि से सम्पन्न वन जाएंगे, इस उद्देश्य से महान् पुरुषों की सेवा करना महात्माओं की सेवा नहीं, माया की सेवा करना है। किन्तु यदि इस विचार से सेवा की जाय कि—'मैं संसार की उपाधि मे फँसा हूँ और जड को अपना मान बैठा हूँ। महान् पुरुषों की सेवा-सगति करने से मैं उपाधि से मुक्त हो जाऊँगा' तो यह सच्ची सेवा है और ऐसी ही सेवा मोक्ष का द्वार है।

जिनके मन मे समताभाव विद्यमान है, उन्हे कोई लाखों गालियाँ दे तो भी उनके मन में रोप या विकार का भाव उत्पन्न नहीं होता। अपनी प्रशसा सुनकर उनका मन फूल नहीं उठता। इस प्रकार जो प्रशंसा से फूलते नहीं और निन्दा से क्रुद्ध नहीं होते, वही सच्चे महान् हैं।

एक बार पूज्य उदयसागरजी महाराज रतलाम मे विराजमान थे। उस समय रतलाम नगर उन्नत दशा मे था और सेठ भोजाजी भगवानजी का अच्छा प्रभाव था। पूज्य श्री की प्रशंसा सुनकर एक मुसलमान ने उनकी परीक्षा लेने का विचार किया। अनुकूल अवसर देखकर वह पूज्य श्री के पास पहुँचा और मनचाही कर्णकटु गालियां देने लगा। पूज्य श्री उस समय पर धर्मध्यान कर रहे थे। मुसलमान तो अत्यन्त गदी और चुभने वाली गालियां दे रहा था और पूज्य श्री मानों गालिया सुन ही न रहे हों, इस प्रकार शान्त बैठे हँस रहे थे। उनके मन मे जरा भी क्रोध न आया। जब मुसलमान को लगा कि पूज्यश्री मेरी परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हैं' तब वह उनके पैरों में गिर पड़ा और कहने लगा-मैंने आपकी

जैसी प्रशसा सुनी थी, आप वैसे ही शान्त हैं। वास्तव मे आप सच्चे फकीर है ।

व्याख्यान मे शान्त रहने का उपदेश देना तो सरल है, पर क्रोध के प्रसग पर शान्त रहना बडा ही कठिन है। किन्तु महान् तो वही है जो क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी शान्त रह सकता है।

कहा जा सकता है कि कोई गालियाँ दे तो क्या चुपचाप सहनकर लेना चाहिए ? पर महापुरुष तो गालियों को गालियाँ ही नहीं मानते। वे उन गालियों मे से भी अपने लिए सार तत्त्व खींच लेते हैं। कोई उन्हें दुष्ट कहे तो वे यही विचार करते है कि यह मुझे बोध दे रहा है। ससार मे जो वस्तु दुष्ट गिनी जाती है। उसी के लिए यह मुझे दुष्ट कह रहा है। अतएव मुझे तो यही देखना चाहिये कि मुझमे कहीं दुष्टता तो नहीं आ गई है ? अगर मुझमें दुष्टता घुस गई है तो बिना विलंब उसे दूर कर देना उचित है। अगर अपने मे दुष्टता नहीं है तो हँसता रहे और विचार करे कि यह किसी दूसरे को दुष्ट कहता होगा। अगर यह मुझे ही दुष्ट कहता है तो इसका अज्ञान है। इसने मेरी आत्मा को पहचाना नहीं है। मेरे जैसा कोई दूसरा दुष्ट होगा, इसी कारण यह मुझे दुष्ट कह रहा है। परन्तु जब मुझमे दुष्टता ही नहीं है तो फिर मुझे नाराज होने की क्या आवश्यकता है ?

आपने सफेद पगड़ी पहनी हो और कोई आपको काली पगड़ी वाला कहे तो आप उस पर नाराज होंगे ? उस समय आप यही

सोचेंगे कि मैने काली पगडी नहीं पहनी है, अतएव यह किसी और से कहता होगा। ऐसा विचार करने से क्या क्रोध आ सकता है ? नहीं। यदि आप यह सोचें कि मैंने सफेद पगड़ी पहनी है, फिर भी यह मुझे काली पगड़ी वाला क्यों कहता है ? और ऐसा सोचकर आप उस पर क्रोध करें तो यह आपकी भूल है। क्योंकि आपको अपनी पगडी पर तो विश्वास नहीं।

अगर क्रोधी के प्रति प्रेम करने के सिद्धान्त को लोग जीवन में उतारें तो ससार मे शान्ति स्थापित हो और किसी प्रकार की अशान्ति न रहे। सासू-बहू और पिता-पुत्र के बीच लडाई होने का कारण यही भावना है कि मै ऐसा नहीं, फिर मुझे ऐसा क्यों कह दिया ? इसके बदले अगर यह भावना आजाय कि—जब मैं ऐसा नहीं हूँ तो मुझे नाराज होने की आवश्यकता ही क्या है ? तो अशान्ति का कारण ही न रह जाय।

आप निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा करने वाले है, अतएव आपको शान्ति का यह गुण अवश्य अपनाना चाहिए। सच तो यह है कि ससार मे कोई किसी का अपमान नहीं कर सकता। अपनी आत्मा ही अपना अपमान करती है।

कहने का आशय यह है कि जो क्रोध के प्रसग पर भी प्रशान्त रह सकता है और क्रोधी पुरुप को भी प्रेम वर्षा से नहलाता है, ऐसा समचित्त वाला ही महान् कहलाता है। महान् पुरुष कदापि जड़ के वशीभूत नहीं होते। वे यही सोचते है—

जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल,
कदा पुग्गलाधार नही तास रगी।

पर तणो ईश नहीं अपर ए ऐश्वर्यता,
वस्तुधर्मे कदा न परसंगी ॥
—श्रीदेवचंद चौबीसी

परमात्मा के साथ जिनकी लगन लगी है, वे यही विचार करते हैं कि मै पुद्गल नहीं हूँ, मैं पुद्गल का मालिक भी रहना नहीं चाहता तो फिर उसका गुलाम बन कर कैसे रह सकता हूं ?

आज लोगों को जो दुख है वह पुद्गल के प्रसङ्ग से ही है। लोग पुद्गल के गुलाम बन रहे हैं। अगर वे थोड़ा धैर्य धारण करें तो पुद्गल उनके गुलाम बन जाएँ। मगर लोगों मे इतना धैर्य कहाँ है ? अतएव जितने भी दु ख हैं वे सब उनके अज्ञान के ही फल हैं। कहा है—

कहे एक सखी सयानी सुन री सुबुद्धि रानी,
तेरो पति दुखी लाग्यो और यार है।
महा अपराधी छाहि माहि एक नर सोई,
दु.ख देत लाल दीसे नाना परकार है।
कहे आली सुमति कहा दोष पुद्गल को,
आपनी ही भूल लाल होता आपा वार है।
खोटो नाणो आपको सराफ कहा लागे वीर,
काहू को न दोष मेरो भौंदू भरतार है॥
—श्री समयसार नाटक

इस प्रकार सारा दोप आत्मा का अपना है। इसमे पुद्गल का क्या दोष है ? महान् पुरुष इस मर्म को भलीभांति समझते हैं। अतएव वे इस दोष से बचे रहते हैं।

४–अनुबन्धचतुष्टय

शास्त्र के प्रारंभ में प्रवृत्ति, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकार, इन चार बातों का विचार किया जाता है। यही चार चीजें अनुबन्ध-चतुष्टय के नाम से प्रसिद्ध हैं।

किसी भी कार्य मे प्रवृत्ति करने से पहले विचार किया जाता है। जैसे किसी नगर मे प्रवेश करना हो तो सर्वप्रथम उसके द्वार की खोज करनी पड़ती है। द्वार का पता न हो तो नगर मे किस प्रकार प्रवेश किया जा सकता है? अतएव प्रवृत्ति के विषय मे विचार पहले करना पडता है। इसी विचार को अनुबन्धचतुष्टय कहते हैं। अनुबन्धचतुष्टय मे कही चार बातों का ध्यान रखने से सुखपूर्वक प्रवृत्ति हो सकती है और इसी अनुबन्धचतुष्टय से शास्त्र की परीक्षा हो सकती है। जैसे लाखों मन अनाज और हजारों गज कपडे की परीक्षा उसके नमूने मात्र से हो जाती है। शास्त्र मे जो कुछ कहा गया है, उसका सार पहली गाथा मे बता दिया जाता है, जिससे पता लग जाय कि इस शास्त्र में क्या है?

अनुबधचतुष्टय द्वारा शास्त्र का मूल उद्देश्य जाना जा सकता है। उद्देश्य के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। जब आप घर से बाहर निकलते हैं तो कुछ न कुछ उद्देश्य निश्चित करके ही निकलते हैं। उद्देश्य सब का अलग अलग हो सकता है, परन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। दूध का इच्छुक दूध की दुकान की ओर जाता है और शाक-पात खरीदने की इच्छा रखने वाला शाक बाजार की तरफ जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्ति करता है। अतएव यह पहले ही बतला दिया जाता है कि शास्त्र का उद्देश्य क्या है ? और उसका विषय क्या है ? और शास्त्र का अधिकारी कौन है ? फिर शास्त्र के संबंध का भी उल्लेख कर दिया जाता है कि शास्त्र में कथित वस्तु का वक्ता और श्रोता के साथ क्या सम्बन्ध है ?

इन चार बातों से शास्त्र की परीक्षा हो जाती है। इस महा-निर्ग्रंथीय अध्ययन मे यह चारों बातें हैं, यह इसके नाम से ही स्पष्ट प्रतीत होता है। इन चारों बातों का इस अध्ययन मे किस प्रकार समावेश किया गया है, यह बात यथावसर अपनी बुद्धि के अनुसार आगे बतलाई जाएगी।

अध्ययन का विषय

महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन का विषय क्या है, यह बात तो इसके नाम से ही प्रकट है। इस अध्ययन मे महान् निर्ग्रन्थ के विषय मे चर्चा की जाएगी। इस अध्ययन की पहली गाथा मे स्पष्ट कहा गया है कि 'मैं धर्म रूप अर्थ मे गति कराने वाले तत्व की शिक्षा देता हूँ' इससे भी यह प्रकट हो जाता है कि इस अध्ययन मे सांसारिक बातों के विषय मे नहीं, वरन् धार्मिक तत्त्वों के विषय मे चर्चा की जाएगी।

यहां यह विचारणीय है कि धार्मिक तत्त्वों की चर्चा से ससार को क्या लाभ पहुँचेगा? ससार मे मलिन विचारों का वातावरण फैल जाने के कारण धार्मिक विचारों का उपदेश और प्रभाव कम हो रहा है। गदे कपड़ों पर रग नहीं चढता। रग चढाने के लिए कपडों को साफ करना ही पडता है। इसी प्रकार जब तक हृदय मलिन है, तब तक उस पर धर्मोपदेश का रग नहीं चढ सकता। परन्तु मुझे विश्वास है कि तुम्हारे सब कपडे मैले नहीं है अर्थात् तुम्हारा हृदय एकदम मलिन नहीं है। ऐसा होता तो तुम यहाँ उपदेश सुनने के लिए आते ही क्यों? फिर भी यह निश्चित है कि जब तक हृदय में थोडी-बहुत भी मलिनता होती है, तब तक धर्म का रंग बराबर नहीं चढ़ता।

शास्त्रकारों का कथन है कि धर्मस्थान में जाने के लिए घर मे से निकलते समय 'निस्सही' कहना, धर्मस्थान मे प्रवेश करते समय

निस्सही कहना और फिर गुरु के पास जाते हुए भी निस्सही कहना। इस प्रकार तीन बार 'निस्सही' क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि घर से निकलते समय 'निस्सही' कहने का प्रयोजन सब सासारिक कामों का निषेध करके धर्मस्थानक मे जाना है। क्योंकि जो सांसारिक कामों को छोड़कर धर्मस्थान मे जाता है, वही धर्म-क्रिया का पूरा-पूरा लाभ उठा सकता है। और जो सासारिक प्रपचों को साथ लेकर जाता है वह धर्मस्थान मे भी प्रपच ही करता है। वह धर्म का क्या लाभ ले सकता है ? धर्मस्थानक मे पहुंचने पर 'निस्सही' कहने का अभिप्राय यह है कि घर से तो गाड़ी-घोड़ा आदि लेकर निकलता है, पर धर्मस्थान मे तो गाडी-घोडा चल नहीं सकता। अतएव गाडी-घोडा आदि का निषेध करने के लिए उस समय दोबारा 'निस्सही' बोला जाता है।

धर्मस्थान मे किस प्रकार प्रवेश करना चाहिए, इस संबध मे शास्त्र मे ऐसा वर्णन मिलता है कि भगवान् या किसी महात्मा के दर्शन करने के लिए कोई जाता है तो वह पॉच अभिगमन करके प्रवेश करता है। (१) सचित्त द्रव्य का त्याग करना (२) अस्त्रशस्त्र आदि अनुचित्त अचित्त द्रव्य साथ न ले जाना और वस्त्रों का सकोच करना (३) उत्तरासन करना (४) साधु को दृष्टि पडते ही हाथ जोडना और (५) मन को एकाग्र करना, यह पॉच अभिगमन हैं।

धर्मस्थान मे साधु के पास जाकर फिर 'निस्सही' कहने का आशय यह है कि 'मैं समस्त प्रपचों का त्याग करता हूँ।'

इस प्रकार मन को एकाग्र करके और सांसारिक प्रपंचों का त्याग करके धर्मोपदेश सुना जाय या धर्मक्रिया की जाय तो वह लाभदायक सिद्ध होती है। चार अभिगमन करके भी यदि मन को एकाग्र न किया जाय तो आत्म लाभ नहीं होता। अतएव यदि धर्मसिद्धान्त को जानने को रुचि हो तो मन को स्वच्छ करके धर्मोपदेश सुनना चाहिए।

अपने मन रूपी कपडे का मैल उतारने का भार मुझ पर मत डालो। धोबी का काम धोबी करता है और रंगने का काम रंगरेज करता है मैं तुम्हारे ऊपर सिद्धान्त रूपी धर्म-रंग चढाना चाहता हूं और वह तभी चढ़ सकता है जब तुम्हारा मन रूपी कपडा साफ हो।

इस अध्ययन का विषय क्या है, यह बतलाया जा चुका। अब इसका प्रयोजन देखना है। इस अध्ययन का प्रयोजन धर्म मे गति करना है, अर्थात् साधु जीवन की शिक्षा देना है।

कहा जा सकता है कि साधु जीवन की शिक्षा की साधुओं को आवश्यकता है। हम गृहस्थों को इस शिक्षा की क्या आवश्यकता है? तुम गृहस्थाश्रम मे हो और साधु साधु-आश्रम मे है। अपने अपने आश्रम मे अपने-अपने आश्रम के अनुरूप ही सब क्रियाएँ की जाती हैं। पर गृहस्थ होने का यह अर्थ नहीं कि वह धर्म का पालन ही नहीं कर सकता। अगर गृहस्थ धर्म का पालन न कर सकता होता तो भगवान् 'जगद्गुरु' न कहलाते, क्योंकि जगत् मे गृहस्थों का भी समावेश होता है। अत गृहस्थ भी धर्म का पालन कर सकते हैं। श्रेणिक जैसा राजा साधु जीवन को अंगीकार न कर सकने पर

भी धर्मशिक्षा को सुनकर, गृहस्थ होते हुए भी तीर्थंकरगोत्र को उपार्जन कर सका तो फिर तुम्हें उस शिक्षा की आवश्यकता क्यों नहीं है ? अतएव गृहस्थों के लिए भी इस शिक्षा का प्रयोजन है।

अब यह देखना चाहिए कि इस अध्ययन का अधिकारी कौन है ? सूर्य सभी का है और सभी उससे प्रकाश पाने के अधिकारी हैं, किसी को सूर्य का प्रकाश पाने की मनाई नहीं है; फिर भी प्रकाश वही पा सकता है जिसके आँखें है। जिनके आँखें ही नहीं है अथवा जिनकी आँखों मे उलूक की भांति विकृति आ गई है, उनके सिवाय सभी सूर्य के प्रकाश से लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार जिसके हृदय के नेत्र खुले हैं, वह सब इस शिक्षा से लाभ उठा मकते हैं। यह शिक्षा हृदय चक्षु के आवरण को भी दूर करती है, मगर आवरण को दूर करने की इच्छा होनी चाहिए। इस प्रकार जो इस शिक्षा से लाभ उठाना चाहते हैं, वे सब इसके अधिकारी हैं।

अब इस अध्ययन के सबध पर विचार करना चाहिए । सबंध दो प्रकार का होता है—एक उपायोपेय सबध और दूसरा गुरुशिष्य-सबध। गुरुशिष्यसबध मे यह देखना है कि यह अध्ययन किसने कहा है और किसने सुना है ? धर्मोपदेशक गुरु कैसा होना चाहिए, इस विषय मे शास्त्र मे कहा है—

आयगुत्ते सया ,दन्ते, छिन्नसोए अणासवे ।
ते धम्म सुद्धमाक्खति, पडिपुण्णं मणेलिसं ।।

अर्थात्–धर्म का उपदेशक वही है जो आत्मा का दमन करता हो और आत्म-गोपन करता हो। जो इन्द्रियों को सयम की ढाल में कछुए की तरह छिपा रखता हो, वही धर्म का उपदेशक है।

इन्द्रियों को दमन करने का अर्थ इन्द्रियों का नाश करना नहीं है। किन्तु जैसे लगाम पकड़ कर घोडे को स्वच्छन्द भाव से दौडने नही दिया जाता, उसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों की तरफ न जाने देना ही इन्द्रियों का दमन है।

इसके अतिरिक्त धर्मोपदेशक आत्मसयमी, गुप्तेन्द्रिय और हिंसा असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होता है। वह समस्त स्त्रियों को माता-बहिन के समान गिनता है, धर्मोपकरण के सिवाय कोई परिग्रह नहीं रखता। इस प्रकार कचन कामिनी का त्याग करके जो आस्रवरहित होता है, वही धर्मोपदेशक अनुपम धर्म को शुद्ध और परिपूर्ण रीति से कह सकता है।

स्थविरों या गणधरों ने यह धर्म कहा है, यह गुरुशिष्यसबध है, परन्तु उपायोपेय सबध क्या है, इस विषय मे पहले विचार करलें। रोग को दूर करना उपेय है और औषध लेना उपाय है। इस प्रकार इस अध्ययन मे उपायोपेय सबंध क्या है? मोक्ष प्राप्त करना उपेय है और इस अध्ययन द्वारा ज्ञान प्राप्त करना उसका उपाय है। यही इस अध्ययन का उपायोपेय सबंध है।

ससार मे उपाय को पा लेना ही कठिन है। जब उपाय हाथ आ जाता है तो रोग भी चला जाता है। डाक्टर आता है और रोगनाशक दवा देता है तो रोग भी चला जाता है। इस प्रकार

कोई उपाय मिल जाता है तो काम पार पड़ जाता है। किसी बहिन के पास रोटी बनाने के साधन ही न हों तो वह रोटी कैसे बना सकती है ? अगर सब साधन मौजूद हों तो रोटी बनाने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती।

मान लीजिए किसी को सब साधन और उपाय मिल गए, फिर भी वह अगर उद्योग न करे तो उसका कार्य सिद्ध होगा ? अतएव आप विचार कीजिए कि आपको क्या करना है ? इस प्रश्न का उत्तर यही मिलेगा कि गफलत की नींद छोड़कर जागृत होना और प्राप्त साधनों का उपयोग करना। आपको आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल और दुर्लभ मनुष्य जन्म मिला है। यह क्या कम साधन है ? फिर सिद्धान्ततत्त्व को समझने योग्य उम्र भी मिली है। तो इस उम्र मे मिले साधनों का जितना उपयोग हो सकता हो, उतना कर लेना चाहिए। बालवय मे सिद्धान्ततत्त्व को समझ सकने योग्य बुद्धि का विकास नहीं होता और वृद्धावस्था मे शक्ति क्षीण हो जाती है। अतएव ज्ञानी कहते है—ऐ गाफिल मुसाफिरो। निद्रा का त्याग करके जागो कहाँ तक सोते रहोगे ? जैसे माता अपने पुत्र से कहती है—'सूर्य चढ़ गया है, बेटा, जागो, कब तक सोते रहोगे ?' इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सोने वालों को जगाते हुए कहते हैं—

मा सुवह जग्गियव्वं,
पलाइयव्वम्मि किस्स वीसमेह ।
तिन्नि जणा अणुलग्गा,
रोगो जरा य मच्चू य ॥

—वैराग्यशतक

हे जीवात्माओं! रोग, जरा और मरण, यह तीन जन तुम्हारे पीछे लगे हैं। तुम अब तक गफलत में क्यों पडे हो? जागो, सोते मत रहो।

यह बात बहुत विचारणीय है। अतएव एक कथानक द्वारा, सरल करके समझाई जाती है'—

एक बार दो मित्र जङ्गल मे जा रहे थे। रास्ते में एक मित्र थक गया और थकावट मिटाने का आश्रय भी उसे मिल गया। उसने देखा—जङ्गल से खूब घटादार सुन्दर वृक्ष है। कल-कल करती सरिता भी प्रवाहित हो रही है। शीतल मन्द समीर भी वह रहा है और सोने के लिए शिला भी बिछी है। यह सब देख कर वह थका मित्र विश्राम करने के लिए ललचाया और विचारने लगा—यहाँ खाने को सुन्दर फल है, सूंघने को सुगन्धित फूल हैं, पीने के लिए नदी का मीठा पानी है, जलवायु उत्तम है और वातावरण भी शान्त है। अतएव यह स्थान खाने, पीने और सोने के लिए अनुकूल है। ऐसा सोच कर वह विश्राम करने के लिए बैठ गया। परन्तु दूसरा मित्र प्रकृति का ज्ञानी था। वह जानता था कि यहाँ के जल-वायु और फल-फूल आदि किस प्रकार के हैं। अतएव उसने अपने थके मित्र से कहा—भाई, यहाँ विश्राम लेना योग्य नहीं, क्योंकि यह स्थल उपद्रवमय है। यहाँ क्षण भर भी विश्राम लेना लाभप्रद नहीं है। अतएव हमे जल्दी ही आगे बढ़ना चाहिए, क्योंकि हमारे जीव के तीन शत्रु हमारे पीछे पडे हैं। इन सुन्दर फल-फूलों पर तुम ललचाये हो, परन्तु यह जहरीले हैं और इसी कारण

यहाँ की हवा भी जहरीली हो गई है। यह सुन्दर दिखलाई देने वाले फल-फूल थोड़ी ही देर मे तुम्हें बेभान कर देंगे। फिर तुम चल भी नहीं सकोगे। यह कलकल-निनाद करके बहने वाली नदी भी यही शिक्षा देती है कि जैसे मेरा पानी बहता जा रहा है, उसी प्रकार तुम्हारी आयु भी चली जा रही है। अतएव भाई, यहाँ विश्राम न लेकर आगे चलो।

क्या सोवे उठ जाग बाउ रे,
अञ्जलि जल ज्यों आयु घटत है,
देत पहरिया घरिय घाऊ रे ॥ क्या० ॥
इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र मुनीन्द्र चले,
कौन राजापति साह राऊ रे ॥
भमत भमत भव-जलधि पाप के,
भगवन्त भक्ति सुभाउ नाउ रे॥ क्या० ॥
क्या विलम्ब करे अब बाउ रे,
तर भव-जलनिधि पार पाउ रे॥
आनन्दघन चेतनमय मूरति,
शुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे ॥ क्या० ॥

शास्त्रकारों, ग्रन्थकारों, कवियों और महात्माओं का यही कहना है कि हे जीवात्माओं। क्यों सोते हो ? उठो, जागो।

आप कहेंगे—क्या हमे साधु बनाना है। परन्तु साधुता क्या बुरी वस्तु है ? अगर बुरी होती तो आप साधु का उपदेश ही क्यों सुनते ? साधुता तो विशिष्ट शक्ति होने पर ही धारण की जा सकती

है, परन्तु आपको जो साधन मिले हैं, उनका सदुपयोग करो और नींद मे मत पडे रहो। जो लोग साधु नहीं बन सकते, उनके लिए ज्ञानी जन कहते हैं —

भगवन्त भक्ति सुभाउ नाउ रे।

अर्थात्—तुम्हे भगवद्‌भक्ति की नौका मिली है तो उसमे क्यों नहीं बैठते ?

दूसरा मित्र उस थके मित्र से कहता है—तुम पास मे खडी इस नौका में बैठ जाओ। तुम्हें चलना ही नहीं पडेगा। मैं नौका खेऊगा और नदी के पानी की सहायता से उसे नदी के किनारे ले जाऊगा।

अब थके मित्र को चलना भी नहीं है, फिर भी अगर वह नौका मे नहीं बैठता और चेतावनी देने पर भी वहीं सोता रहता है तो उस जैसा अभागा और कौन होगा ? इसी प्रकार आपके सामने भगवान् की भक्ति रूपी नौका खडी है। अगर आपसे और कुछ नहीं बन सकता तो इस नौका मे बैठ जाओ। पर निद्रा मे मत पडे रहो।

साधु का स्थान उत्तम है, परन्तु वहाँ जाकर भी चित्त में दुर्विचार आते रहे तो यह कितनी बुरी बात होगी ? कदाचित् जितनी देर साधु के पास रहे उतनी देर अच्छे विचार रहे और बाहर जाते ही अच्छे विचारों को ताक मे रख दिया तो इससे क्या लाभ ? तुम कहोगे कि यह हमारी अपूर्णता है, पर मैं कहता हूँ कि यह मेरी ही अपूर्णता है, क्योंकि तुम मेरी कही बात को भूल

जाते हो। मैं अपनी अपूर्णता को दूर करने का प्रयत्न करूँगा, परन्तु मैं तो निमित्त मात्र हूँ, उपादान कारण तो तुम स्वय ही हो। अगर उपादान कारण उत्तम होगा तो निमित्त कारण से लाभ पहुच सकेगा। अगर उपादान उत्तम न हुआ तो निमित्त कारण से कोई लाभ नहीं हो सकता। निमित्त के साथ उपादान का शुद्ध होना आवश्यक है। घड़ी मे जब तक चावी देते रहे तब तक वह चलती रहे और ज्यों ही चाबी देना बद किया कि घड़ी बंद हो जाय तो उस घड़ी को आप कैसी समझेंगे? आप उसे बिगड़ी घड़ी कहेंगे। इसी प्रकार जब तक मैं तुम्हें उपदेश की चाबी देता रहूँ, तब तक तुम 'तहत' कहते रहो और बाद मे उपदेश को भूल जाओ, क्या यह ठीक है? तुम्हारे पास भगद्भक्ति की नौका खड़ी है। तुम उसमे बैठ जाओ तो तुम्हारा बेड़ा पार हो जाय। तुलसीदासजी ने ठीक कहा है—

जग नभ वाटिका रही है फूलि फूलि रे।
धुआ कैस धौरहर देखि तू न भूलि रे॥

यह ससार की वाटिका, आकाश मे बिखरे तारों की तरह फूली फली है, परन्तु यह स्थायी नहीं है। अतएव ससार की भूलभुलैया मे न पडकर परमात्मभजन की नौका मे बैठ कर ससार-समुद्र के पार पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि भगवान् की भक्ति करने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि भगवद्भक्ति न करनेवाले सुखी और भक्ति करने वाले दुखी देखे जाते हैं। बहुत बार ऐसा उलटा क्रम देखा

जाता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कितने ही लोग प्रकट रूप मे भगवान् की भक्ति नही करते, किन्तु उनके नियमोपनियमों का पालन करते है। और कितने ही लोग ऐसे भी है जो प्रकट रूप मे—दिखावटी तौर पर परमात्मा का नाम तो लेते है, परन्तु उनके बताये नियमों का पालन नही करते। जो प्रकट रूप मे परमात्मा का नाम नहीं लेते, किन्तु उसके बताये नियमों का पालन करते हैं, वे कभी दुखी नहीं हो सकते। अतएव वे परमात्मा का नाम न लेने से सुखी हैं, ऐसा कहना उचित नहीं। वास्तव मे वे परमात्मा के बताये नियमों का पालन करने के कारण ही सुखी है। परमात्मा का नाम न लेने से वे सुखी है, यह कथन वैसा ही है जैसे किसी पहलवान को गाड़ी मे बैठा देखकर कोई कहने लगे कि गाडी मे बैठने से शरीर बलवान् बनता है। ऐसा कहने वाला इतना भी नहीं जानता कि गाड़ी मे बैठने से नहीं, किन्तु व्यायाम करने से शरीर बलवान् बना है।

वस्तुत. परमात्मा का नाम लेने का महत्त्व उनके बनाये नियमों का पालन करने मे है। शुद्ध मन से नियमों का पालन करना भगवान् का भजन करना ही है। मित्रो। तुम भी भगवद्भक्ति की नौका मे बैठ जाओ और भव-सागर के पार पहुँचो। भगवद्भक्ति के रग से हृदय को ऐसा रगो कि वह रग फिर उतर न सके।

ऐसा रग बना लो, दाग न लागे तेरे मन को।

मन को स्वच्छ बनाओ और उस पर भक्ति का रग चढ़ाओ, बस, यही इस अध्ययन का उद्देश्य है।

इस गाथा का सामान्य अर्थ ऊपर बतलाया जा चुका है, परन्तु व्याकरण की दृष्टि से इसका परमार्थ क्या है, यह विचारणीय है।

पहले बतलाया जा चुका है कि नमस्कार मत्र मे अरिहन्त सिद्ध आदि जो पाच पद है, उनमे एक सिद्ध है और चार साधक है। यह बात एक दृष्टि से ठीक ही है, पर टीकाकार का कथन है कि अरिहन्त की गणना भी सिद्ध मे की जाती है। इस दृष्टि-कोण से दो सिद्ध और तीन साधक है। अरिहन्त की गणना भी सिद्ध मे हो सकती है, इसके लिए टीकाकार प्रमाण उपस्थित करते हैं—

एव सिद्धा वदन्ति परमाणु ।

—अनुयोग द्वार

अर्थात्—सिद्ध परमाणु की व्याख्या करते हैं।

यह निर्विवाद है कि सिद्ध बोलते या व्याख्या करते नहीं है, किन्तु अरिहन्त ही व्याख्या करते है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि अरिहन्त की गणना भी सिद्ध मे की गई है। इस दृष्टि से अरिहन्त को भी सिद्ध मान कर नमस्कार किया गया है। आचार्य, उपाध्याय और साधु तो साधु-सयत है ही। अत उन्हे 'सयत' पद देकर नमस्कार किया गया है।

यहा दूसरा प्रश्न खड़ा होता है। वह यह कि जब अरिहन्त को नमस्कार किया गया तो फिर आचार्य, उपाध्याय और साधु को

नमस्कार करने का क्या प्रयोजन है ? जब राजा को नमस्कार किया गया हो तो परिषद् को नमस्कार करने की आवश्यकता ही क्या है ? अरिहन्त राजा के समान हैं और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु उनकी परिषद् है। उन्हे अलग नमस्कार करने की आवश्यकता क्यों समझी गई ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रत्येक कार्य दो प्रकार से होता है—एक पुरुषप्रयत्न से और दूसरे महापुरुषों की सहायता से। इन दोनों कारणों के सहयोग से ही कार्य की सिद्धि होती है। यद्यपि महापुरुषों की सहायता अपेक्षित होती है, फिर भी प्रधान तो निज पुरुषार्थ ही है। अपना पुरुषार्थ हो तो ही महान् पुरुषों की सहायता भी मिल सकती है और तभी कार्य सिद्ध हो सकता है। कहावत है--

हिम्मते मर्दां मददे खुदा।

अरिहन्त को नमस्कार करके भी आचार्य आदि को नमस्कार करने का कारण यह है इष्ट कार्य की सिद्धि मे उनकी सहायता की भी आवश्यकता होती है। यद्यपि लिखने का कार्य अपने हाथ से करना पडता है, किन्तु सूर्य और दीपक की सहायता के बिना लिखा नहीं जा सकता, क्योंकि प्रकाश की भी सहायता लेनी पड़ती है। मनुष्य अपने पैरों से चलता है, परन्तु प्रकाश न हो तो गड्हे मे गिर सकता है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ के साथ महापुरुषों की सहायता की भी आवश्यकता है।

कहने का आशय यह है कि सिद्ध सिद्ध हैं और आचार्य आदि

साधक हैं। इसमें दोनों की सहायता की अपेक्षा है। अतएव यहां दोनों को ही नमस्कार किया गया है।

प्रस्तुत गाथा मे एक सिद्धान्त-तत्त्व का निरूपण किया गया है। कहा गया है कि 'सिद्ध और संयत को नमस्कार करके तत्त्व की शिक्षा दूँगा।' इस वाक्य में दो क्रियाएँ हैं। पहली क्रिया त्वा प्रत्ययान्त क्रिया है। इस क्रिया का प्रयोग अपूर्ण काम के लिए होता है। जैसे कोई कहे-'मैं इस कार्य को करके उस कार्य को करूँगा, तो यहाँ दो क्रियाएँ है, उसी प्रकार 'मैं सिद्ध और संयत को नमस्कार करके तत्त्व की शिक्षा दूँगा' इस वाक्य मे भी दो क्रियाएँ हैं। इन दोनों क्रियाओं का संबंध जोड़कर एक परमार्थ की सूचना दी गई है। जैसे सूर्य को अन्धकार के प्रति द्वेष नहीं है, अन्धकार का नाश करने के लिए ही उसका उदय नहीं हुआ है, फिर भी सूर्योदय मे अन्धकार का नाश हो ही जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी को अज्ञानी या अज्ञान के प्रति द्वेष नहीं होता, परन्तु सत्य तत्त्व का प्रतिपादन करने से अज्ञान का खण्डन हो ही जाता है। अर्थात् ज्ञानी जनों के ज्ञान प्रकाश से अज्ञान का नाश हो ही जाता है।

इस गाथा में प्रयुक्त की गई दो क्रियाओं के विषय में भी यही बात है।

बौद्धों का कथन है कि आत्मा का निरन्वय नाश हो जाता है, पर ज्ञानियों का कथन है कि ऐसी बात नहीं है। आत्मा का निरन्वय नाश नहीं सान्वय नाश होता है। आत्मा पर्याय से नष्ट होती है, द्रव्य से नहीं। जैसे मिट्टी की मिट्टी पर्याय नष्ट हो

जाती है और वह घट पर्याय से परिणत हो जाती है, तथापि मिट्टी का सर्वथा नाश नहीं होता अगर मिट्टी का सर्वथा द्रव्य से भी नाश हो जाय तो उससे घट किस प्रकार बन सकता है ? इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु, जिसमे आत्मा भी सम्मिलित है, पर्याय से नष्ट होती है, द्रव्य से नहीं। यह ज्ञानियों का कथन है। परन्तु बौद्धों का कथन है कि आत्मा का क्षण-क्षण मे निरन्वय नाश होता है। ऐसा होता अर्थात् द्रव्य का भी नाश होता तो फिर पर्याय किसकी होती ?

इस गाथा से बौद्धों के इस कथन का खण्डन हो जाता है। टीकाकार कहते हैं कि इस गाथा मे दो क्रियाएँ है। अगर आत्मा का निरन्वय नाश माना जाय तो गाथा मे प्रयुक्त दोनों क्रियाएँ व्यर्थ हो जाए, क्योंकि सिद्ध और सयत को नमस्कार करने वाला आत्मा उसी समय नष्ट हो जाता है तो यह क्रिया व्यर्थ हुई। और दूसरी क्रिया की व्यर्थता तो स्पष्ट ही है, जब शिक्षा देने के लिए नमस्कार करने वाला ही कोई न रहा तो 'मैं शिक्षा दूँगा' इस तरह कहने वाला आत्मा ही कहा रहा ? परन्तु बौद्धों की मान्यता सत्य नहीं है-आत्मा का निरन्वय नाश नहीं होता, अतएव दोनों क्रियाएँ सार्थक हैं।

आत्मा का निरन्वय नाश मानने मे अनेक दोष आते हैं। निरन्वय नाश की मान्यता युक्तियों द्वारा स्थिर भी नहीं रह सकती। इस तात्त्विक बात को उदाहरण द्वारा सरल करके समझाता हूँ :--

एक आदमी ने दूसरे पर न्यायालय में दावा किया कि प्रतिपक्षी पर मेरी इतनी रकम बकाया है, मुझे दिलाई जाय। प्रतिपक्षी ने

न्यायाधीश से कहा—यह दावा झूठा है, क्योंकि रुपया देने वाला और लेने वाला कोई रहा ही नहीं है। वह तो उसी समय नष्ट हो गए। न्यायाधीश ने सोचा—यह मनुष्य चालाकी करता है और सिद्धान्त का बहाना करके बचना चाहता है। यह सोचकर न्यायाधीश ने उससे कहा—मैं तुम्हें कैद की सजा देता हूं। यह सुनकर वह मनुष्य रोने लगा और कहने लगा—मै रुपये देने को तैयार हूं, मुझे कैद की सजा न दी जाय।

न्यायाधीश ने कहा—तुम रोते क्यों हो? तुम्हारे कथानुसार तो आत्मा क्षण-क्षण में नष्ट होकर नवीन उत्पन्न होती है, फिर दुःख काहे का?

उस मनुष्य ने कहा—मैं शेष रुपये भर देता हूं मुझे छोड़ दीजिए। इस प्रकार वह अपने सिद्धान्त पर स्थिर न रह सका।

कहने का आशय यह है कि जब आपको भावी पर्याय का अनुभव होता है तो भूत पर्याय का अनुभव क्यों न हो? भूत पर्याय का अनुभव न माना जाय तो सब क्रियाएँ निरर्थक हो जाएँगी और कभी मोक्ष नहीं मिल सकेगा। क्योंकि आत्मा के नष्ट होने के साथ ही क्रिया भी नष्ट हो जाएगी तो न पुण्य-पाप रहेंगे, न मोक्ष ही रहेगा। अतएव आत्मा का निरन्वय नाश मानना योग्य नहीं है। टीकाकार ने इस गाथा का यह मर्म प्रकट किया है।

इस अध्ययन में एक महापुरुष का अधिकार है। इस अधिकार को कहने वाले और सुनने वाले दोनों महापुरुष थे। वक्ता महा-निर्ग्रन्थ हैं और श्रोता राजाओं में प्रधान राजा है। इन महापुरुषों के बीच हुआ विचारविनिमय हमारे लिए कितना लाभप्रद है, यह सोचा जा सकता है। इस अध्ययन के श्रोता का परिचय देते हुए कहा है —

पभूयरयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो।

विहारजत्तं निज्जाओ, मंडिकुच्छिंसि चेइए॥ २॥

अर्थ — विपुल सम्यक रत्नों का स्वामी और मगध का अधिपति राजा श्रेणिक विहार यात्रा के लिए निकला और मंडिकुत्त नामक बगीचे में आया।

यहाँ सर्व प्रथम यह देखना है कि रत्न का अर्थ क्या है? आप लोग हीरा, माणिक आदि को ही रत्न मानते हैं, परन्तु यही रत्न नहीं हैं। और भी रत्न हैं। मनुष्यों में भी रत्न होते हैं, हाथियों में भी रत्न होते हैं, घोड़ों में भी रत्न होते हैं और स्त्रियों आदि में भी रत्न होते हैं। इस प्रकार रत्न का अर्थ बहुत व्यापक है। रत्न का व्यापक अर्थ होता है – श्रेष्ठ। जो श्रेष्ठ होता है वह रत्न कहलाता है। राजा श्रेणिक के पास ऐसे अनेक रत्न थे, यह कह कर संक्षेप में ही उसकी सम्पत्ति का वर्णन कर दिया है।

शास्त्रकार को यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि श्रेणिक बहुत रत्नों का स्वामी था? यह प्रश्न यहाँ विचारणीय है। कितने ही

रत्न क्यों न हों, यदि आत्मा को नहीं पहचाना तो वह सब व्यर्थ हैं। क्योंकि और सब रत्नों की प्राप्ति सुलभ है, परन्तु धर्म रूपी रत्न की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। धर्म-रत्न मिल जाय तो अन्य रत्न गिनती में आ सकते हैं, अन्यथा वे किसी काम के नहीं हैं। यह बतलाना शास्त्रकार को अभीष्ट है।

आपको बडी से बड़ी सम्पत्ति मनुष्य जन्म की मिली है, परन्तु आप उसकी कीमत नहीं समझते। अगर आपने इसकी कीमत समझी होती तो आप सोचते—मुझे यह बहुमूल्य रत्न मिला है। मैं कंकरों के बदले इस रत्न को गॅवा देने की मूर्खता कैसे करूँ? अगर तुम मनुष्यत्व-रत्न की कीमत समझते हो तो एक भी क्षण व्यर्थ न जाने देकर परमात्मा की भक्ति में समय का सदुपयोग करो। ऐसा करने से तुम्हारी आत्मा दिव्य और ईश्वरीय बनेगी और तुम्हारा मनुष्य जन्म मूल्यवान् बन जायगा।

आप कहेंगे आत्मा को परमात्ममय किस प्रकार बनाया जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—काल्पनिक और वास्तविक। जो वास्तविक नहीं है उसे वास्तविक समझ लेना अज्ञान है। अज्ञान जनित कल्पना ही आपको कठिनाई में डाल रही है। काल्पनिक पदार्थ और वास्तविक पदार्थ दोनों जुदा-जुदा हैं। जब तक वास्तविक पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता तब तक अज्ञान नहीं मिट सकता, यथा—एक बार सीप में चांदी की कल्पना की, किन्तु जब सीप के पास जाकर देखा और उसके सीप होने की खातिरी की, तभी समझ में आया कि यह चांदी नहीं, सीप है। इस प्रकार की कल्पना को त्यागो और परमात्मा के साथ एकतानता

स्थापित करो और यह जो कान, नाक और शरीर है, वह मैं नहीं हूँ, ऐसा विचार करो, तो आपको मिला हुआ मनुष्य जन्म रूपी रत्न सार्थक होगा।

जब आप सो जाते हैं तब आँख कान वगैरह इन्द्रियाँ अपना काम बन्द कर देती हैं, फिर भी स्वप्न-अवस्था में आत्मा सुनता है और देखता भी है। स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ सो जाती हैं और मन जागता रहता है। इन्द्रियाँ सुप्त होती हैं, फिर भी स्वप्न मे इन्द्रियों का काम चालू ही रहता है। इन्द्रियों की सुपुप्त दशा मे इन्द्रियों का काम कौन चलाता है ? इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह सब काम आत्मा ही कर रहा है।

आत्मा अनन्त शक्तिमान् है, किन्तु वह भ्रम मे पड़ गया है और शरीर आदि को अपना स्वरूप समझ बैठा है। आत्मा अभी कल्पना के भँवर मे फँसा है। अतएव कल्पना को त्याग कर आत्मा के वास्तविक तत्त्व को पहचानो और ससारिक पदार्थों का ममत्व त्यागो। विश्वास करो कि आत्मा में अनन्त शक्ति है। स्वप्नावस्था मे कान के सुषुप्त होने पर भी वह सुनता है और आँख बन्द होने पर भी देख सकता है। वहाँ इन्द्रियों के विषय नहीं है फिर भी कल्पना के बल पर आत्मा सब की सृष्टि कर लेता है। वह स्वप्नावस्था मे गंध, रस, स्पर्श आदि की कल्पना करके आनन्द भी मानता है। स्वप्न मे क्रोध भी करता है, लोभ भी करता है और सिंह आदि को देखकर भयभीत भी होता है। इस प्रकार आत्मा स्वप्न मे सुख भी मानता है और दुःख का भी अनुभव करता है।

स्वप्न की इन क्रियाओं से आत्मा की शक्तियों का अनुमान लगाया जा सकता है। यह भी समझा जा सकता है कि इन्द्रियों की सहायता के बिना भी काम चल सकता है। इस प्रकार आत्मा की अनन्त शक्तियों को जान कर परमात्मा की भक्ति मे उनका उपयोग करो। ऐसा करने से आपका मनुष्य-जन्म रूप रत्न सार्थक होगा।

प्रत्येक कार्य उद्देश्य के अनुसार ठीक रूप से करना होता है। ऐसा न किया जाय तो परिणाम उलटा आता है। यह बात एक उदाहरण से भली भाँति समझ मे आ सकेगी –

एक बार एक सावधान चोर ने साहस करके राजा के घर में प्रवेश किया। परन्तु उसके प्रवेश करते ही राजा जाग गया। राजा को जागा जान चोर भयभीत हुआ और 'मैं पकड़ा गया तो मारा जाऊँगा' यह सोच कर भागा। राजा ने चोर को देख लिया। उसने चोर का पीछा किया। अब चोर आगे - आगे और राजा पीछे - पीछे दौड़ रहे थे। राजा को दौड़ते देख सिपाही भी दौडे। चोर भागता - भागता थक गया था, फिर भी किसी प्रकार भागा जा रहा था वह जानता था कि अगर पकड़ मे आ गया तो जान से मारा जाऊँगा। सामने श्मशान था। चोर ने सोचा—बचने का एक ही उपाय है। अगर मैं श्मशान मे मुर्दे की तरह पड़ जाऊँ तो राजा मुझे मुर्दा समझ कर छोड़ देगा। बस, मुर्दा बनने का स्वांग रचना चाहिए।

ऐसा सोच कर चोर श्मशान मे पहुच कर नीचे गिर गया और मृतक की तरह अपनी नाड़ियों का संकोच करके ढल पड़ा। इतने

मे राजा और सिपाही वहाँ जा पहुँचे। उन्होंने चोर को पड़ा देखा। सिपाही कहने लगे — महाराज, देखिए तो सही, यह चोर आपके भय से ही गिर कर मर गया है। राजा ने कहा—मरा नहीं होगा, मृतक का ढोंग करके पड़ा होगा। अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करो।

सिपाही चोर को खूब झकझोरने लगे। परन्तु वह मुर्दे की तरह निश्चेष्ट ही पड़ा रहा।

आपत्ति भी मनुष्य को अपूर्व शिक्षा देती है और उन्नत बनाती है। राम पर वन मे जाने आदि की आपत्ति न पड़ी होती तो उनका कोई नाम भी न जानता। भगवान् महावीर ने भी अगर आपत्तियाँ सहन न की होतीं तो उनका कोई नाम न लेता, उन्हें कोई महावीर न कहता। सीता, चन्दनबाला, अजना, सुभद्रा आदि ने धैर्यपूर्वक आपत्तियों को सहन किया था, इसी कारण उनकी प्रशसा की जाती है। अतएव आपत्तियों से न घबरा कर उनका धीरज के साथ सामना करना चाहिए।

सिपाहियों ने चोर को खूब हिलाया - डुलाया, मगर वह हिला डुला नहीं। तब उन्होंने राजा से कहा—महाराज, यह चोर तो बिलकुल मर चुका है। राजा ने फिर कहा – बराबर देखो, ढोंग कर रहा होगा।

सिपाही चोर को मारने पीटने लगे। उसके शरीर से रुधिर की धारा बहने लगी। फिर भी चोर ने चूँ-चाँ तक न की। तब सिपाहियों ने उसे मरा हुआ समझ कर राजा से फिर कहा—महाराज यह तो सचमुच ही मर गया है। हमने खूब मरम्मत की है, यहाँ

तक कि रक्त बहने लगा है, फिर भी उसके मुँह से वेदना की चीस नहीं निकली ।

राजा ने कहा – वह मरा नहीं, जीवित है, क्योंकि मुर्दे के शरीर में से रक्त नहीं निकलता। वह ढोंग कर के पडा है । उसके कान मे धीरे से कहो–'राजा ने तेरे सब अपराध क्षमा कर दिये हैं।' यह कह कर उसे मेरे पास ले आओ।

सिपाहियों ने राजा की आज्ञा का पालन किया। चोर उठ बैठा और राजा के समक्ष उपस्थित हुआ। राजा चोर को देख कर सोचने लगा—यह मेरे डर से मुर्दा बन गया तो मुझे साक्षात् मौत के भय से क्या करना चाहिए ? फिर राजा ने उससे पूछा—तू इस प्रकार मुर्दा बन कर क्यों पड गया था ?

चोर – आपके भय से ।

राजा — इतनी सख्त मार पडी, फिर भी बोला क्यों नहीं ?

चोर — जब मैंने मुर्दा बनने का स्वाग रचा था तो कैसे बोल सकता था ?

राजा — तब तो तू बगुला भगत जान पडता है।

चोर — महाराज, मै बगुलाभगत नहीं हूँ। आपके भय से ही मैंने मुर्दा होने का स्वांग रचा था।

राजा — तू जैसे मेरे भय से धरती पर ढल पड़ा, उसी प्रकार अगर संसार के भय से डरे और पूरा-पूरा स्वाग रचे तो तेरा कल्याण हो जाय।

चोर — महाराज, मैं ऐसी बातों को नहीं जानता। ऐसा ज्ञान तो आपको है, मुझे नहीं।

चोर ने अपने उद्देश्य के अनुसार कार्य की सिद्धि के लिए मार खाई। आप भी अपने उद्देश्य की रक्षा करना सीखो। आप ऊपर से कहते हैं कि हमारे हृदय मे परमात्मा बसा है, परन्तु अन्दर यदि विकार रक्खो तो क्या परमात्मा हृदय में बस सकता है? अगर आपके मन मे परमात्मा का वास है और आप परमात्मा के सच्चे भक्त हो तो आपको अपने ध्येय पर दृढ रहना चाहिए। कहा भी है —

तू तो राम सुमर जग लड़वा दे ।
कोरा कागज काली स्याही, लिखत पढत वाको पढवा दे ।
हाथी चलत है अपनी चाल से कुतर भुकत वाको भुकवा दे ॥
—आश्रम भजनावली

आप कहेंगे की अब राम कहाँ हैं? वह तो दशरथ के पुत्र थे और उन्हें हुए हजारों-लाखों वर्ष हो गए। उनका कैसे स्मरण किया जाय? परन्तु ज्ञानियों का कहना है कि राम आपके हृदय मे ही विद्यमान हैं।

रमन्ते योगिनो यस्मिन्-इति राम'।

जिसमे योगी जन रमण करते हैं, वही राम है। और कोई नहीं, आपका आत्मा ही राम है। इसी आत्माराम का स्मरण करो, परन्तु यह भी विचार कर लो कि उसका स्मरण किस प्रकार करना चाहिए? मार खाकर चोर बोल जाता तो उसका स्वांग पूरा न होता। इसी प्रकार आप परमात्मा का स्मरण करके फिर सासारिक झगड़ों में पड़ जाओ तो भक्त का स्वांग पूरा नहीं कहलाएगा। आप यही समझें कि यह आत्मा हाथी के समान है। इसके पीछे ससार के

झगडे रूपी कुत्ते भौंकते हों तो भले भौंकें। इनसे मुझे क्या प्रयोजन ? अथवा कोई कोरे कागज पर स्याही से लिखे तो भले लिखा करे। इसमे मेरी क्या हानि है ? इस तरह विचार करके अगर आप परमात्मा की शरण मे जाएँ तो आपके उद्देश्य की पूर्ति और कार्य की सिद्धि होगी। चोर ने मुर्दे का स्वाग रच कर राजा का हृदय बदल दिया तो आप दूसरों का हृदय क्यों नहीं बदल सकते ? आप अपने ध्येय को लक्ष्य मे रक्खेंगे तो आपकी आत्मा महान् पद को प्राप्त कर सकेगी। आप गृहस्थ है अत यहाँ से जाते ही आपको सासारिक उपाधियाँ घेर लेंगी। उस समय इस उपदेश को ध्यान मे रखना। ऐसा करने से इस भव मे और परभव मे आपका कल्याण होगा।

अब मूल की ओर आइए। इस गाथा मे राजा श्रेणिक का परिचय दिया गया है। श्रेणिक इस कथा के प्रधान पात्र है। शास्त्रों मे बिम्बिसार नाम से भी इनका उल्लेख किया गया है। श्रेणिक का नाम बिम्बिसार कैसे पडा और वह कितने बुद्धिशाली थे, यह प्रकट करने के लिए एक कथा प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है —

राजा श्रेणिक के पिता प्रसन्नचन्द्र के सौ पुत्र थे। इन पुत्रों मे कौन सब से अधिक बुद्धिमान् है, यह बात प्रसन्नचन्द्र जानना चाहते थे। एक दिन सब पुत्रों की परीक्षा करने के लिए प्रसन्नचन्द्र ने कृत्रिम आग का प्रयोग किया और पुत्रों से कहा – 'आग लग गई है, अत सारभूत वस्तु लेकर बाहर निकल जाओ।' पिता का आदेश सुनते ही जिसे जो वस्तु सार रूप प्रतीत हुई, वह उसे

लेकर बाहर निकलने लगा। श्रेणिक उस समय दुदुभी लेकर बाहर निकले। यह देख कर सब भाई हँसने लगे और कहने लगे-यह भी कैसा विचित्र है। नगाडा लेकर निकला है। रत्नों के भरे भडार को छोड़ कर नगाडा किसलिए लाया है ?

इसलिए सब भाई श्रेणिक का उपहास कर रहे थे, मगर नगाड़ा लेकर बाहर निकलने मे क्या रहस्य है, यह किसे पता था ? राजा प्रसन्नचन्द्र इस मर्म को समझ गये, किन्तु उन्होंने विचार किया जो मैं सब के सामने श्रेणिक की प्रशसा करूँगा तो एक ओर यह सभी भाई हैं और दूसरी ओर अकेला श्रेणिक है। इनमें आपस मे कलह उत्पन्न हो जायगा। यह सोच कर उन्होंने सब लडकों को अपने पास बुला कर पूछा--क्या है ? लडकों ने श्रेणिक को मूर्ख बतालाते हुए कहा—देखिये न, यह नगाडा उठा लाया है। प्रसन्नचन्द्र ने श्रेणिक से पूछा--बेटा, रत्न न लेकर तुम नगाडा क्यों लाये हो ?

श्रेणिक—पिताजी, यह नगाडा और यह 'भभा' राज्य के चिह्न हैं। यह जल कर राख हो जाएँ तो राज्य के चिह्न मिट जाएं। राजचिह्नों द्वारा राजा को रत्न फिर मिल सकते हैं, परन्तु यह राजचिह्न नहीं मिल सकते। अतएव मैंने राज-चिह्नों की रक्षा करना उचित समझा।

राज-चिह्न के रूप में आज भी नगाडे की बहुत रक्षा की जाती है। इन राज चिह्नों की रक्षा के लिए विशेष तौर पर रक्षक नियुक्त किये जाते हैं। राजचिह्न का चला जाना राजा की पराजय समझी जाती हैं।

श्रेणिक का कथन सुनकर प्रसन्नचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु विशेष परीक्षा करने के लिए श्रेणिक से कहा—यह बताओ कि राजचिह्नों द्वारा रत्न कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए श्रेणिक बाहर चला गया और अनेक रत्न लेकर वापिस लौटा। प्रसन्नचन्द्र श्रेणिक की बुद्धिमत्ता देखकर खूब प्रसन्न हुए और भेरी तथा भभा को बचाने के कारण उसका नाम 'भभासार' पड़ गया। भभासार ही 'बिम्बिसार' के रूप मे पलट गया। राजा प्रसन्नचन्द्र ने उसे ही राजसिंहासन पर बिठलाया।

'श्रेणिक' शब्द का अर्थ भी श्रीसम्पन्न किया गया है। घर से बाहर निकाल देने पर भी वह राजकुमार की भाँति ही रहा और श्रीसम्पन्न होकर श्रेष्ठ ही रहा। इसी कारण वह श्रेणिक कहलाया।

श्रेणिक ससार की सभी सम्पदाओं से सम्पन्न था, किन्तु सम्यग्ज्ञान की सम्पत्ति उसके पास नहीं थी। उसे धन आदि की सम्पत्ति देने वाले और धर्म की सम्पत्ति देने वाले में से आप किसे बड़ा समझते हैं ? एक मनुष्य आपको धन-धान्य दे और दूसरा धर्म का तत्त्व समझावे। इन दोनों मे आपकी दृष्टि मे कौन बड़ा है ? जिन्होंने आत्मा की पहचान कराई है और आत्मा तथा शरीर तलवार और म्यान की तरह जुदा-जुदा हैं, ऐसी प्रतीति कराई है, वे महात्मा किसी से कम नहीं हैं।

अगर आप आत्मा और शरीर को तलवार और म्यान की तरह भिन्न समझते हों तो फिर क्या चाहिए ? इस बात पर तुम्हारी दृढ़

लेकर बाहर निकलने लगा। श्रेणिक उस समय दुंदुभी लेकर बाहर निकले। यह देख कर सब भाई हँसने लगे और कहने लगे–यह भी कैसा विचित्र है। नगाडा लेकर निकला है। रत्नों के भरे भडार को छोड़ कर नगाडा किसलिए लाया है ?

इसलिए सब भाई श्रेणिक का उपहास कर रहे थे, मगर नगाड़ा लेकर बाहर निकलने से क्या रहस्य है, यह किसे पता था ? राजा प्रसन्नचन्द्र इस मर्म को समझ गये, किन्तु उन्होंने विचार किया जो मैं सब के सामने श्रेणिक की प्रशसा करूँगा तो एक ओर यह सभी भाई हैं और दूसरी ओर अकेला श्रेणिक है। इनमे आपस मे कलह उत्पन्न हो जायगा। यह सोच कर उन्होंने सब लडकों को अपने पास बुला कर पूछा--क्या है ? लड़कों ने श्रेणिक को मूर्ख बतालाते हुए कहा—देखिये न, यह नगाड़ा उठा लाया है। प्रसन्नचन्द्र ने श्रेणिक से पूछा--बेटा, रत्न न लेकर तुम नगाडा क्यों लाये हो ?

श्रेणिक—पिताजी, यह नगाड़ा और यह 'भभा' राज्य के चिह्न हैं। यह जल कर राख हो जाएँ तो राज्य के चिह्न मिट जाए। राजचिह्नों द्वारा राजा को रत्न फिर मिल सकते हैं, परन्तु यह राजचिह्न नहीं मिल सकते। अतएव मैंने राज-चिह्नों की रक्षा करना उचित समझा।

राज-चिह्न के रूप में आज भी नगाडे की बहुत रक्षा की जाती है। इन राज-चिह्नों की रक्षा के लिए विशेष तौर पर रक्षक नियुक्त किये जाते हैं। राजचिह्न का चला जाना राजा की पराजय समझी जाती है।

श्रेणिक का कथन सुनकर प्रसन्नचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु विशेष परीक्षा करने के लिए श्रेणिक से कहा—यह बताओ कि राजचिह्नों द्वारा रत्न कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए श्रेणिक बाहर चला गया और अनेक रत्न लेकर वापिस लौटा। प्रसन्नचन्द्र श्रेणिक की बुद्धिमत्ता देखकर खूब प्रसन्न हुए और भेरी तथा भभा को बचाने के कारण उसका नाम 'भभासार' पड़ गया। भभासार ही 'बिम्बिसार' के रूप मे पलट गया। राजा प्रसन्नचन्द्र ने उसे ही राजसिंहासन पर बिठलाया।

'श्रेणिक' शब्द का अर्थ भी श्रीसम्पन्न किया गया है। घर से बाहर निकाल देने पर भी वह राजकुमार की भाँति ही रहा और श्रीसम्पन्न होकर श्रेष्ठ ही रहा। इसी कारण वह श्रेणिक कहलाया।

श्रेणिक संसार की सभी सम्पदाओं से सम्पन्न था, किन्तु सम्यग्ज्ञान की सम्पत्ति उसके पास नहीं थी। उसे धन आदि की सम्पत्ति देने वाले और धर्म की सम्पत्ति देने वाले मे से आप किसे बड़ा समझते हैं ? एक मनुष्य आपको धन-धान्य दे और दूसरा धर्म का तत्त्व समझावे। इन दोनों मे आपकी दृष्टि मे कौन बड़ा है ? जिन्होंने आत्मा की पहचान कराई है और आत्मा तथा शरीर तलवार और म्यान की तरह जुदा जुदा हैं, ऐसी प्रतीति कराई है, वे महात्मा किसी से कम नहीं हैं।

अगर आप आत्मा और शरीर को तलवार और म्यान की तरह भिन्न समझते हों तो फिर क्या चाहिए ? इस बात पर तुम्हारी दृढ़

था। परीक्षक हैसियत से पिशाच ने कामदेव की कठोर परीक्षा ली कि अगर कामदेव उस के लिए पहले से तैयार न होता तो उसमें उत्तीर्ण होना सरल नहीं था। पिशाच ने कामदेव को धर्म से च्युत करने के लिए अनेक भयकर रूप धारण किये, परन्तु वह तनिक भी विचलित न हुआ। तब पिशाच अपनी तलवार सँभाल कर शरीर के टुकड़े-टुकडे कर डालने को तैयार हो गया। फिर भी कामदेव जरा भी नहीं डिगा।

आज तो तुम कल्पित भूत-प्रेत के भय से भी डरते हो, पर कामदेव साक्षात् भयकर पिशाच से भी नहीं डरा। तुम कहोगे हम गृहस्थ हैं अत' भूत-प्रेत से डरना पडता है, परन्तु कामदेव क्या गृहस्थ न था ? वह डरता नहीं था, फिर तुम क्यों डरते हो ? ऐसा कहो न कि हम कायर हैं और हमें इस बात पर विश्वास नहीं है कि शरीर और आत्मा म्यान तथा तलवार की तरह जुदा-जुदा हैं।

पिशाच कामदेव के टुकडे-टुकडे कर डालने की बात कहने लगा तो कामदेव ने क्या विचार किया ? वह विचार करने लगा यह पिशाच मेरे टुकडे-टुकडे करने को कहता है, परन्तु अनन्त इन्द्र भी मेरे टुकड़े नहीं कर सकते इस बेचारे की क्या चल सकती है ? मैं आत्मतत्त्व को समझता हूँ, अतएव मुझे विश्वास है कि टुकड़े होंगे तो शरीर के होंगे, इससे आत्मा को कुछ भी हानि नहीं हो सकती। शरीर तो पहले से ही टुकडा-टुकड़ा है। इससे मेरा क्या बनता विगडता है ? मुझे डरने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि आत्मा के टुकड़े नहीं हो सकते।

मैं पहले साधुओं और साध्वियों से कहना चाहता हूँ कि अगर श्रावकों और श्राविकाओं में भूत आदि का भय रहा तो यह आपकी दुर्बलता गिनी जाएगी। विद्यार्थी अनुत्तीर्ण होते हैं तो शिक्षक को भी लज्जित होना पडता है, इसी प्रकार श्रावक-श्राविकाओं में भूत आदि का भय रहेगा तो यह अपने लिए लज्जाजनक होगा। भगवान् का धर्म न मिला हो और आत्मा को न पहचाना हो तो भले भय का अनुभव हो, किन्तु भगवान् का धर्म पा लेने पर भी भय होना कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

हाँ, तो कामदेव ने हँसते-हँसते पिशाच से कहा—शरीर के टुकडे करने हों तो करो, आत्मा के टुकडे तो हो नहीं सकते ।

कामदेव तनिक भी भयग्रस्त नहीं हुआ । इसका एक और कारण मुझे प्रतीत होता है। वह यह कि कामदेव सोचता है—मैंने इसे कोई हानि नहीं पहुँचाई, फिर भी यह टुकडा-टुकडा करने को क्यों कहता है ? यही कारण जान पड़ता है कि इसने धर्म को नहीं पहचाना है। इसने धर्म नही पाया, पर मैंने तो पाया है । मैं भी इसकी परीक्षा करके देखूँ कि यह कितने पानी में है ? इसका अधर्म निष्कारण ही मुझे बैर का भाजन बना रहा है, परन्तु मेरा धर्म मुझे वैरी पर भी क्रोध न करने का आदेश देता है। यह मुझे धर्म त्यागने को कहता है। इसका अर्थ यह है कि मैं अपना धर्म छोड़ कर इसके समान पिशाच बन जाऊँ।

दो प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं—दैवी और आसुरी । यहां दोनों प्रकृतियों का द्वन्द्व चल रहा है। कामदेव दैवी प्रकृति वाला और पिशाच आसुरी प्रकृति वाला है । इन दोनों प्रकृतियों का

स्वरूप बहुत विस्तृत है, किन्तु गीता में संक्षेप मे इस प्रकार बतलाया है —

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोध पारुष्यमेव च ।
अज्ञान चाभिजातस्य, पार्थ । सम्पदमासुरीम् ॥

दंभ, दर्प, अभिमान, कठोरता, निर्दयता और अज्ञान, यह आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं। जिनमे यह आसुरी प्रकृति होती है, वे असुर कहलाते हैं। दैवी प्रकृति के विषय मे कहा गया है:—

अभय सत्वसशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थिति ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसासत्यम क्रोधस्त्याग शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्व लौलुप्य, मार्दव ह्रीरचापलम् ॥
तेज' क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पद दैवीयभिजातस्य भारत ।

—भगवद्गीता ।

निर्भयता, सत्व संशुद्धि, दान, दम, स्वाध्याय, तप, ऋजुता, अहिंसा, सत्य, क्षमा, त्याग, शान्ति, दया, अलोलुपता, मृदुता, तेजस्विता, धैर्य आदि दैवी प्रकृति के लक्षण हैं।

दैवी प्रकृति का पहला लक्षण निर्भयता है। अपने पास वस्तु हो तभी दूसरों को दी जा सकती है। इसी प्रकार जो स्वय अभय है वही दूसरों को अभय बना सकता है। जो स्वय भय से कॉपता होगा वह दूसरों को निर्भय कैसे बनाएगा ? भयभीत मनुष्य दूसरों को अभयदान देने में समर्थ नहीं है। जो शरीर और आत्मा को 'म्यान और तलवार के समान समझना है और जिसने इस 'समझ

को जीवन में स्थान दिया है, वही अभयदान दे सकता है। कामदेव निर्भय था। आत्मा के सिद्धान्त पर उसका अटल विश्वास था। वह अपने धर्म पर दृढ था।

कामदेव की धर्म पर ऐसी दृढ आस्था थी। परन्तु आज आप धर्म पर दृढ नहीं हैं और इसी कारण कोई किसी देवता को पूजता फिरता है और कोई किसी को। स्त्रियों मे तो यह बात विशेष रूप से देखी जाती है। हम लोग ढोंग करने लगें तो हमारे पास भी लोगों की भीड़ लग जाय, परन्तु ऐसा करना साधु का धर्म नहीं है। हम तो भगवान् महावीर का धर्म सुनाते हैं। जिसे पसद हो, सुने, न पसद हो तो न सुने। धर्म पर दृढ़ता होगी तो सभी जगह दृढ़ता होगी। अतएव कामदेव की तरह तुम भी आत्मा पर विश्वास रख कर दृढता धारण करो।

कामदेव की दृढ़ता देखकर पिशाच विचारने लगा—'तेरे टुकड़े-टुकडे कर दूँगा' इतना कहने मात्र से ही इसकी परीक्षा नहीं होगी। केवल शब्दों से यह नहीं होगा।' यह सोच कर वह कामदेव के शरीर के टुकड़े करने लगा। फिर भी कामदेव प्रसन्न ही बना रहा। कामदेव सोचता था—पिशाच के प्रहारों से मुझे वेदना नहीं हो रही है, बल्कि मेरे जन्म-जन्मान्तर की वेदना नष्ट हो रही है।

ऑपरेशन करते समय दु ख होता है या नहीं ? पर जिसका कलेजा मजबूत होता है, वे उस समय भी प्रसन्न ही रहते हैं। जलगॉव में डाक्टर ने मेरे हाथ का ऑपरेशन करने के लिए कहा, तब मैंने अपना हाथ उसके सामने फैला दिया। डाक्टर ने कहा-

तकलीफ होगी, क्लोरोफॉर्म सुंघाना पडेगा । मैंने कहा—इसकी आवश्यकता नहीं । बिना ही क्लोरोफॉर्म सुंघाये मेरा ऑपरेशन किया गया, किन्तु मुझे वेदना का अनुभव न हुआ । सुना है, फ्रांस में एक मनुष्य ने यह अनुभव करना चाहा कि शरीर की नसें काटने से कैसी वेदना होती है ? यह अनुभव करने के लिए वह अपनी नसें काटने लगा । यद्यपि नसें कटने से वह मर गया किन्तु अन्तिम समय तक वह हँसता ही रहा ।

कामदेव भी शरीर के टुकडे - टुकडे हो जाने तक हँसता ही रहा । अन्त मे पिशाच थक गया—हार गया और उसे प्रतीति हो गई कि कामदेव अपने धर्म पर दृढ है, इसे आत्मा की शक्ति पर अटल विश्वास है, अतएव यह डिगाये डिग नहीं सकता । आखिर हार मान कर उसने अपना पिशाच-रूप छोड कर देवरूप प्रकट किया । इस प्रकार कामदेव ने आसुरी प्रकृति को दैवी प्रकृति के रूप मे परिणत कर दिया ।

देव कामदेव से कहने लगा—'इन्द्र महाराज का कथन सत्य सिद्ध हुआ । वास्तव में आपकी धर्म दृढता अडिग है । आप धर्म की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं । मैं आपके शरीर के टुकडे करने चला तो मेरे पाप के टुकडे–टुकडे हो गए । लोहे की छुरी पारस को काटने चलती है तो स्वय सोने की बन जाती है । मैं आपकी परीक्षा करने चला तो मेरी ही परीक्षा हो गई । आपके चरणस्पर्श से मेरे पाप धुल गए । अब तक मैंने बहुत पाप किये हैं, पर अब नहीं करूँगा' ।

इस प्रकार कामदेव ने देव को भी सुधार दिया।

भगवान् महावीर देवाधिदेव हैं। अनन्त इन्द्र भी उनके रोम को चलायमान नहीं कर सके। आप ऐसे महावीर भगवान् के शिष्य हैं। आपको भी थोड़ी--बहुत धर्म-दृढता तो रखनी ही चाहिए। जो पानी सागर मे होता है, वही पानी थोड़े परिमाण मे गागर में भी आता है। इसी प्रकार भगवान् के अनन्त गुणों का कुछ अश आप अपने जीवन में उतारेंगे तो आपको जरा भी भय नहीं रह जायगा।

राजा श्रेणिक बहुरत्नों का स्वामी था, परन्तु धर्म रूपी रत्न की उसके पास कमी थी। वह जलतारिणी, विषहारिणी और उपद्रव आदि को शान्त करने की विद्याएँ भी जानता था। इस प्रकार वह अनेक विद्या-रत्नों का नाथ होने पर भी धर्म-रत्न के अभाव में अनाथ था।

आज जिनके पास खाने-पीने को न हो, जिनके घर-द्वार न हो और जिनका कोई रक्षक न हो, उन्हें अनाथ कहा जाता है, परन्तु महानिर्ग्रन्थ किसे नाथ और किसे अनाथ कहते हैं? इस सबध में आगे कहा जायगा।

इस गाथा मे मडि कुक्ष बाग न कह कर मडिकुक्ष चैत्य कहा गया है। यहाँ देखना है कि चैत्य शब्द का अर्थ क्या है? इस सबध में टीकाकर कहते हैं —

चैत्य इति उद्यानम्।

अर्थात्-चैत्य का अर्थ बाग है। श्रेणिक चैत्य में अर्थात् बाग में गया। चैत्य शब्द चिय चयने, तथा चिती सज्ञा ने धातुओं से

बना है। जहा प्रकृति का बहुत उपचय हो, जहाँ प्रभूत प्राकृतिक सौन्दर्य हो, उसे चैत्य कहते हैं। अथवा ज्ञान को भी चैत्य कहते हैं। मन को प्रसन्न करने का जो कारण हो वह भी चैत्य कहलाता है।

यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कहता, किन्तु पूर्वाचार्यों ने भी ऐसा ही कहा है। रायपसेणीसूत्र में वर्णन है कि सूर्याभ देव ने भगवान् को 'देवय चेइय' कहकर वदना की। भगवान् को चैत्य क्यों कहा ? इस सबध मे टीकाकार मलयगिरि कहते हैं—

सुप्रसन्नमन हेतुत्वादिति चैत्यम् ।

अर्थात्—मन को प्रसन्न करने के कारण को चैत्य कहते हैं। किसी को ससार का व्यवहार मन को प्रसन्न करने का कारण होता है तो किसी के लिए भगवान् मन को प्रसन्न करके के कारण होते हैं। सूर्याभ देव को देवलोक के सुख मन प्रसन्नता के कारण प्रतीत न हुए, वरन् भगवान् ही हुए। अतएव भगवान् को 'चेइय' कहकर उसने वदना की।

चैत्य शब्द रूढ नहीं, किन्तु व्युत्पन्न प्रतिपदिक है। अतएव उसके अनेक अर्थ होते हैं। चैत्य शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति से मूर्ति नहीं होता। मूत्ति के लिए 'पडिमा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पडिमा और चैत्य शब्दों का अर्थ अलग-अलग है और दोनों शब्द भी अलग-अलग हैं। चैत्य शब्द जहां आया है, बाग, ज्ञान या साधु के अर्थ मे आया है।

कहा जा सकता है कि चैत्य शब्द का अर्थ बाग है, इस विषय

में क्या प्रमाण है ? इसका उत्तर यह है कि शान्त्याचार्यकृत टीका मे 'चैत्य इति उद्यानम्' ऐसा स्पष्ट कहा है। अर्थात् श्रेणिक राजा बाग मे गया, ऐसा उल्लेख मिलता है।

नाणादुमलयाइएणं, नाणापक्खिनिसेवियं ।
नाणा कुसुम संछन्नं, उज्जाणं नंदणोवनं ॥ ३ ॥

अर्थ—भाँति-भाँति के वृक्षों और लताओं से युक्त, तरह-तरह के पक्षियों द्वारा सेवित और अनेक प्रकार के कुसुमों से व्याप्त नन्दनवन के समान उद्यान था।

व्याख्यान—पहले कहा जा चुका है कि राजा श्रेणिक के पास सब प्रकार के रत्न थे, परन्तु सम्यक्त्व रत्न नहीं था। उसे तत्त्व का ज्ञान नहीं था। वह उसकी खोज मे था।

क्या आप पैसे की अपेक्षा सम्यक्त्व रूपी रत्न को बडा मानते हैं ? आपका एक पैसा खो जाय तो उसकी चिन्ता करते हो, परन्तु सम्यक्त्व-रत्न की उतनी चिन्ता नहीं करते। आप जानते हैं कि पीर, पैगम्बर, भूत, भवानी के पास जाकर मत्था टेकने से समकित-रत्न दूषित होगा, फिर भी स्त्री-पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए 'हम तो गृहस्थ हैं' ऐसा बहाना करके वहां जाते हो या नहीं ? गृहस्थ होने का बहाना करके आप बचना चाहते हैं, परन्तु कामदेव क्या गृहस्थ नहीं था ? पर उसकी बराबर आपको समकित-रत्न की कहाँ परवाह है ? पैसे की सुरक्षा के लिए जितनी सावधानी रक्खी जाती है, उतनी सम्यक्त्व-रत्न की रक्षा के लिए नहीं। कोई रत्न देकर कौड़ी खरीदे तो वह मूर्ख गिना जाता है। यही बात समकित-

रत्न के विषय मे समझनी चाहिए। स्वार्थपूर्त्ति के लिए सम्यक्त्व मे दूषण लगाना उचित नहीं। सम्यक्त्व मे दृढता होगी तो सभी कामों मे दृढता होगी। कामदेव के शरीर के टुकड़े कर दिये गये, लेकिन धर्म की रक्षा के लिए उसने शरीर की परवाह नहीं की। कामदेव की इस धर्म दृढता के कारण भगवान् ने उसे उदाहरण के रूप मे लेकर साधुओं से भी यही कहा—जब कामदेव श्रावक इस तरह धर्म में दृढ रहा तो तुमको किस प्रकार दृढ़ रहना चाहिए, इस बात का विचार करो।

राजा श्रेणिक को अन्त मे महानिर्ग्रन्थ के पास से समकित-रत्न की प्राप्ति हुई थी। इसीलिए व्रत-प्रत्याख्यान न करने पर भी वह भविष्य मे पद्मनाथ तीर्थंकर होगा। यद्यपि वह चाहता था कि मैं धर्मक्रिया करूँ, किन्तु वह कर नही सका।

आप जो धर्मक्रिया करते हैं, वह यदि दृढ़ श्रद्धा रखकर, तत्त्व की जिज्ञासापूर्वक की जाय तो अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो। अगर श्रद्धापूर्वक धर्मक्रिया नहीं की जाती तो वह अक के अभाव मे शून्यों की तरह निरर्थक सिद्ध होती है। अतएव कषायों को पतला करके अन्तरात्मा मे जागृति उत्पन्न करो।

यद्यपि श्रेणिक धर्मक्रिया न कर सका, फिर भी वह धर्मतत्त्व का जिज्ञासु था। उसकी रानी चेलना चेटक राजा की पुत्री थी। चेटक राजा की सात लड़कियां थीं और सभी सतिया थीं। चेलना की रग-रग मे धर्म का प्रवाह बहता था। राजा श्रेणिक को धर्म में दृढ़ करने के लिए चेलना प्रयत्न कर रही थी। 'मेरे पति

सम्यग्दृष्टि और धर्मात्मा बनें और मैं एक धर्मात्मा राजा की पत्नी कहलाऊँ' ऐसी उन्नत भावना वह भाती रहती थी, जब कि श्रेणिक चाहता था कि मेरी यह रानी धर्म का ढोंग छोड कर मेरे साथ मजा-मौज करे।

इस प्रकार दोनों एक दूसरे पर अपनी इच्छानुसार असर डालने के लिए प्रयत्नशील थे। रानी चेलना की धर्म भावना कैसी है, श्रेणिक इसकी मीठी परीक्षा किया करता था, परन्तु चेलना अपनी धर्म भावना का परिचय देकर उसके चित्त पर धर्म का प्रभाव अंकित करने का प्रयास करती रहती थी। दूसरों पर धर्म का प्रभाव डालने के लिए नम्रता और सरलता की बहुत आवश्यकता होती है। बलात्कार से धर्म का प्रभाव नहीं डाला जा सकता। अपना निज का जीवन ही ऐसा बनाना पडता है कि जिससे दूसरों पर धार्मिकता का प्रभाव पडे।

धर्म की परीक्षा करते-करते एक दिन राजा श्रेणिक हठ पकड़ गया। एक बार उसने एक महात्मा को अपने महल के पास से जाते देखा तो चेलना को बुलाकर कहा—देखो, तुम्हारे यह गुरु नीची निगाह करके चले जा रहे हैं। इन्हें कोई मारे तो भी कुछ नहीं कर सकते। यद्यपि मेरे राज्य मे यह नियम है कि कोई किसी को कष्ट न दे, पर इन्हें कोई मार-पीट दे तो यह उसका सामना नहीं करेंगे और न फरियाद करेंगे। ऐसी कायरता है इनमे। ऐसे कायर गुरु की चेली मे भी कायरता ही आएगी। हम लोग वीर हैं। हमारे गुरु भी वीर होने चाहिए। ढाल-तलवार बांधकर और घोड़े पर सवार होकर फिरने वाले होने चाहिए।

रानी चेलना अपने गुरु का यह अपमान सहन न कर सकी। उसने कहा—महाराज, मेरे गुरु ऐसे कायर नहीं, जैसा आप कहते हैं। मैं कायर गुरु की शिष्या नहीं हूं। मेरे गुरु की वीरता के सामने आप सरीखे सौ वीर भी नहीं टिक सकते। आपके बडे से बडे सेनापति भी काम से पराजित हैं, पर मेरे गुरु ने उस काम को भी पराजित कर दिया है। दस लाख सुभटों पर भी विजय प्राप्त करने वाले सेनापति को पराजित करने वाले काम को जीत लेना कोई साधारण वीरता है। मेरे गुरु काम-विजयी हैं। काम को जीत लेना बड़ी से बड़ी वीरता है। फिर आप उन्हें कायर क्यों कहते हैं ?

चेलना के मुख से गुरु का माहात्म्य सुनकर राजा श्रेणिक ने विचार किया—यह ऐसे नहीं मानेगी। किसी वेश्या को साधु के पास भेजूँ और साधु को भ्रष्ट करूँ तभी यह मानेगी। यह सोच कर श्रेणिक ने कहा—ठीक है, देखा जायगा।

चेलना, राजा का अभिप्राय समझ गई। वह जान गई कि महाराज मेरे गुरु की परीक्षा लेंगे। किन्तु उसे विश्वास था कि परीक्षा का परिणाम अच्छा ही आएगा। अतएव धैर्य धारण करके वह परमात्मप्रार्थना करने लगी—'प्रभो। मेरी और मेरे गुरु की लाज रखना तेरे हाथ में है। मैं तेरे शरण में आई हूँ। शरणागत की रक्षा करना।' इस प्रकार प्रार्थना करके वह धर्मध्यान करने बैठ गई।

राजा ने एक वेश्या को बुला कर कहा—तू उस साधु के स्थान पर जाकर और किसी भी उपाय से उसे भ्रष्ट करके वापिस यहाँ

आना। यह काम करेगी तो मुँहमाँगा इनाम दूँगा।

वेश्या तो मुफ्त में भी राजा का काम करने को तैयार थी। तिस पर उसे राजा की ओर से इनाम मिलने की आशा हुई। उसने तत्काल हाँ भरी। वह शृंगार करके और दूसरी कामोत्तेजक सामग्री लेकर साधु के स्थान पर गई। साधु ने देखते ही उससे कहा—'खबरदार, रात्रि के समय हमारे स्थान पर स्त्रियाँ नहीं आ सकतीं। यह कोई गृहस्थ का मकान नहीं है। यहाँ साधु रहते हैं।'

वेश्या बोली—महाराज, आपकी बात ठीक है। पर आपका कहना तो वही मान सकती है जो आपकी आज्ञा शिरोधार्य करती हो। मैं दूसरे अभिप्राय से यहाँ आई हूँ। मैं आपको कोई कष्ट देने नहीं आई, आपका मनोरंजन करने और आपको आनन्द देने आई हूँ।

यह कह कर वेश्या साधु के स्थान में घुस गई। साधु समझ गए कि यह मुझे भ्रष्ट करने आई है। यद्यपि मैं अपने ब्रह्मचर्यव्रत पर दृढ हू, परन्तु जब यह बाहर निकलेगी और कहेगी कि मैं साधु के शीलव्रत को भग करके आई हूं, तब मेरा कहना कौन मानेगा?

चेलना ने पहले ही यह मालूम कर लिया था कि यह साधु लब्धिधारी है, अतएव किसी प्रकार की बाधा नहीं आएगी।

महात्मा ने उस समय अपनी लब्धि द्वारा विकराल रूप धारण किया। वेश्या घबराई और महात्मा से कहने लगी - महाराज, क्षमा कीजिए, मेरे प्राण बचने दीजिए। मुझे राजा श्रेणिक ने भेजा

है। उन्हीं के कहने से मैं आई हूँ। मैं अभी यहाँ से भाग जाती, पर क्या करूँ ? बाहर ताला बन्द है। आप मुझ पर दया कीजिए।

महात्मा ने अपना वेश बदल लिया। शास्त्र में कारणवशात वेशपरिवर्तन करने के लिए कहा है। यह अपवादविधि है। चारित्र की रक्षा तो उस समय भी की जाती है परन्तु अवसर आ जाय तो वेश बदल लेने का अपवाद सेवन करना पड़ता है।

इधर यह घटना घट रही थी और उधर राजा रानी से कह रहा था—तुम अपने गुरू की इतनी प्रशसा कर रही थीं, अब उनका हाल देखो ? वह तो एक वेश्या को अपने पास रक्खे बैठे हैं। चेलना ने आश्चर्य के साथ कहा—यह बात है ? परन्तु जब तक मैं अपनी आँखों से न देख लूँ तब तक मान नहीं सकती। अगर आपका कथन सत्य हुआ तो मैं उन्हें गुरू नहीं मानूँगी। मैं तो सत्य की उपासिका हूँ। आप जो कहते हैं उसे प्रत्यक्ष दिखलाइए।

राजा—मैं स्वय देख चुका हू। अब क्यों बात को बढ़ाती हो ?

रानी—जब तक मैं अपनी आँखों से न देख लूँ, तब तक इस विषय में आपका कथन सत्य नहीं मान सकती। मैं स्वय देख लूंगी तो उसी घड़ी उन्हें साधु रूप मे मानना छोड़ दूँगी।

आखिर राजा चेलना को साथ लेकर साधु के स्थान पर आया दरवाजा खोला। दरवाजा खुलते ही जैसे पींजरे मे से पक्षी बाहर भागता है, उसी प्रकार वेश्या बाहर आई और राजा से कहने लगी—आप मुझे दूसरा कोई भी काम सौंप दीजिए, मगर साधु के पास जाने को न कहिए, इन महात्मा के तपस्तेज से मैं आज मर गई

होती, परन्तु इन्हीं की दया से जिंदी रह गई।

वेश्या की भय से कापती आवाज सुनकर रानी ने राजा से कहा—महाराज, यह वेश्या क्या कह रही है ? इसके कहने से तो जान पड़ता है कि आपने ही इसे यहां भेजा था। भले आपने भेजा हो परन्तु मैं तो पहले ही कह चुकी हू कि मेरे गुरु को इन्द्राणी भी नहीं डिगा सकती। मगर यह क्या कह रही है, इस पर विचार कीजिए।

रानी की बात सुनकर राजा लज्जित हो गया। वह बोला-वेश्या की बात पर ज्यादा विचार करने की आवश्यकता नहीं। छोड़ो इस बात को ।

रानी ने कहा--ठीक है। यह वेश्या आत्मा के सम्बन्ध से मेरी बहिन के समान है। फिर भी मैं इसकी बात छोडती हूँ। आप भी इसे छोड़ दें। पर आइए, उन महात्मा के पास तो चलें।

दोनों महात्मा के पास गये। देखा, महात्मा दूसरे ही वेश में हैं। यह देख कर रानी ने राजा से कहा-देखिये, यह मेरे गुरू ही नहीं हैं। मैं तो उसी को गुरू मानती हू जो द्रव्य और भाव दोनों से मुक्त हों। इन महात्मा का वेश मेरे गुरू का वेश नहीं है। यह रजोहरण, मुहपत्ती आदि से सुविहित वेश नहीं है। ऐसी स्थिति में यह मेरे गुरू कैसे हो सकते हैं ?

राजा फिर लज्जित होकर विचार करने लगा—रानी ठीक कह रही है। मुझे धर्म का तत्त्व समझना चाहिए। और राजा श्रेणिक के अन्त करण में तत्त्व को जानने की अभिलाषा उत्पन्न हुई।

का पानी और चर्बी का घी मिलता है।

आजकल तो वनस्पति-घी शुरू हुआ है। गाय रखने मे तो कितने ही लोग पाप मानते हैं, परन्तु वनस्पति-घृत खाने में उन्हें पाप नहीं लगता। इस प्रकार ऐसा जान पड़ता है, जैसे आज के लोग जीवनयात्रा को भूल गये हैं और जीवन को नष्ट करने वाले खान-पान का सेवन करते हैं।

श्रेणिक राजा भले अन्य कार्य भूल गया हो पर विहारयात्रा करने का काम नहीं भूला था। वह चाहे शरीर रक्षा के लिए निकला हो या वायुसेवन के लिए, लेकिन शास्त्र मे कहा है कि वह विहारयात्रा के लिए बाहर निकला था।

आज कई लोग कहते हैं, शास्त्र सुन कर क्या करें। शास्त्रों में तपस्या करने को कहा है। उन्हें सुनकर क्या भूखे मरें? ऐसा कहने वाले शास्त्र का अर्थ न समझने के कारण शास्त्र की अवज्ञा करते हैं। शास्त्र मे कैसे कैसे गभीर तत्वों का निरूपण किया गया है, यह बात तो तभी जानी जा सकती है, जब किसी शास्त्राभ्यासी के मुख से उन्हें सुना जाय। वाकी अभ्यास किये बिना ही शास्त्र की अवज्ञा करना महापाप है। शास्त्र का मुख्य ध्येय तो मोक्ष है परन्तु मोक्ष प्राप्त करने के लिए जिन साधनों एव तत्त्वों की आवश्यकता है, उन्हें भी शास्त्रकार भूले नहीं है।

ग्राम या नगर कैसा ही क्यों न हो, गांव के बाहर जाने से अवश्य ही वायु-परिवर्तन हो जाता है। श्रेणिक यह बात जानता था। शास्त्र मे हवा के सात लाख भेद बतलाये गये हैं। हवा के प्रत्येक भेद के साथ प्रकृति का जुदा-जुदा सबन्ध बतलाया गया है।

समुद्र की हवा जुदी होती है, द्वीप की हवा अलग प्रकार की होती है और इसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण आदि प्रत्येक दिशा की भी हवा अलग तरह की होती है। हवा के सम्बन्ध की बारीकियों को जानने वाला वैज्ञानिक हवा को जान कर यह भी बतला सकेगा कि इस प्रकार की हवा चली है तो ऐसा होगा। इस प्रकार शास्त्र में हवा के भेदों का वर्णन है।

हाँ, तो राजा श्रेणिक विहारयात्रा के लिए बाहर निकल कर मण्डिकुक्ष बाग मे आया। वह बाग शास्त्र के कथनानुसार नन्दनवन के समान था।

प्रकृति के नियमों का पालन और रक्षण करना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही आगे जाकर उन्नति हो सकती है। श्रेणिक स्वयं ७२ कलाओं का ज्ञाता था और उसके पास अनेक शरीरशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा भौतिकशास्त्र आदि के विशेषज्ञ पण्डित रहते थे। फिर भी राजा शरीररक्षा के लिए मण्डिकुक्ष बाग मे घूमने जाता था।

जहां अनेक प्रकार के वृक्ष और लताएँ होती हैं, वह बाग कहलाता है। वृक्ष और लता मे यह अन्तर होता है कि, वृक्ष किसी की सहायता लिये बिना अपने आप ही बढ़ता जाता है और फल-फूल प्रदान करता है, पर लताएँ दूसरे की सहायता लिये बिना सीधी या ऊँची नहीं होतीं, मगर तिरछी फैलती जाती हैं और फल-फूल प्रदान करती हैं।

शास्त्र में कहा है कि मण्डिकुक्ष बाग मे अनेक वृक्ष थे और अनेक लताएं थीं। प्रश्न किया जा सकता है कि मोक्ष का वर्णन

करने वाले शास्त्र में याग का वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आप जीवन का हेतु भूल गये हैं, पर शास्त्रकार जीवन के आवश्यक अंगों को नहीं भूले। साधु हो कर भी कोई वन और वृक्ष को नहीं भूल सकता। बौद्ध साहित्य में देखा गया है कि जब बुद्ध गया के जंगल में गये तब उन्होंने कहा—'हम जैसे योगियों के भाग्य से ही जंगल सुरक्षित है—नष्ट नहीं कर दिया गया है। जंगल न होता तो आत्मसाधना के लिए योगियों को बड़ी कठिनाई होती।' इस प्रकार योगी जन जंगल के महत्त्व को समझते हैं। बड़े-बड़े सिंह भी बड़े जंगल मे ही बसते हैं। जंगल या वृक्षों से सिंह की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु उनका रक्षण वहीं होता है। जहां केवल रेत के टीले होते है वहां सिंह भी दिखाई नहीं देते।

कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन के लिए जो वस्तुएँ आवश्यक हैं, उन्हें न बतला कर केवल मोक्ष की बातें करना आकाश के फूल बताने के समान है। किसी वृक्ष को बतलाना हो तो उसके मूल को भी बतलाना चाहिए। जीवन के लिए वृक्षों की बहुत आवश्यकता है।

कुछ लोगों का ख्याल है कि जीवन मे मित्र का स्थान महत्त्वपूर्ण हो सकता है, किन्तु वृक्षों की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का वैज्ञानिक यह उत्तर देते हैं कि जीवन में मित्रों या बन्धु-बान्धवों की अपेक्षा वृक्षों की विशेष आवश्यकता है। क्योंकि वृक्षों की सहायता पर ही जीवन टिक सकता है। वृक्षों की सहायता से ही जीवन किस प्रकार टिक सकता है?— इस संबंध में उनका कथन

है कि मनुष्य जो हवा छोडता है, वह जहरीली कार्बन गैस है। अगर मनुष्य यह जहरीली हवा न छोडे और दूसरी हवा ग्रहण न करे तो वह जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य जो जहरीली हवा छोडता है, उसे वृक्ष खींच लेते है और उसके बदले मे आक्सीजन हवा देते हैं, जिसकी बदौलत मनुष्य जीवित रह सकता है। प्रकृति की रचना ही कुछ निराली है कि मनुष्य जो जहरीली हवा छोड़ता है, वही हवा वृक्षों के लिए अमृत के समान सिद्ध होती है। इस दृष्टि से, वृक्ष यदि मनुष्य द्वारा त्यक्त विषैली वायु को पचाकर आक्सीजन हवा न छोडे तो मनुष्य किस प्रकार जीवित रह सकता है ?

इस प्रकार वृक्ष मनुष्य के लिए अतीव जीवनोपयोगी हैं, फिर भी लोग कहते है कि जीवन में वृक्षों की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसे लोगों को विचार करना चाहिए कि वृक्ष न होते तो उनकी जीवन-रक्षा के लिए जीवन-वायु की पूर्ति कौन करता ?

वृक्ष मानव-जीवन की रक्षा करते हैं, फिर भी आजकल उन पर दया नहीं की जाती। प्राचीन काल के लोग वृक्षों की आत्मीय-जन की भांति रक्षा करते थे। किसी वृक्ष को काट दिया जाता तो उन्हें बहुत दुःख होता था। मगर आज के लोगों ने वृक्षों की दया त्याग दी है और फिर कहते हैं—हम तो सुधर गये है।

जो जहर पीकर अमृत प्रदान करते हैं, उन वृक्षों पर दया न करना कृतघ्नता है। महाभारत मे वृक्ष को अजातशत्रु कहा गया है। अजातशत्रु का अर्थ है–जिसका कोई शत्रु न हो जो पत्थर

मारता है या कुल्हाडी मार कर घाव करता है, उसे भी वृक्ष बदले मे अपने मधुर फल प्रदान करता है या अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। ऐसे जीवनोपयोगी वृक्ष की जीवन मे कितनी आवश्यकता है ?

दिल्ली के लोग कहते थे कि पुरानी दिल्ली में बहुत वृक्ष थे, किन्तु जब लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका गया और बम फेंकने वाला पकडा न जा सका, तब बाजार के सभी वृक्ष कटवा डाले गये। सोचने की बात यहां यह है—बम फेंका किसने और दण्ड मिला किसको ?

आज जगल को काटकर वीरान बना दिया जाता है, परन्तु इसके फलस्वरूप वर्षा कम होती जाती है, यह किसे मालूम है ? जब बडे-बडे जगल और बगीचे थे तब केसरीसिंह के समान महात्मा लोग भी वहां निवास करते थे, परन्तु हम साधुओं को भी अब तो नगर की शरण लेनी पडती है।

राजा श्रेणिक बाग को अपनी सब सम्पत्तियों मे बडी सम्पत्ति मानता था और इसी कारण वह बगीचों को नवपल्लवित रखता था।

शास्त्र मे बाग का वर्णन करने के बाद कहा गया है कि उस बाग मे अनेक प्रकार के पक्षी रहते थे। वह बाग भाति-भांति के पक्षियों से सेवित था। इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस काल में आज-कल की तरह पक्षियों की हत्या नहीं की जाती थी। आज तो अपनी विलासवृत्ति को चरितार्थ करने के लिए, पखों के लिए भी पक्षियों की घात की जाती है। मैंने एक लेख में पढ़ा

था कि यूरोप और अमेरिका मे लोगों की शिकारप्रियता की बदौलत पक्षियों की अनेक जातियाँ ही नष्ट हो गई हैं। इस प्रकार आधुनिक सुधार और फैशन ने वैर ही उत्पन्न किया है।

पक्षियों की रक्षा के लिए आप क्या ऐसी प्रतिज्ञा कर सकते है कि जिन वस्तुओं मे पक्षियों के पखों का उपयोग किया गया होगा, उन वस्तुओं को अपनी मौज-शौक के लिए काम मे न लेंगे ? कदाचित् आप ऐसी वस्तुओं का उपयोग न करते हों फिर भी त्याग करना उन जीवों को अभयदान देने के समान है। आज मौज शौक के लिए कितने जीवों की हत्या की जा रही है, यह बात लोग नहीं समझते। अनेक बुद्धिमान् लोगों ने घोर हिंसाजनक रेशमी और चर्बी वाले कपड़ों का त्याग किया है, तो क्या आप लोग उन वस्तुओं का त्याग नहीं कर सकते जिनके लिए पक्षियों की हत्या की गई हो और पखों का उपयोग किया गया हो।

मण्डिकुक्ष बाग मे अनेक पक्षी स्वतन्त्रता और निर्भयता के साथ किलोल करते थे। वहाँ उन्हे किसी भी प्रकार का भय नहीं था। जहाँ पक्षी इस प्रकार निर्भयतापूर्वक किलोलें करते हों समझना चाहिए कि वहाँ दया है।

पक्षियों से जीवन को लाभ होता है या नहीं, यह आपको क्या पता है ? किन्तु आपके न जानने मात्र से कोई वस्तु निरुपयोगी नहीं हो सकती। आप शायद न जानते होंगे कि हीरा की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? यह तो जानने वाले ही जानते हैं। कहावत है कि जिस देश के रत्न महान् होते हैं, वहीं महापुरुषों का जन्म

होता है। गंगा, हिमालय आदि भारत मे ही है, इस कारण भारत मे ही अनेक महापुरुषों का जन्म हुआ है। जिस प्रकार प्रकृति की रक्षा की जाती है, प्रकृति उसी प्रकार का फल देती है।

उस बाग मे अनेक प्रकार के फूल खिले थे। फूलों के सौरभ से बाग महक रहा था। आज के लोग सुगध के लिए सेंट का उपयोग करते है। इन लोगों को भारत का अतर पसद नहीं आता। परन्तु सेंट के शौकीनों को यह पता नहीं है कि उसमे मिली हुई स्पिरिट मस्तिष्क में जाकर कितनी हानि पहुँचाती है।

भारतीयों को भारतीय वस्तु रुचती नहीं है और विदेशी वस्तुएँ किस प्रकार बनाई जाती हैं, यह बात वे जानते नहीं हैं। वास्तव मे यह देश को लज्जित करने वाली बात है। आप तेल का भी उपयोग करते होंगे, परन्तु कौन सा तेल किस प्रकार बना है और वह आपकी प्रकृति के लिए अनुकूल है या प्रतिकूल, इन बातों पर भी कभी आपने विचार किया है? आज की पोशाक ही इतनी पापमय है कि तेल, लवडर और सेंट के विना काम ही नहीं चल सकता। आज तो खाने की वस्तुओं की अपेक्षा भी पहनने की वस्तुएँ भारी हो रही है।

वास्तविक जीवनोपयोगी वस्तुओं का त्याग करके जीवन को भ्रष्ट करने वाली वस्तुओं को अपना लेने से आज बडी बेढगी स्थिति उत्पन्न हो गई है। यह सब प्रकृति के साथ वैर विसाहने के समान है। प्रकृति के साथ वैर करने के कारण ही ऐसे-ऐसे रोग फूट पड़े हैं जिनका कभी नाम भी नहीं सुना था।

इत्र और सेंट आदि के लिए अनेक प्रकार के पाप किये जाते हैं। उस कृत्रिम सुगन्ध से मन तथा बुद्धि मे विकृति उत्पन्न होती है, परन्तु प्राकृतिक सुगन्ध मे रोग उत्पन्न करने की या विकार उत्पन्न करने की बुराई नहीं होती।

अगर मैं कान मे इत्र का फौहा रख लूॅ तो आप क्या कहेंगे ? आप मुझे उपालभ देंगे। किन्तु प्राकृतिक रीति से मेरी नाक मे जो सुगध आती हो तो क्या मुझे उपालंभ देंगे ? इत्र लगाने के कारण उपालभ देने का हेतु यही है कि इत्र लगाना प्रकृति के साथ युद्ध करने के समान है, किन्तु प्राकृतिक रूप से फूल की सुगध को ग्रहण करना प्रकृति के साथ युद्ध करना नहीं है। वह सुगध तो प्रकृति स्वय प्रदान करती है। उसे कोई रोक नहीं सकता। अनाथी मुनि बाग मे बैठे थे, किन्तु उनसे कोई यह नहीं कह सकता था कि आप मौज-शौक के लिए बाग मे बैठे है। क्योंकि वहाॅ जो सुगंध थी, वह प्राकृतिक सुगंध थी।

मडीकुत्त बाग को नन्दनवन की उपमा दी गई है। इन दोनों का सम्बध उपमान-उपमेय का है। अर्थात् मडीकुत्त बाग नन्दनवन के समान था और उसी बाग मे महामुनि विराजमान थे।

उदयपुर के राणा सज्जनसिंह जी कहा करते थे कि बुद्धि का घर आराम है। आराम होता है तो बुद्धि उत्पन्न होती है। परन्तु आराम का स्थान शहर ही नहीं है। कदाचित् आप कहेंगे कि नगर तो आपको भी प्रिय है। आप भी गाॅव मे रहना पसद नहीं करते। परन्तु आपको मालूम होना चाहिए कि शहर वालों के

कारण ही मुझे यह उपालभ सहन करना पड रहा है। जहाँ रोगी ज्यादा होते है, वहीं डाक्टरों को ज्यादा जाना पड़ता है। इसी कारण हमे भी नगरों मे अधिक आना पडता है। आज नगरों मे जितना विकार फैला है, उतना ग्रामों मे नहीं। ग्रामों मे नगर के समान खराबी नहीं आई है। मैं आज ही आपसे नगर त्याग देने को नहीं कहता, परन्तु इतना तो अवश्य कहता हूँ कि आप भी अपने जीवन को सुधारने की ओर ध्यान दें।

मुझे दया और पोषध आदि प्रिय हैं, फिर भी इन पर अधिक भार न देकर शरीर और आत्मा के कल्याण की अन्य बातों पर इसलिए भार देता हूँ कि शरीर को स्वस्थ और ठीक रखने से धर्म-कार्य भी भलीभांति हो सकते है। अतएव आप प्रत्येक वस्तु पर लाभ हानि को विवेक दृष्टि से देखो और हानिकारक वस्तु का त्याग करके लाभप्रद वस्तु को अपनाओ। धर्म को पवित्र रखने के लिए ही मैं जीवन को पवित्र और स्वस्थ रखने की बात पर विशेष बल देता हूँ।

हाँ, तो मडीकुक्ष बाग नन्दनवन के समान फल-फूल सम्पन्न था। देवों का वर्णन करते समय नन्दनवन को भले ही बडा माना जाय, किन्तु अमुक दृष्टि से देखा जाय तो मडीकुक्ष बाग की अपेक्षा वह छोटा ही कहा जायगा। नन्दनवन मडीकुक्ष की बराबरी नहीं कर सकता। इसका कारण है। कल्पना कीजिए, राजा का एक महल है। उसमे सगमरमर जडा हुआ है। चारों ओर सुन्दर और मनोरम चित्रों से सजाया गया है। उसमे सभी प्रकार के सुख-साधन उपलब्ध हैं।

दूसरी ओर एक छोटा सा खेत है और उस खेत में काली मिट्टी है। जल से परिपूर्ण छोटा सा कुआ है। उस खेत मे छोटे-छोटे पौधे उगे है।

इन दोनों मे से आप किसे पसंद करेंगे ? किसी मनुष्य को उस राजमहल मे रहने दिया जाय और उसके साथ यह शर्त की जाय कि खेत मे पैदा हुई कोई भी वस्तु इस महल मे नहीं आ सकेगी, तो क्या उसे उस महल मे रहना पसद आएगा ? इसके विपरीत उसी मनुष्य से कहा जाय कि खेत मे पैदा होने वाली सभी वस्तुएँ तुम्हें दी जाएँगी, किन्तु रहने के लिए एक छोटा सा झोंपडा ही मिलेगा। बताइए, वह आदमी किसमे रहना पसंद करेगा ? झोंपडी मे या महल मे ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। वह मनुष्य खेत मे रहना ही पसंद करेगा। महल कितना ही सुन्दर और विशाल क्यों न हो, उसमे शरीर को टिकाने के साधन नहीं उत्पन्न हो सकते। ऐसा होने पर भी अगर कोई खेत को पसद न करके राज-महल में ही रहना पसद करे तो वह उसका व्यामोह ही गिना जायगा।

यही बात मंडीकुक्ष बाग और नन्दनवन के विषय में समझी जा सकती है। नन्दनवन की तरह मंडीकुक्ष बाग मे यद्यपि बाहर की शोभा नहीं है, फिर भी उन दोनों मे महल और खेत के समान अन्तर है। नन्दनवन मे जो शोभा है, वह देवों के रमण करने के लिए ही है। वहाँ सुगंधित सुन्दर फल-फूल नहीं है, परन्तु मंडीकुक्ष बाग में तो अनेक प्रकार के फल फूल हैं। नन्दनवन के विषय में

कहा गया है कि वहाँ जो कुछ है, सब रत्नों का बना है। अतएव वहाँ के पक्षियों को वैसा पोषण नहीं मिल सकता जैसा मंडीकुक्ष बाग मे मिल सकता है। कहा गया है कि मंडीकुक्ष बाग मे भाँति भाँति के पक्षी किलोलें करते थे। जहाँ पक्षियों को आनन्द मिलता हो वहाँ क्या मनुष्यों को आनन्द नहीं मिलता होगा? जहाँ पक्षियों को फल आदि खाने का आनन्द मिलता है, वहाँ मनुष्यों को भी आनन्द प्राप्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिस फल को पक्षी पसंद नहीं करता उसे क्या आप पसद करेंगे? आक के फल को पक्षी या बदर नहीं खाते तो मनुष्य भी नहीं खाता। इस प्रकार फलादि की परीक्षा पहले पक्षी करते हैं। कहने का आशय यह है कि जो फलादि पक्षियों को आनन्दप्रद होते हैं, वे मनुष्यों को भी आनन्द देते हैं।

एक दूसरी बात पर भी यहाँ विचार कर लें। साधारणतया जो पशु, पक्षी फल खाते हैं वे मांस नहीं खाते। लेकिन मनुष्य कैसा प्राणी है कि वह फल भी खाता है और मांस भी खा जाता है। बदर फल खाता है, मास नहीं। कबूतर अनाज के दाने चुगता है, मांस नहीं खाता। इस प्रकार यह पशु-पक्षी फलखाने की मर्यादा का भी पालन करते हैं, मगर मनुष्य ने तो फलाहार की मर्यादा का उल्लघन कर डाला है।

जहाँ पशु-पक्षियों को सहज पोषण मिलता है, वहाँ के मनुष्य भी सुखी होते हैं। और जहाँ पशु-पक्षी दुखी रहते हैं वहाँ मनुष्य भी दुखी रहते है। यह प्रकृति का नियम है।

मण्डिकुक्ष बाग में जीवों को फलाहार मिलता था, किन्तु नन्दन वन मे वह कहाँ ? इसके अतिरिक्त मण्डिकुक्ष बाग में अनाथी मुनि विराजमान थे और कदाचित् वहाँ भगवान् महावीर के चातुर्मास भी हुए होंगे। परन्तु क्या नन्दन-वन मे साधु मिल सकते हैं ? इस प्रकार मंडिकुक्ष बाग नन्दन-वन से भी अनेक दृष्टियों से उत्तम सिद्ध होता है।

आप लोग स्वर्ग का वर्णन सुनकर ललचाओ मत। मैं पूछता हूँ कि आपका राजकोट बड़ा या स्वर्ग बड़ा ? आप कदाचित् स्वर्ग को बड़ा कहेंगे किन्तु राजकोट मे जो धर्म जागृति हो रही है, वह क्या स्वर्ग मे संभव है ? वहाँ तो मुनि भी नहीं मिल सकते। पर राजकोट में मुनियों का जमघट है और आनन्द-मंगल वर्त्त रहा है। ऐसी स्थिति मे स्वर्ग को बड़ा कैसे कहा जा सकता है ? इस विषय को समझने के लिए एक भक्ति का उदाहरण लीजिए:—

कहते हैं, गोपियों की भक्ति से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उन्हें स्वर्ग में लाने के लिए विमान भेजा और कहलाया तुमने नन्दलाल की बहुत भक्ति की है। इसलिए चलो, तुम्हें स्वर्ग मे स्थान मिलेगा।

इसके उत्तर में गोपियों ने क्या कहा, यह भक्तों की वाणी में ही बतलाता हूँ:—

> व्रज व्हालुं म्हारे वैकुंठ नथो जावुं,
> त्यां नंदनो लाल क्यां थी लावुं ,,

गोपियों ने कहा—हमारे सामने स्वर्ग की बात मत करो। हमें

तो व्रज ही प्रिय है ।

विमान लाने वाले बोले–क्या तुम सब पागल हो गई हो ? जरा विचार तो करो कि कहाँ स्वर्ग और कहाँ व्रज ? यहाँ दुष्काल पडे तो तिनका भी न मिले । इसके सिवाय यहाँ सिंह, बाघ आदि का भय है, तरह तरह की बीमारियाँ हैं और सदा मौत का भय सताता रहता है । परन्तु स्वर्ग मे यह कुछ भी नहीं है । सब प्रकार का आनन्द है । वहाँ रत्नों के महल हैं और इच्छा करने मात्र से पेट भर जाता है । भोजन करने की भी आवश्यकता नहीं रहती और भोजन सुखपूर्वक व्यतीत होता है । फिर भी तुम स्वर्ग मे आना नहीं चाहतीं और व्रज मे रहना चाहती हो ?

गोपियों ने कहा—हम पागल नहीं हैं । जान पडता है तुम्हीं पागल हो गए हो । यह तो बतलाओ कि तुम क्यों विमान लेकर हमें ले जाने को आये हो ? हमने नन्दलाल की भक्ति की है, इसीलिए तो ? विचार करो कि जिस भक्ति के कारण तुम हमें स्वर्ग में ले जाने को आए हो, वह भक्ति स्वर्ग से भी कितनी बढ कर है ? फिर उस भक्ति को छोडकर हम क्यों स्वर्ग में जाना पसद करें ? हम अपनी भक्ति का विक्रय नहीं करना चाहतीं । तुम स्वर्ग को व्रज से बढकर मानते हो, पर यदि यह ठीक है तो नन्दलाल का जन्म स्वर्ग मे न होकर यहाँ क्यों हुआ ?

गोपियों का उत्तर सुनकर देव चुप हो रहे । कहने लगे वास्तव में हमारा स्वर्ग व्रज के सामने किसी विसात मे नहीं है । धन्य है तुम्हारी श्रद्धा और भक्ति । हमारा शरीर तो रूप-रग में

सुन्दर है, पर किस काम का ? इस शरीर मे तुम्हारी सी भक्ति कहाँ ?

तुम स्वर्ग को उत्तम मानते हो तो विचार करो—क्या यहाँ व्रत-धारी श्रावक साधु मिल सकते हैं ? क्या वहाँ तीर्थंकरों का जन्म हुआ है ? इस दृष्टि से विचार करो तो आपको ज्ञात होगा कि राज-कोट का महत्व कितना है। यहाँ रह कर धर्म की जैसी और जितनी साधना की जा सकती है, स्वर्ग मे नहीं की जा सकती।

मुसलमानों के हदीसों में कहा है—जब अल्लाह इस दुनिया को बना चुके तब फरिस्तों को बुलाकर उनसे बोले—'तुम इन्सान की प्रार्थना और बदगी करो।'

अल्लाह के आदेशानुसार दूसरे फरिस्तों ने तो इन्सान की बंदगी की, परन्तु एक फरिस्ते ने आज्ञा नहीं मानी। उसने अल्लाह से कहा—'आप क्यों ऐसी आज्ञा दे रहे हैं ? कहाँ हम फरिस्ता और कहाँ इन्सान। फरिस्ता होकर हम इन्सान को बदगी करें ? इन्सान खाक का बना है और हम 'पाक' है। इन्सान नापाक है।' इस प्रकार कहकर उसने अल्लाह की आज्ञा का उल्लघन किया। तब अल्लाह मिया ने उसे बहुत उपालभ दिया।

विचारणीय विषय यह है कि जब फरिस्ते भी इन्सान की बदगी करते हैं तो दोनों मे बडा कौन है ?

तथ्य यह है। फिर भी आप क्यों स्वर्ग की इच्छा करते हैं ? यह राजकोट स्वर्ग से बढ़ा चढ़ा है और यहा की भूमि जैसी आनन्द-मगल-दायिनी है, वैसी स्वर्ग की भूमि नहीं। जैसी

धर्मसाधना यहाँ हो सकती है, वैसी स्वर्ग मे नहीं।

इस प्रकार मानना चाहिए कि नन्दन-वन की अपेक्षा मण्डिकुक्ष बाग उत्तम है। देव भी मण्डिकुक्ष बाग की कामना करते हैं और वहाँ आकर खडे भी रहते हैं। परन्तु यहाँ के ज्ञानी पुरुष स्वर्ग की इच्छा नहीं करते। शास्त्र मे कहा है —

नो इह लोयट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा
नो परलोयट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,,

इस प्रकार भक्त जन स्वर्ग की भी कामना नहीं करते। वे कहते हैं हम स्वर्ग की इच्छा करके अपनी भक्ति को बेचना नहीं चाहते।

आज यहाँ राजगृही नहीं है लेकिन राजकोट तो है ? नामराशि के लिहाज से दोनों मे बड़ी समानता है। कमी है तो यही कि यहाँ अनाथी मुनि जैसे मुनिवर नहीं हैं और श्रेणिक जैसे भक्त भी नहीं हैं। फिर भी धर्म का रग तो जमा है। अनाथी जेसे न सही, साधारण मुनि तो हैं। तप और त्याग भी हो रहा है। किन्तु स्वर्ग में साधारण साधु भी नहीं हैं और तप-त्याग भी नहीं होता। अतएव स्वर्ग की इच्छा करके अपनी धर्म क्रिया का विक्रय मत करो।

तुम कह सकते हो कि हम ससारी जीवों को सभी चीज की इच्छा होती है, परन्तु ज्ञानी जनों के वचन के आधार पर मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि किसी वस्तु की इच्छा न करते हुए निष्काम भाव से धर्म-कार्य करोगे तो हजार गुना लाभ होगा। इच्छा करने से लाभ होगा, ऐसा समझना भूल है।

आपकी पत्नी आपसे कहे कि मैं तुम्हारे लिए भोजन बनाती हूं। इसका मुझे मेहनताना क्या मिलेगा ? तो ऐसा कहने वाली पत्नी से आप क्या कहेंगे ? यही न कि तुम मेरे यहाँ भाड़े पर नहीं आई हो कि मेहनताना माँगो।

आप अपनी पत्नी से तो ऐसा कहते हैं और भगवान् से कहते हैं, कि यह दो, वह दो। जरा विचार करो कि यह वृत्ति कहाँ तक उचित है ? अगर आप इसी प्रकार माँगते रहे तो परमात्मा के घर के अधिकारी नहीं बन सकते। अधिकारी बनने के लिए परमात्मा की प्रार्थना करोगे तो आपको सांसारिक वस्तुओं की इच्छा तुच्छ प्रतीत होगी।

इस विषय मे सभी शास्त्रों का मन्तव्य एक सा है। केवल अर्थ करने मे भिन्नता होती है। किन्तु स्याद्वाद दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि सभी शास्त्र सत्य के प्रतिपादक हैं। एक प्रमाण द्वारा इस बात को समझिए।

मीराँ से किसी ने कहा— आपको राणा प्रिय क्यों नहीं हैं ? तब उन्होंने उत्तर दिया —

संसारीनु सुख एव, झाझवानु नीर जेवु ।
तेते तुच्छ करी फरी रे मोहन प्यारा ॥

इसकी व्याख्या करने मे देर लगेगी, फिर भी इस संबध मे थोड़ा कहूगा। मैंने शाकर भाष्य देखा तो उसमे भी यही कहा है कि ससार के जीव मृगजल की तरह भ्रम मे पड़ कर भटकते फिरते हैं। जैसे सूर्य की किरणें रेत पर पड़ने से पानी का भ्रम होता है

और उसे पानी मानकर हिरण उसके पीछे दौडते है। परन्तु पानी न मिलने के कारण उनकी तृषा शान्त नहीं होती और वे हताश हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी ससार और शरीर के विषय मे 'यह मेरा है' ऐसा मान बैठती है और इस भ्रम के कारण ससार में भटकती है। रेत को पानी मान लेने से जैसे वास्तव मे पानी नहीं मिलता और तृषा शान्त नहीं होती, उसी प्रकार सासारिक भोगों की इच्छा करने से वास्तविक सुख नहीं मिलता। सुख का आभास मात्र होता है।

मीरा भी यही बात कहती है कि ससार का सुख मृगजल सरीखा है। अतएव मैं सासारिक सुख के भ्रम मे भटकना नहीं चाहती। जैसे रेल की दोनों पटरियों पर चलना शक्य नहीं है, उसी प्रकार परमात्मा की भक्ति करना और ससार के सुख भोगना यह दोनों काम एक साथ नहीं बन सकते। ससार के पदार्थों का ममत्व त्याग देने पर ही परमात्मा की भक्ति हो सकती है।

कहने का आशय यह है कि यह भूमि स्वर्ग से कुछ कम नहीं है और मडिकुक्ष बाग नन्दवन से कुछ कम नहीं है। तुम्हारा कल्याण तो यहीं हो रहा है और यहीं हो सकता है, फिर क्यों स्वर्ग की प्रशसा अथवा इच्छा करते हो?

एक अमेरिकन डाक्टर और, जो एक अध्यात्मवादी विद्वान् था, एक दिन अपने शिष्यों के साथ जगल में गया। वहा उसके शिष्यों ने पूछा—'स्वर्ग की भूमि श्रेष्ठ है या यह भूमि श्रेष्ठ है?'

डाक्टर ने उत्तर दिया—'जिस भूमि पर तुम अपने दो पैर रख कर खड़े हो और जो भूमि तुम्हारा भार वहन कर रही है, इस

भूमि को अगर तुम स्वर्ग की भूमि से हीन समझते हो तो तुम इस पर पैर रखने के अधिकारी नहीं।'

इसी प्रकार तुम्हारा कल्याण इसी भूमि पर हो सकता है और हो रहा है। फिर भी अगर तुम स्वर्ग के ही गुण गाते रहो तो यह तुम्हारा व्यामोह ही है।

मंडिकुक्ष बाग फूलों से सुगंधित था। इसी बाग में महात्मा अनाथी विराजमान थे और वहीं राजा श्रेणिक के साथ उनकी भेंट हुई। इस कथन में गहन रहस्य भरा है। कोई पूर्ण पुरुष ही उस रहस्य को पूर्ण रूप से समझ सकता है। मैं अपूर्ण हूँ और कथन भी अपूर्ण ही होगा। फिर भी इस विषय मे कुछ कहूँगा।

फूल और मनुष्य का संबध कितना घनिष्ठ है, इस विषय पर विचार करना है। मैं स्वय वैज्ञानिक नहीं हूँ, किन्तु फूल के विषय मे वैज्ञानिकों के विचार मैंने सुने हैं। उन विचारों को शास्त्र के साथ क्या सगति है, यह मैं दिखलाने का प्रयत्न करूँगा।

फूलों मे अनेक रग होते हैं। वैज्ञानिकों के कथनानुसार रगों की इस विभिन्नता का सबध सूर्य की किरणों के साथ है। सूर्य की किरणों के कारण ही फूलों मे जुदा-जुदा रग उत्पन्न होते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सूर्य की किरणें तो सब फूलों पर समान रूप से पड़ती है, फिर उनके अलग-अलग रग होने का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर वैज्ञानिक देते हैं कि किरणों को ग्रहण करने में विभिन्नता होने के कारण फूलों के रग मे भी विभिन्नता देखी जाती है। अर्थात् जो फूल सूर्य की किरणें ग्रहण करके

अधिक से अधिक त्याग करते हैं, उनका रंग एकदम सफेद होता है। जो थोड़ा त्याग करते हैं वे गुलाबी रग के होते हैं। जो इनसे भी कम त्याग करते है वे पीले रंग के होते हैं। जो उनसे कम त्याग करते है वे लाल होते है। जो किरणों को ग्रहण अधिक करते है और त्याग कम करते हैं, वे पीले रग के होते हैं। किन्तु जो फूल सूर्य की किरणों को पूरी तरह हजम कर जाते हैं और त्याग बिल्कुल नहीं करते है, उनका रग एकदम काला होता है।

काला रंग किरणों को हजम कर जाता है, यह बात प्रत्यक्ष से भी स्पष्ट जान पड़ती है। फोटो लेने के केमरे पर काला कपडा रक्खा जाता है। दूसरे रग का कपडा रक्खा जाय तो थोड़ी-बहुत किरणें भीतर चली जाती हैं और फोटो अच्छा नहीं आता। मगर काला रग सूर्य की किरणों को अन्दर प्रवेश नहीं करने देता। वह सब किरणों को हजम कर जाता है, अतएव फोटो ठीक उतरता है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से भी यह समझा जा सकता है कि काला फूल भी किरणों को हजम कर जाता है।

मण्डिकुक्ष बाग में अनेक प्रकार के फूल थे। इस कथन का आशय यह है कि फूलों में किरणों को हरण करने की तरतमता बतलाई गई है। जैनशास्त्र के किसी अभ्यासी को यह बात समझाई जाय तो विदित होगा कि इसमें कैसी-कैसी सामग्री विद्यमान हैं। आज लोग तोता-रटन्त करके पडित बन जाते हैं और फिर कहते हैं— जैनशास्त्रों मे कुछ भी नहीं है। वास्तव मे ऐसे लोग जैनशास्त्रों में गहरे उतर कर समझने का प्रयत्न ही नहीं करते। पोथी पढ़ लेने

से ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, परन्तु गुरु की उपासना करके समझने का प्रयास करने से ही शास्त्रार्थ समझा जा सकता है। गुरु की कृपा बिना वस्तु पूरी तरह नहीं समझी जा सकती। एक कवि ने इस विषय मे कहा है:—

पढके न वैठे पास अक्षर बाच सके,
बिना ही पढे कहो कैसे आवे फारसी।
जौहरी के मिले बिन हाथ नग लिये-
फिरो बिना जौहरी वाको सशय न टार सी।
'सुन्दर' कहत मुख रच हूँ न देख्यो जाय,
गुरु बिन ज्ञान जैसे अन्धे तम आरसी ॥

अर्थात्—पुस्तक मे अक्षर तो सब हैं, किन्तु उस्ताद के विना फारसी नहीं आती। हाथ मे नग है परन्तु जौहरी की सहायता बिना उसकी कीमत कौन आंक सकता है? बूटियां तो अनेक हैं परन्तु जब तक उनकी उपयोगिता न जान ली जाय तब तक वह किस काम की? दवा का उपयोग बताने वाला डाक्टर न हो तो दवा का होना किस मतलब का? इसी प्रकार पुस्तक होने पर भी उसका ज्ञान गुरु से प्राप्त करना चाहिए। गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त करना अंधेरे में आरसी लेकर मुँह देखने के समान है।

आज लोग गुरु की सहायता लिये बिना पुस्तकों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, यही बुराई है। योग्य गुरु की सहायता से जैन शास्त्रों को समझा जाय तो उनके गुह्य रहस्यों का ज्ञान हो। अगर आप प्रत्येक बात को गुरु के पास से समझ कर विश्वास करो

तो भ्रम में न पड़ो और आत्मा का कल्याण भी कर सको।

शास्त्रों मे अनेक स्थलों पर लेश्या के सम्बन्ध मे उल्लेख किया गया है। लेश्या दो प्रकार की होती है—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। इन भेदों पर विचार करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि लेश्या का अर्थ क्या है? लेश्या की व्युत्पत्ति है—

लेश्यति-इति लेश्या

जैसे गोंद दो कागजों को चिपका देता है, उसी प्रकार आत्मा और कर्मों को जो चिपकावे वह लेश्या है। किसी-किसी आचार्य के मत से 'योगप्रवृत्ति' लेश्या' अर्थात्, मन, वचन और कार्य की प्रवृत्ति लेश्या है। कोई कोई कहता है—

कृष्णादि द्रव्य साचिव्याद् आत्मन' परिणाम विशेषो लेश्या।

अर्थात् कृष्ण आदि द्रव्यों के सयोग से आत्मा का जो परिणाम विशेप होता है, उसे लेश्या कहते हैं।

शुक्ल, पीत, तेजो, कापोत, नील और कृष्ण, यह छह प्रकार की लेश्याएँ हैं। शुक्ल का रग सफेद होता है, पीत का रग पीला होता है, तेजो का रग लाल होता है, कापोत का रङ्ग कबूतर के रङ्ग जैसा होता है, नील का रग नीला व कृष्ण लेश्या का रग काला होता है।

अब हमें देखना है कि फूल और लेश्या के बीच क्या साम्य है? यह आत्मा प्रकृति से कुछ न कुछ ग्रहण करती ही है। हवा, पानी आदि की प्राकृतिक सहायता लिये बिना तो जीवन ही नहीं टिक सकता, अतएव प्रकृति की सहायता लेनी ही पड़ती है। जिस

प्रकार फूल सूर्य की किरणों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी किसी न किसी की सहायता लेता है। जो आत्मा जितनी सहायता लेता है, उससे भी अधिक त्याग करता है, वह शुक्ल लेश्या वाला है। ज्यों ज्यों त्याग मे कमी आती जाती है त्यों-त्यों लेश्या भी हीन और हीनतर होती जाती है। अन्त में जो दूसरों की सहायता लेना ही जानता है, देना नहीं जानता, वह कृष्ण लेश्या वाला है।

वर्ण के साथ ही लेश्या के वर्ण, गध और रस और स्पर्श का भी सम्बध है। शास्त्र मे इनका वर्णन मिलता है। कृष्ण लेश्या वाले के भाव खराब होते हैं, अतएव उसकी गध भी खराब होनी चाहिए पर इस बात का निर्णय अगर अपनी नाक से सू घ कर कोई करना चाहे तो यह उसकी भूल है। प्रत्येक बात उसके समुचित साधनों द्वारा ही जानी जा सकती है। कहते हैं, मन का भी फोटो उतरता है। अब कोई साधारण केमरा द्वारा मन का फोटो लेना चाहे तो कैसे ले सकता है ? मन का फोटो लेने के लिए केमरा भी विशेष प्रकार का होना चाहिए। इसी प्रकार लेश्या के वर्ण, रस, गध और स्पर्श के वगैरह को जानने के लिए उपयुक्त साधनों की आवश्यकता है। यह द्रव्यलेश्या की बात हुई। द्रव्यलेश्या और भावलेश्या परस्पर सम्बधित है। अत द्रव्यलेश्या की तरह भावलेश्या भी समझनी चाहिए।

जैसे फूलों का सुधार किया जा सकता है, उसी प्रकार लेश्या का भी सुधार किया जा सकता है। गुलाब सफेद भी होता है और

काला भी होता है, जो काला होता है उसका भी सुधार हो सकता है। इसी प्रकार अशुभ लेश्या को भी सुधारा जा सकता है। अतएव आप भी लेश्या को सुधारने का प्रयत्न करो।

आप पूछ सकते हैं लेश्या का सुधार किस प्रकार हो सकता है ? और उसका सुधार करने से क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आजकल के लिए भगवान् महावीर ने विधान किया है कि साधु सफेद वस्त्र धारण करें। फिर भी कोई रंगीन वस्त्र पहने तो आप दोष मानेंगे या नहीं ? रंग में भाव का भी सम्बंध है और रंगीन वस्त्रों के परिधान से भावों में भी अन्तर पड़ जाता है। सफेद रंग स्वाभाविक है। अतएव भगवान् ने सफेद वस्त्र पहनने का विधान किया है। स्वाभाविक रंग मे भावों की भी स्वाभाविकता रहेगी। भावों में अस्वाभाविकता न आ जाय, इसी उद्देश्य से भगवान् ने साधुओं के खान-पान आदि की भी विधि बतलाई है और यह भी बतलाया है कि साधु क्या खाय और क्या न खाय ?

कुछ लोग कहते हैं, जिसमे जीव विद्यमान है, जैसे कि बन-स्पति आदि, उसे छोड़ कर कोई भी वस्तु खाई जाय तो क्या बाधा है ? इसका उत्तर यह है कि खाने की कोई-कोई वस्तु रजोगुणी होती है, कोई तमोगुणी होती है और कोई सतोगुणी होती है। खानपान मे केवल जीव का ही विचार नहीं किया गया है, परन्तु प्रकृति का भी विचार किया गया है। गीता में भी कहा है कि जो जैसा भोजन करता है, उसकी प्रकृति भी वैसी ही हो जाती है।

कृष्ण की मूर्ति के सामने मद्य, मांस, प्याज, या लहसुन का भोग क्यों नहीं चढ़ाया जाता ? यह सब चीजें तमोगुण को उत्पन्न करने वाली हैं, इसीलिए इनका निषेध है। इसी हेतु लहसुन आदि खाने का महात्मा निषेध करते हैं। वे केवल जीवन की दृष्टि से ही नहीं, वरन् प्रकृति की दृष्टि से भी उनका निषेध करते हैं। जीवों के विचार के साथ प्रकृति का भी विचार किया गया है। शास्त्र में कहा है कि साधु को तमोगुणी वस्तु खाने में बहुत विवेक और विचार रखना चाहिए। शास्त्र मे विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को विगय, या विकृति गिना गया है।

जो साधु, आचार्य और उपाध्याय को गोचरी बताये बिना विगय खाता है, वह दंड का भागी होता है। दूध, दही, घी आदि के सम्बन्ध मे जीव की दृष्टि से विचार नहीं किया गया है, परन्तु यह वस्तुएँ किसको किस प्रकार विकार जनक होती हैं, इस दृष्टि से विचार किया गया है। अतएव खाने मे भी विचार और विवेक रखने की आवश्यकता है। खान-पान पर नियन्त्रण रख कर अपनी प्रकृति को सतोगुणी बनाना चाहिए। ऐसा करने से लेश्या में भी सुधार होगा।

आज कई लोग मदिरा को लाल शर्बत कह कर सोचते हैं कि इसके पीने में क्या हानि है ? परन्तु गभीर भाव से सोचना चाहिए कि ऐसी वस्तुएँ कितनी हानिकारक हैं। कुरान और हदीसों में कहा है कि जो वस्तु बुद्धि मे विकृति उत्पन्न करती हैं, उन्हें खाना-पीना नहीं चाहिए। वे वस्तुएँ हराम हैं।

इस प्रकार का विधि-निषेध प्राय प्रत्येक वस्तु के विषय मे सब शास्त्रों मे मिलता है। यह बात अलग है कि किसी जगह देश-काल को देख कर किसी अखाद्य वस्तु को एकदम निषेध न किया गया हो, लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसकी छूट दी गई है। ऐसा समझ लेना भूल होगी। मैंने कुरान मे देखा है कि अल्लाह ने जमीन और आसमान बनाकर इन्सान के लिए फल-फूल आदि बनाये। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि कुरान के अनुसार इसान के लिए फल, धान्य आदि बनाये गये हैं। मनुष्य के लिए फल, धान्य आदि भक्ष्य हैं, किन्तु मनुष्य मनुष्य को या पशु को खा जाय, यह किसी भी प्रकार योग्य नहीं है। अली साहब ने तो जीव का मास खाने का निषेध किया है और कहा है। 'अपने पेट मे किसी की कब्र न बनाओ।'

अभिप्राय यह है कि खान-पान और वेष-भूषा से भी जीवन प्रभावित होता है, अतएव इनमे भी विवेक और विचार रखना चाहिए।

आज महिलाओं मे भी नये-नये फैशन चले है और कितने ही लोगों का कहना है कि उन्हे अपना लेने मे हानि ही क्या है? मगर ऐसे अन्धानुकरणप्रेमी यह नहीं सोचते कि खान-पान और वेषभूषा का परिणाम क्या होता है? इससे सस्कृति, स्वभाव और प्रकृति पर कैसा प्रभाव पड़ता है?

आप लोग सामायिक मे वस्त्र उतार कर क्यों बैठते हैं? इसलिए कि वस्त्र उतारने से भाव मे भी परिवर्तन होता है। मुसलमान

नमाज पढ़ते समय सादा वस्त्र पहनते है। इसका कारण यह है कि ऐसा करने से अहकार दूर होता है। कपड़ों से भी अहकार उत्पन्न होता है। खादी और विलायती वस्त्र में अहकार की दृष्टि है या नहीं ? दारू और दूध पीने वाले की बुद्धि मे अन्तर होता है या नहीं ? इस तथ्य को जो जानता है वही समझ सकता है। किन्तु जो लोग आदत से लाचार है, उन्हें तो खराब वस्तु भी अच्छी लगती है।

मैंने गांधीजी की 'आरोग्यविचार' नामक पुस्तक देखी है। उसमे लिखा है कि—किसी देश के लोग विष्ठा भी खाते है। वे लोग विष्ठा खाते हैं, अतएव विष्ठा खाने योग्य वस्तु तो नहीं कही जा सकती।

जयपुर के भगी विष्ठा को सडा कर उसमे उत्पन्न हुए कीडों का रायता बनाते हैं और बडी रुचि के साथ खाते हैं। क्या उनके खाने से विष्ठा के कीडे खाने योग्य पदार्थ मान लिये जाएँ ?

पनवेल में मैंने देखा कि मछलियों की दुर्गन्ध चारों ओर फैली हुई थी। एक भाई ने मुझसे कहा— मछलियाँ खाने वाले लोग बडे मजे से मछलियाँ खाते है।

इस प्रकार कोई मनुष्य अपनी आदत के कारण बुरी वस्तु को भी अच्छी मानने लगे यह बात अलग है, परन्तु उसके मानने मात्र से बुरी वस्तु अच्छी नहीं हो जाती। अतएव तुम खान-पान और पोशाक के सम्बध मे गहरा विचार करो और जो वस्तुएँ हानिकारक हों उनका त्याग कर दो और सात्विक पदार्थों को ही ग्रहण करो। ऐसा करने से लेश्या मे भी सुधार होगा।

तत्थ सो पासइ साहुं, संजयं सुसमाहियं ।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि, सुकुमालं सुहोइयं ॥ ४ ॥

अर्थ—वहां राजा ने वृक्ष के मूल मे बैठे हुए, सुकुमार, सुख में पले और बडे हुए, समाधिमान्, सयमी साधु को देखा ।

व्याख्यान—आत्मा भ्रम में पड़कर वहुत बार भौतिक सुखों के पीछे भटकता है और उस सुख के अभिमान मे अपने को 'नाथ' और दूसरों को अनाथ मानने लगता है। परन्तु सचाई यह है कि 'मैं सब का नाथ हूँ', इस अभिमान मे आकर वह स्वय अनाथ वन जाता है ।

राजा श्रेणिक भी भौतिक सुख के अभिमान में आकर अपने आपको सबका नाथ मानता था। परन्तु श्रेणिक की यह बड़ी भूल थी। इस भूल को महामुनि अनाथी ने अपने उपदेश द्वारा दूर किया और उसे यह समझाया कि श्रेणिक स्वय अनाथ है। साथ ही उसे आध्यात्मिक सुख का मार्ग बतलाया। इस गाथा मे उन्हीं महामुनि का परिचय दिया गया है ।

राजा श्रेणिक मण्डिकुक्ष बाग में विहार यात्रा के लिए आया था। वह शाही ठाठ से आया होगा, परन्तु शास्त्र में इस विषय का कोई वर्णन नहीं मिलता। अतएव यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार राजा को शोभा दे, उसी प्रकार वह वहां आया होगा।

राजा श्रेणिक फूलों की गध लेता हुआ बाग मे इधर-उधर घूम रहा था। घूमते-घूमते एक महापुरुष साधु पर उसकी नजर पड़ी। वह महात्मा सयत अर्थात् सम्यक् प्रकार से आत्मा की

यतना करने वाले और संयम के धारक थे। यह बात उनके चेहरे पर झलकने वाले समाधिभाव से स्पष्ट जान पड़ती थी। महात्मा एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। वह सुकुमार और सुखी थे।

इस कथन पर विशेष विचार किया जाय तो वह लम्बा होगा और अनेक बातें जानने को मिलेंगी। किन्तु अभी इतना अवकाश नहीं है, अतः सक्षेप में ही कहता हूँ।

राजा ने बगीचे मे महात्मा को देखा। महात्मा के विराजमान होने से बगीचे मे कोई विशेषता आ गई होगी। शास्त्रकारों का कहना है कि महात्माओं के सयम का परिचय तो उनके आसपास का वातावरण ही दे देता है। जहा महात्मा विराजमान होते हैं, वहां उनकी शान्ति के प्रताप से वैर-विरोध रह ही नहीं जाता। जिन जीवों में स्वाभाविक वैर विरोध होता है, ऐसे सिंह और बकरी सरीखे प्राणी भी निर्वैर होकर शान्तिपूर्वक एक साथ बैठते और रहते हैं। भयभीत जीव भी निर्भय हो जाते हैं। इस प्रकार महात्माओं का प्रभाव चेतन जगत् पर तो पडता ही है, किन्तु जड़ पदार्थों पर भी पडे बिना नहीं रहता। इस नियम के अनुसार उन महात्मा का प्रभाव मडिकुक्ष बाग पर पडा ही होगा। राजा श्रेणिक सोचता होगा कि आज बगीचे में क्या अनोखापन है। इसी समय उसकी दृष्टि वृक्ष के नीचे बैठे महात्मा पर जा पड़ी।

साधु के साथ वृक्ष का भी वर्णन किया गया है। साधु और वृक्ष की तुलना की जाय तो दोनों में बहुत समानता प्रतीत होगी। ग्रन्थकारों ने मुनि और वृक्ष का साम्य बतलाया है। वृक्षों पर शीत और आतप गिरते हैं, मगर वे किसी के सामने फरियाद नहीं

करते, वरन् समभावपूर्वक सहन करते हैं।

जिस प्रकार वृक्ष पवन का आघात सहन करते हैं, उसी प्रकार तुम भी सहनशील बनो। ऐसे करने से ससार की कठोर से कठोर विपत्तियां सिर पर आ पडने पर भी तुम दृढ रह सकोगे। सहिष्णुता का अभ्यास करना कल्याण का मार्ग है। जो सहनशील होता है, वही आगे चल कर उन्नति कर सकता है।

महाभारत से कहा है कि युधिष्ठिर ने भीष्म से कहा—अब आपका अन्त समय सन्निकट आ गया है, अत मैं आपसे एक बात और पूछना चाहता हूँ। आपने मुझे धर्म और राजनीति की अनेक बातें बतलाई हैं। मगर एक बात पूछना शेप रह गया है। वह अब पूछना चाहता हू।

भीष्म ने उत्तर दिया—जो पूछना चाहते हो, खुशी से पूछो। मैं तुम्हारी तिजोरी मे शिक्षा की जो बातें रख दूँ, वे सुरक्षित ही हैं।

युधिष्ठिर—कोई प्रबल शत्रु आक्रमण करदे तो राजधर्म के अनुसार क्या करना चाहिए?

भीष्म—इसके लिए मैं एक प्राचीन कथा सुनाता हू। उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

नदियों का स्वामी समुद्र, सब नदियों के वर्ताव से प्रसन्न रहता था, किन्तु वेत्रवती नदी के वर्ताव से अप्रसन्न हुआ और कहने लगा—तू बड़ी कपटिन है। तू निष्कपट होकर मेरी सेवा नहीं करती।

नदी बोली—मेरा अपराध क्या है?

समुद्र—तेरे तीर पर बेंत बहुत होते हैं, परन्तु किसी भी दिन तूने बेंत का एक टुकड़ा भी लाकर मुझे नहीं दिया। और-और नदियां तो अपने-अपने तीर पर होने वाली वस्तुएँ मुझे भेंट करती हैं, पर तू बड़ी कपटमूर्ति है। तू ने आज तक मुझे बेंत नहीं दिया।

समुद्र का कथन सुन कर नदी कहने लगी—इसमें मेरा कुछ भी अपराध नहीं है। जब मैं जोश के साथ सपाटा मार कर आपकी ओर दौड़ती आती हूँ तब बेंत नीचे झुक कर पृथ्वी पर लग जाते हैं और जब मेरा पूर उतर जाता है तो ज्यों के त्यों खडे हो जाते हैं। इस कारण मैं एक भी बेंत को नहीं तोड़ पाती। ऐसी स्थिति मे मेरा क्या अपराध है ?

समुद्र ने कहा—ठीक है। मैं यह बात जानता हूँ, परन्तु तेरे साथ हुआ मेरा यह सवाद दूसरों के लिए हितकारी सिद्ध होगा।

यह सवाद सुनाकर भीष्म ने युधिष्ठिर ने कहा—युधिष्ठिर। जब अपने से अधिक बलशाली शत्रु से सामना करना पडे तब क्या करना चाहिए, इस विषय मे बेंत से शिक्षा ग्रहण करो। शत्रु प्रबल हो तो नम्रता धारण कर लेना ही उचित है। बेंत नीचे झुक जाता है, परन्तु अपनी जड़ को नहीं उखडने देता और पूर उतरने पर ज्यों का त्यों तन कर खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार अपनी जड को मजबूत रखकर प्रबल शत्रु के सामने झुक जाना चाहिए। जो बहुत तेज सपाटे के साथ आता है वह लम्बे काल तक नहीं टिक सकता। अतएव जब प्रबल शत्रु आवे तो झुक जाना चाहिए और जब चला जाय तो फिर ज्यों का त्यों खडा हो जाना चाहिए। सबल शत्रु के आने पर भी जो अकड़ कर खड़ा रहता है, उसकी जड़

उखड़ जाती है और उसके लिए फिर खड़ा होना शक्य नहीं रहता। अतएव नम्र होकर अपनी जड़ को उखड़ जाने से बचा लेना ही बुद्धिमत्ता है।

युधिष्ठिर को धर्मराज और अजातशत्रु भी कहा जाता है। वह किसी को अपना शत्रु नहीं मानते थे। इसी प्रकार वृक्ष भी अजातशत्रु हैं, वे भी किसी को अपना शत्रु नहीं मानते। युधिष्ठिर की अजातशत्रुता के विषय मे तो तर्क-वितर्क भी हो सकता है, परन्तु वृक्षों की अजातशत्रुता के विषय मे किसी को सन्देह नहीं हो सकता। पवन, शीत, ताप, धूप, वर्षा आदि के कष्ट सहते हुए भी वे अडोल-अचल रहते हैं। इसके अतिरिक्त वृक्ष की कोई शाखा बिजली से खिर जाय अथवा पाला पड़ने से जल जाय या कोई काट ले तो भी वृक्ष रोता नहीं। जो शाखाएँ अवशिष्ट रहती हैं, उन्हीं मे ऋतु के अनुसार फलों-फूलों को पोषण दिया करता है।

ससार मे एक दु ख तो पुत्र, माता या किसी अन्य स्वजन की मृत्यु होने पर आ पड़ता है और दूसरा दु ख वे रो-कलप कर—हाय-हाय करके स्वय उत्पन्न कर लेते हैं। परन्तु हानि होने पर अपनी शक्ति का अधिक ह्रास न होने देकर विकास करना चाहिए, इस प्रकार की शिक्षा लोग वृक्षों से लें तो कितना लाभ हो,

एक कवि कहता है—

> रे मन! वृक्ष की मति लेहु रे!
> काटन वाले से नहीं वैर कछु,
> सींचन वाले से नहीं है स्नेह रे॥

कवि मन को सबोधन करके कहता है—अरे मन! तू वृक्ष

से शिक्षा क्यों नहीं लेता ? वृक्ष को कोई कुल्हाडे से काटता है तो वह उसके प्रति वैरभाव धारण नहीं करता, यही नहीं उसे भी वह शीतल छाया और खाने को फल फूल देता है। और वृक्ष अपने को सींचने वाले पर भी राग नहीं करता। इस प्रकार वृक्ष प्रत्येक पर समभाव रखता है। हे मन ! तू इस समभाव को क्यों नहीं सीखता ?

वृक्ष में विद्यमान इस समभाव को तुम क्यों नहीं धारण करते ? वृक्ष से भी गये-बीते क्यों बन रहे हो ? वृक्ष को लोग जड़ समझते है (यद्यपि वह जड़ नहीं, एकेन्द्रिय जीव है), लेकिन तुम तो चेतन हो। चेतन होकर भी इस गुण को ग्रहण नहीं कर सकते ?

जैसे वृक्ष किसी को दुःख नहीं पहुँचाता, उसी प्रकार मनुष्य किसी को दु ख न पहुचावे, तो फिर ससार मे कोई किसी का शत्रु ही न रहे।

कदाचित् आप सोचेंगे कि हम ऐसे सरल बन जाएँगे तो शत्रु हमे मार ही डालेंगे। परन्तु वृक्ष इस विषय मे क्या कहता है ? वृक्ष कहता है—'मैं किसी दूसरे के द्वारा नहीं काटा जाता, किन्तु अपने वशजों द्वारा ही काटा जाता हूँ।'

अगर कुल्हाड़ी मे लकडी का हत्था न हो तो वृक्ष मे घाव लग सकता है, पर वह कट नहीं सकता। वह जब कटता है तो अपने वंशज लकड़ी के हत्थे की सहायता से ही कटता है। इसी प्रकार तुम्हारे प्रति अगर कोई वैर रखता हो तो भी जब तक तुम अपने मन को सहायता न दो, वह तुम्हारा कुछ भी नहीं कर सकता। तुम शत्रु के हाथ मे अपने मन का हत्था देते हो तभी

रूपी वैर तुम्हारा अनिष्ट कर पाता है। तुम अपने मन को वेर की ओर न जाने दो तो तुम्हारा कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। वृक्ष को अजातशत्रु कहने का यही हेतु है। वृक्ष कितने उपकारक हैं, फिर भी लोग अपने मौज-शोक के लिए उन्हें काट गिराते हैं।

घाटकोपर मे मै जगल गया था। लौटते समय मैंने देखा कि जो वृक्ष थोड़ी देर पहले हरा भरा खडा था, वही अब धरती पर कटा पडा है। मेरे साथी साधुओं ने काटने वालों से पूछा—किस लिए तुमने इस वृक्ष को काटा है? उन्होंने उत्तर दिया—इस वृक्ष के कोयले से चूना की भट्ठी पकाई जाएगी। पके हुए चूने को बगला बनाने के लिए काम मे लाया जाएगा।

इस प्रकार बगले बनवाने के लिए ऐसे उपकारी हरे-भरे वृक्षों को काट फेंका जाता है।

मैंने हदीसों को देखा है। उनमे 'कतिलुल हाजर' को महापाप माना गया है। अर्थात् हरे वृक्षों को काटना अपराध है। हरे वृक्ष सब को शान्ति देते हैं, परन्तु बगले सब को शान्ति नहीं दे सकते। केवल मकानों के लिए ही वृक्ष नहीं काटे जाते, किन्तु आजकल तो मशीनों के कारण वृक्षों का व्यापक विनाश हो रहा है। एजिनों में भी लकड़ी और कोयला काम मे लाया जाता है और इसके लिए वृक्ष काटे जाते हैं। इस प्रकार यत्रों ने वृक्षों का विशेष विनाश किया है। मगर वृक्षों के नाश के साथ प्रकृति के सौन्दर्य का और तुम्हारे सुख का भी नाश हो रहा है।

बाग मे वृक्ष के नीचे जो महात्मा बैठे थे, वह भी वृक्ष के समान ही सहनशील थे। कैसी भी आपत्ति क्यों न आ पड़े, उसे समता-

पूर्वक सहन करने वाले थे। तुम भी वृक्ष के समान सहनशील बनो तो तुम्हारी आत्मा गुणशील बनेगी और तुम्हारा कल्याण होगा।

इस गाथा में बतलाया गया है कि राजा ने साधु को देखा। अतएव यहां देखना है कि साधु किसे कहते हैं ? साधु शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

साधयति स्व-पर कार्याणि इति साधुः।

अर्थात्—जो अपना और दूसरों का कार्य साधता है, वह साधु कहलाता है। नदिया जाती तो समुद्र की ओर है, पर जिधर से जाती हैं, उधर के आसपास के प्रदेश को सींचती और फलद्रूप बनाती जाती हैं। इसी प्रकार साधु भी अपना कार्य सिद्ध करते हुए दूसरों का कार्य साधते हैं, जैसे वृक्ष स्वभावत फलते-फूलते हैं और यह नहीं सोचते कि हम दूसरों के लिए फलें-फूलें, फिर भी दूसरों के उपकारक सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार साधु भी अपना कार्य साधते हुए दूसरों का उपकार करते हैं। जैसे वृक्ष अपनी प्रशंसा से हर्ष और निन्दा से विषाद का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार साधु भी अपनी निन्दा से दुःखी नहीं होते और प्रशसा से फूलते नहीं। जैसे वृक्ष पत्थर मारने वाले को भी फल-फूल, अन्तत छाया देते हैं, उसी प्रकार साधु निन्दा करने वाले को भी तत्त्व का बोध देते हैं और अपनी आत्मा के समान मानते है।

इस प्रकार जो स्वय मुक्ति की साधना करते हैं और उपासना करनेवाले को मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं, वह साधु हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि गाथा में जब 'साधु' शब्द का प्रयोग किया

गया है तो फिर उसी के समानार्थक 'संयत' पद का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न के उत्तर मे टीकाकार कहते हैं कि साधुता गृहस्थों में भी हो सकती है। आरम्भ-समारम्भ में रहने पर भी गृहस्थ स्व-पर का कल्याण साध सकता है। साहित्य में गृहस्थ को भी साधु शब्द से सम्बोधन किया गया है। जो अपने स्वार्थ का साधन करता हुआ परमार्थ को नहीं भूल जाता, वह गृहस्थ भी साहित्य मे साधु कहा गया है।

गृहस्थ की यह साधुता तुम्हें भी सीखनी चाहिए और वृत्तों से भी शिक्षा लेनी चाहिए। वृक्ष अपने काटने वाले को भी शीतल छाया देता है, इसी प्रकार तुम भी दूसरों का उपकार करो। स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बी जनों को तो छाया देते ही हो, उनकी सार-सभाल रखते ही हो, परन्तु जब कोई गरीब तुम्हारे यहां आकर छाया मांगे तो उसे दुतकारो मत।

श्रीज्ञातासूत्र में मेघ कुमार का वर्णन है। उसके पूर्वभव का वृत्तान्त बतलाते हुए कहा गया है कि एक हाथी ने अपने रहने के लिए जगल में चार कोस का मंडल बनाया था। परन्तु जब जगल में दावानल सुलगा तो दूसरे दूसरे प्राणी अपने प्राणों की रक्षा के लिए उस मंडल में आ गये। तब हाथी ने उन प्राणियों को बाहर नहीं निकाल दिया, वरन् स्थान दिया। जो प्राणी उसके मडल में आये थे, वे उसके आत्मीय या सजातीय नहीं थे, फिर भी उसने विचार किया—जैसे मुझे आश्रय की आवश्यकता है, उसी प्रकार इन जीवों को भी आश्रय चाहिए। आश्रय पाने के लिए ही यह यहाँ आए हैं। अतएव इन्हें आश्रय देना ही चाहिए।

हाथी की उदारता कितनी महान् है ? हाथी ने कितने शास्त्रों और कितनी पुस्तकों का स्वाध्याय किया था कि उसमें इतनी बडी उदारता आ गई ? तुमने शास्त्रों का स्वाध्याय किया है, पुस्तकें पढ़ी हैं, फिर भी ऐसी उदारता नहीं क्यों नहीं आई ? तुम पढे-लिखे हो, तुम में कोई बी० ए० है, कोई एम० ए० है और किसी ने सरकार से रावबहादुर का खिताब पाया है, फिर भी तुम्हें इस प्रकार की उदारता का विचार क्यों नहीं आता ?

हाथी ने उन जीवों को अपने मडल में स्थान दिया। इतना ही नहीं, कितनेक प्राणी उसके पैरों के बीच मे जो स्थान था, उसमें भी आ घुसे। फिर भी उसे क्रोध नहीं आया। उसने शरीर खुजलाने के लिए पैर ऊँचा किया तो मौका पाकर एक खरगोश उस खाली जगह मे बैठ गया। ऐसे समय हाथी को क्रोध आ सकता था। वह चाहता तो पैर जमीन पर रख देता और खरगोश का कचूमर निकल जाता। चाहता तो सूंड से पकडकर दूसरी जगह फैंक देता। मगर हाथी ने ऐसा नहीं किया। उसने विचार किया-खरगोश आग के भय से यहाँ आया है, अतएव उसे आश्रय मिलना ही चाहिए। यह विचार करके उसने अपना पैर ऊपर ही उठाये रक्खा। बहुत देर तक ऊँचा रखने के कारण पैर अकड़ गया और हाथी धड़ाम से धरती पर गिर पडा। परन्तु अपनी उदारता के कारण उसने श्रेणिक राजा के पुत्र रूप मे जन्म लिया। आपको विचार करना है कि जब हाथी में भी इतनी उदारता थी तो आप मे कितनी उदारता नहीं होनी चाहिए ?

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार गृहस्थ भी साधुता को धारण

गया है तो फिर उसी के समानार्थक 'संयत' पद का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न के उत्तर मे टीकाकार कहते हैं कि साधुता गृहस्थों में भी हो सकती है। आरम्भ-समारम्भ में रहने पर भी गृहस्थ स्व-पर का कल्याण साध सकता है। साहित्य मे गृहस्थ को भी साधु शब्द से सम्बोधन किया गया है। जो अपने स्वार्थ का साधन करता हुआ परमार्थ को नहीं भूल जाता, वह गृहस्थ भी साहित्य मे साधु कहा गया है।

गृहस्थ की यह साधुता तुम्हे भी सीखनी चाहिए और वृक्षों से भी शिक्षा लेनी चाहिए। वृक्ष अपने काटने वाले को भी शीतल छाया देता है, इसी प्रकार तुम भी दूसरों का उपकार करो। स्त्री पुत्र आदि कुटुम्बी जनों को तो छाया देते ही हो, उनकी सार-सभाल रखते ही हो, परन्तु जब कोई गरीब तुम्हारे यहां आकर छाया मांगे तो उसे दुतकारो मत।

श्रीज्ञातासूत्र मे मेघ कुमार का वर्णन है। उसके पूर्वभव का वृत्तान्त बतलाते हुए कहा गया है कि एक हाथी ने अपने रहने के लिए जगल में चार कोस का मंडल बनाया था। परन्तु जब जंगल में दावानल सुलगा तो दूसरे दूसरे प्राणी अपने प्राणों की रक्षा के लिए उस मंडल में आ गये। तब हाथी ने उन प्राणियों को बाहर नहीं निकाल दिया, वरन् स्थान दिया। जो प्राणी उसके मडल में आये थे, वे उसके आत्मीय या सजातीय नहीं थे, फिर भी उसने विचार किया—जैसे मुझे आश्रय की आवश्यकता है, उसी प्रकार इन जीवों को भी आश्रय चाहिए। आश्रय पाने के लिए ही यह यहाँ आए हैं। अतएव इन्हें आश्रय देना ही चाहिए।

हाथी की उदारता कितनी महान् है ? हाथी ने कितने शास्त्रों और कितनी पुस्तकों का स्वाध्याय किया था कि उसमे इतनी बडी उदारता आ गई ? तुमने शास्त्रों का स्वाध्याय किया है, पुस्तकें पढ़ी हैं, फिर भी ऐसी उदारता नहीं क्यों नहीं आई ? तुम पढे-लिखे हो, तुम मे कोई बी० ए० है, कोई एम० ए० है और किसी ने सरकार से रावबहादुर का खिताब पाया है, फिर भी तुम्हें इस प्रकार की उदारता का विचार क्यों नहीं आता ?

हाथी ने उन जीवों को अपने मडल मे स्थान दिया। इतना ही नहीं, कितनेक प्राणी उसके पैरों के बीच मे जो स्थान था, उसमे भी आ घुसे। फिर भी उसे क्रोध नहीं आया। उसने शरीर खुजलाने के लिए पैर ऊँचा किया तो मौका पाकर एक खरगोश उस खाली जगह मे बैठ गया। ऐसे समय हाथी को क्रोध आ सकता था। वह चाहता तो पैर जमीन पर रख देता और खरगोश का कचूमर निकल जाता। चाहता तो सूंड से पकडकर दूसरी जगह फैंक देता। मगर हाथी ने ऐसा नहीं किया। उसने विचार किया-खरगोश आग के भय से यहॉ आया है, अतएव उसे आश्रय मिलना ही चाहिए। यह विचार करके उसने अपना पैर ऊपर ही उठाये रक्खा। बहुत देर तक ऊँचा रखने के कारण पैर अकड़ गया और हाथी धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। परन्तु अपनी उदारता के कारण उसने श्रेणिक राजा के पुत्र रूप मे जन्म लिया। आपको विचार करना है कि जब हाथी मे भी इतनी उदारता थी तो आप मे कितनी उदारता नहीं होनी चाहिए ?

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार गृहस्थ भी साधुता को धारण

कर मकते हैं। राजा श्रेणिक ने जिन साधु को देखा था, वह ऐसे गृहस्थ साधु नहीं थे। इस बात को प्रकट करने के लिए 'सयत' पद दिया गया है। अर्थात वह महात्मा आत्मा की यतना करने वाले सयमी थे।

साधु, और सयत के साथ महात्मा को 'सुसमाहिय' भी कहा है। 'सुसमाहिय' का अर्थ है—उत्तम समाधि वाले। प्रश्न है—यह विशेषण किसलिए दिया गया है? इसका उत्तर यह है कि कुछ लोग सयत तो होते हैं और संयम के योग्य सब क्रियाएँ भी करते हैं, परन्तु तत्त्वों की श्रद्धा उलटी रखते हैं, जैसे गोशालक और जमाली। जमाली की बाह्य क्रिया उत्तम कोटि की थी, परन्तु श्रद्धा विपरीत थी। अतएव साधु सयत होने पर भी वह समाधिमान् नहीं था। यह महात्मा विपरीत श्रद्धा वाले नहीं थे, उन्हें तत्त्वों के स्वरूप मे कोई भ्रम नहीं था, यह बात स्पष्ट करने के लिए उन्हें सुसमाहिल कहा गया है।

वह साधु सुकुमार थे। जो कामदेव को पूरी तरह जीत ले, वह सुकुमार कहलाता है। उनका शरीर ऐसा था कि कामदेव को भी जीत ले। अतएव उन्हे सुकुमार कहा गया है।

उन महात्मा के लिए 'सुहोइय' विशेषण भी दिया गया है। 'सुहोइय' का अर्थ है—सुख के योग्य। जो सुख मे पले हों, जिन्होंने कभी कष्ट न देखा हो, वह शरीर से सुखी कहलाता है। किसी मनुष्य ने पहले कष्ट भोगे हों तो वर्त्तमान मे कष्ट न होने पर भी उसके शरीर पर कष्टों की छाया रह जाती है और बारीकी से देखने वाला समझ लेता है कि इसने कष्ट भोगे हैं। किन्तु पहले कष्ट भोगने पर भी उनके शरीर पर दुःख का कोई चिह्न

नहीं था। अतएव मुनि का शरीर सुखी जान पडता था।

इसके सिवाय 'सुहोइय' का दूसरा अभिप्राय यह भी है कि उनका शरीर सुख के योग्य था, अर्थात् वे सुख भोगने योग्य रूपवान् थे। तीसरे, वह शुभोचित थे, अर्थात शुभ गुणों वाले थे।

राजा श्रेणिक साधु के पास जाने के उद्देश्य से बाहर नहीं निकला था फिर भी कौन जाने कब और किस प्रकार आत्मकल्याण के साधन मिल जाते है। इधर राजा श्रेणिक का बाग मे घूमने के लिए जाना और उधर अनाथी मुनि का आगमन होना ऐसा सुन्दर योग था। इस सुयोग के होने मे भी कोई गुप्त शक्ति प्रच्छन्न रूप से विद्यमान थी, यह मानना ही पड़ता है। तुम भले प्रत्यक्ष से यह बात न मानो, परन्तु अनुमान से तो मानना ही पडेगा।

राजा ने मुनि को देखा। मुनि को देखकर वह उनकी ओर ऐसे आकर्षित हुआ जैसे चुम्बक से लोहा आकर्षित होता है। मुनि पर दृष्टि पडते ही उसके मन मे आयाः—

तस्स रूवं तु पासित्ता, राइणो तंमि संजए।
अच्चंतपरमो आसी, अउलो रूवविम्हिओ ॥ ५ ॥
अहो वण्णो! अहो रूवं, अहो अज्जस्स सोमया।
अहो खंती! अहो मुत्ती! अहो भोगे असंगया ॥६॥

अर्थ—मुनिराज के रूप को देखकर राजा श्रेणिक को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। आश्चर्य चकित राजा अपने मनमें कहने लगा—अहा, इन आर्य का वर्ण कैसा है। इनका रूप कैसा है। इनकी सरलता और शीतलता कैसी है! इनकी क्षमा और निर्लोभता

कैसी अद्भुत है। इनकी भोगों के प्रति निस्पृहता कैसी अनूठी है!

व्याख्यान—नाम की महिमा तो गाई जाती है, परन्तु नाम के साथ रूप का भी सम्बध है। साधारणतया किसी को पहिचानने के लिए नाम का उपयोग किया जाता है, परन्तु कभी-कभी रूप से भी नाम जाना जाता है। राजा मुनि के रूप को देखते ही समझ गया कि यह मुनि सयत और सुसमाधिमान् है।

स्थानागसूत्र मे चार प्रकार के सत्य कहे गये हैं। नाम से भी सत्य होता है, स्थापना से भी सत्य होता है, द्रव्य से भी सत्य होता है और भाव से भी सत्य होता है। नाम से सत्य होता है इसमें भी समझने की आवश्यकता है। किसी ने अपना नाम ही मिथ्या बतलाया हो रूप से भी सत्य सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु किसी ने रूप ही झूठा बना लिया हो तो? अतएव नाम या रूप सत्य हैं या नहीं, इस बात की परीक्षा करने को आवश्यकता रहती है। लोग छल-कपट से भी काम लेते हैं, अतएव सावधानी रखनी चाहिए।

कोई मनुष्य तुम्हारे पास आकर और झूठा नाम लेकर धोखा दे तो यह खोटा काम कहलाएगा या नहीं? और वह अपराधी गिना जाएगा या नहीं? इसी प्रकार साधु न होने पर भी कोई साधु होने का ढोंग करे तो वह बुरा कहा जाएगा या नहीं? कोई पीतल को सोना कहकर ठगाई करे तो यह अपराध माना जाएगा या नहीं? जैसे कितने ही लोग कलचर मोती को असली मोती कह कर वेचते हैं, उसी प्रकार भाव में भी धोखेबाजी चलती है। शास्त्र मे कहा है:-

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरा।
आयार भावतेणे य, कुव्वइ देवकिब्विसं॥

तप, रूप, वय, आचार-विचार आदि की चोरी करना. इनके विषय में मिथ्या भाषण करना भावचोरी है। जो भाव अपना न हो, दूसरे का हो, फिर भी उसे अपना बतलाना भी भाव चोरी है। जैसे— दूसरे की बनाई कविता को अपनी बनाई कहना, अथवा किसी की कविता के भाव लेकर उस पर अपना नाम दे देना। यह भाव चोरी है। भगवान् ने कहा है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, यह चारों सच्चे भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। अतएव इस विषय में बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

वह मुनि वास्तव में रूपवान् थे। जैसा उनका रूप था वैसे ही उनके गुण थे। रूप बनावटी है या वास्तविक, यह बात मुखाकृति देखते ही मालूम हो जाती है। बनावटी रूप छिपा नहीं रह सकता। मुनि का रूप देखते ही राजा विस्मय में पड़ गया और मन में कहने लगा—अहा, यह मुनि कैसे अतुल रूपवान् हैं। ऐसा रूपवान् तो मैंने कहीं नहीं देखा।

राजा श्रेणिक स्वयं कितना सुन्दर था, इसका वर्णन शास्त्र में आया है। एक बार वह सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करके अपनी रानी चेलना के साथ भगवान् महावीर के समवसरण में गया था। भगवान् के समवसरण में स्वभावत. वीतरागता का वातावरण रहता है। फिर भी श्रेणिक की सुन्दरता देखकर साध्वियाँ भी मुग्ध होकर सोचने लगीं—'यह पुरुष कितना सुन्दर है। हमारे तप और संयम के फलस्वरूप हमें ऐसे ही सुन्दर पुरुष की प्राप्ति हो।' इसी प्रकार रानी चेलना को देखकर साधुओं ने निदान किया था—'हमारे तप और संयम के फलस्वरूप हमें ऐसी सुन्दरी स्त्री प्राप्त हो।' कहने

कैसी अद्भुत है। इनकी भोगों के प्रति निस्पृहता कैसी अनूठी है!

व्याख्यान —नाम की महिमा तो गाई जाती है, परन्तु नाम के साथ रूप का भी सम्बध है। साधारणतया किसी को पहिचानने के लिए नाम का उपयोग किया जाता है, परन्तु कभी-कभी रूप से भी नाम जाना जाता है। राजा मुनि के रूप को देखते ही समझ गया कि यह मुनि सयत और सुसमाधिमान् हैं।

स्थानांगसूत्र मे चार प्रकार के सत्य कहे गये हैं। नाम से भी सत्य होता है, स्थापना से भी सत्य होता है, द्रव्य से भी सत्य होता है और भाव से भी सत्य होता है। नाम से सत्य होता है इसमें भी समझने की आवश्यकता है। किसी ने अपना नाम ही मिथ्या बतलाया हो रूप से भी सत्य सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु किसी ने रूप ही झूठा बना लिया हो तो? अतएव नाम या रूप सत्य हैं या नहीं, इस बात की परीक्षा करने की आवश्यकता रहती है। लोग छल-कपट से भी काम लेते है, अतएव सावधानी रखनी चाहिए।

कोई मनुष्य तुम्हारे पास आकर और झूठा नाम लेकर धोखा दे तो यह खोटा काम कहलाएगा या नहीं? और वह अपराधी गिना जाएगा या नहीं? इसी प्रकार साधु न होने पर भी कोई साधु होने का ढोंग करे तो वह बुरा कहा जाएगा या नहीं? कोई पीतल को सोना कहकर ठगाई करे तो यह अपराध माना जाएगा या नहीं? जैसे कितने ही लोग कलचर मोती को असली मोती कह कर बेचते हैं, उसी प्रकार भाव मे भी धोखेबाज़ी चलती है। शास्त्र मे कहा है:-

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरा।
आयार भावतेणे य, कुव्वइ देवकिब्बिसं॥

तप, रूप, वय, आचार-विचार आदि की चोरी करना, इनके विषय मे मिथ्या भाषण करना भावचोरी है। जो भाव अपना न हो, दूसरे का हो, फिर भी उसे अपना बतलाना भी भाव चोरी है। जैसे-दूसरे की बनाई कविता को अपनी बनाई कहना, अथवा किसी की कविता के भाव लेकर उस पर अपना नाम दे देना। यह भाव चोरी है। भगवान् ने कहा है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, यह चारों सच्चे भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। अतएव इस विषय मे बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

वह मुनि वास्तव मे रूपवान् थे। जैसा उनका रूप था वैसे ही उनके गुण थे। रूप बनावटी है या वास्तविक, यह बात मुखाकृति देखते ही मालूम हो जाती है। बनावटी रूप छिपा नहीं रह सकता। मुनि का रूप देखते ही राजा विस्मय में पड़ गया और मन मे कहने लगा—अहा, यह मुनि कैसे अतुल रूपवान् हैं। ऐसा रूपवान् तो मैंने कहीं नहीं देखा।

राजा श्रेणिक स्वय कितना सुन्दर था, इसका वर्णन शास्त्र मे आया है। एक बार वह सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करके अपनी रानी चेलना के साथ भगवान् महावीर के समवसरण मे गया था। भगवान् के समवसरण में स्वभावत वीतरागता का वातावरण रहता है। फिर भी श्रेणिक की सुन्दरता देखकर साध्वियाँ भी मुग्ध होकर सोचने लगीं—'यह पुरुष कितना सुन्दर है। हमारे तप और सयम के फलस्वरूप हमे ऐसे ही सुन्दर पुरुष की प्राप्ति हो।' इसी प्रकार रानी चेलना को देखकर साधुओं ने निदान किया था-'हमारे तप और सयम के फलस्वरूप हमे ऐसी सुन्दरी स्त्री प्राप्त हो।' कहने

का अभिप्राय यह है कि श्रेणिक स्वयं अतिशय रूप सम्पन्न था।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है। रूप स्त्रियों मे अधिक होता है या पुरुषों मे ? साहित्य मे कवियों ने स्त्रियों के रूप का वर्णन करते हुए सभी पदार्थों को स्त्रियों के रूप के सामने तुच्छ बतलाया है। किन्तु भर्तृहरि इसे कामान्धता कह कर कहते हैं—

स्तनो मासग्रन्थी कनक कनककलशावित्युपमितौ,
मुख श्लेष्मागार तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करवरकरस्पर्द्धि जघनम्,
अहो निन्द्यं रूप कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥

जिसका जिस वस्तु पर राग होता है, वह उसकी प्रशंसा करता है। यह स्वाभाविक है। किन्तु भर्तृहरि वैरागी थे। वह कहते हैं—जो रूप अनेक प्रकार से निन्द्य है, उस स्त्री के रूप को कवि वृथा ही महत्त्व देते हैं। स्त्रियों के स्तन मास के उभरे हुए पिण्ड के सिवाय और क्या हैं ? मगर कविजन उन्हें कनक-कलश कह कर महत्त्व प्रदान करते हैं। यह उनकी मोहान्धता ही है।

मोहान्ध मनुष्य खराब वस्तु को भी अच्छी कहता है। यूरोपीय कवि भी कहते हैं कि जब मनुष्य कामान्ध बन जाता है तब खराब चीज को भी अच्छी कहने और मानने लगता है।

भर्तृहरि आगे कहते है—स्त्रियों का मुख भी कफ, पित्त और श्लेष्म-थूक के घर के अतिरिक्त और क्या है ? फिर भी कवि उनके मुख को चन्द्रमा की उपमा देते हैं। यही नहीं, स्त्रियों के मुख के सामने चन्द्रमा को भी तुच्छ बतलाते हैं। स्त्रियों को कवि हंसगामिनी और गजगामिनी कहते हैं। इस प्रकार उन्होंने स्त्रियों

के अंग-प्रत्यंग का वर्णन करके उनके रूप को बहुत महत्त्व दिया है।

इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वास्तव मे स्त्रियों मे ही रूप है ? पुरुषों मे नहीं ? इस सबंध मे कवियों का कथन है कि अन्यान्य बातों मे पुरुष, स्त्रियों से बढ़कर है, किन्तु रूप की दृष्टि से तो स्त्रियाँ ही पुरुषों से बढी-चढ़ी है। स्त्रियों के रूप की ज्वाला में पुरुष पतग की तरह अपने प्राण होम देता है। स्त्रियों के रूप की मोहिनी पुरुषों को पागल बना देती है।

सीता की रूप मोहिनी ने ही रावण का सकुटुम्ब विनाश किया। होल्कर राजा ने इसी रूपमोहिनी के फेर मे पड़कर राज्य का त्याग किया और दामोदरलालजी भी एक वेश्या के रूप के पीछे पायमाल हुए।

इस प्रकार कवियों के कथनानुसार स्त्रियों के रूप के कारण ही पुरुष उनके गुलाम बन रहे हैं। परन्तु वास्तव मे ही यदि स्त्रियों मे अधिक रूप है और पुरुषों मे कम, तो स्त्रियाँ रूप को बढ़ाने के लिए क्यों कृत्रिम साधनों का उपयोग करती हैं ? स्वाभाविक रूप से जिनके दात अच्छे और मजबूत होंगे, वे लोग क्या नकली दात लगवाएँगे ? जिनके नेत्र तेजस्वी हैं वे चश्मा क्यों चढ़ाएँगे ? जिनके प्राकृतिक साधनों मे कमी होती है। वही लोग कृत्रिम साधनों की सहायता लेते हैं। इसी प्रकार अगर स्त्रियों मे स्वाभाविक पूर्ण सौन्दर्य है तो फिर वे सौन्दर्यवर्द्धन के लिए कृत्रिम साधनों का उपयोग क्यों करती हैं ? जब उन्हें अपने में सौन्दर्य की न्यूनता दृष्टिगोचर होती है, तभी तो कृत्रिम साधनों द्वारा श्रृंगार सजाती हैं और इस प्रकार अपने रूप को बढ़ाने का

प्रयत्न करती हैं ।

अभिप्राय यह है कि स्त्रियों में रूप की कमी है । इसीसे उन्हें कृत्रिम साधनों का प्रयोग करना पडता है । इस दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि स्त्रियों मे पुरुषों से अधिक रूप सौन्दर्य नहीं होता। प्राकृतिक रचना की दृष्टि से भी पुरुष, स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सुन्दर होते हैं । ऐसी स्थिति से केवल मोहान्धता के कारण ही पुरुष, स्त्रियों को अधिक रूपवती गिनते हैं ।

मोर और ढेल की सुन्दरता देखी जाय तो मोर की सुन्दरता ही श्रेष्ठ प्रतीत होगी । मोर की गर्दन और पखों जैसी ढेल की गर्दन और पख सुन्दर नहीं होते और न मोर के रग जैसी शोभायमान ही होती है । मुर्गा और मुर्गी को देखिए। मुर्गा की चोंच जैसी लाल होती है, वैसी सुन्दर और लाल चोंच मुर्गी की नहीं । गाय और साड को देखा जाय तो गाय की अपेक्षा सांड अधिक सुन्दर प्रतीत होगा । जैसे सुन्दर सींग हिरण के होते हैं, वैसे हिरणी के नहीं होते । सिंह की गर्दन पर जैसी सुन्दर अयाल होती है, सिंहनी की गर्दन पर नहीं होती । हाथी के दात जितने सुन्दर और लम्बे होते हैं, हथिनी के उतने सुन्दर और लम्बे नहीं होते ।

इस प्रकार पशुओं पक्षियों में भी मादा की अपेक्षा नर ही अधिक सुन्दर होता है। तो फिर मनुष्य जाति में, जो सब प्राणियों में उत्कृष्ट गिनी जाती है, पुरुष कम और स्त्रियाँ अधिक सुन्दर कैसे हो सकती हैं ? वास्तव मे स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक स्वरूपवान् होते हैं , किन्तु कामान्ध लोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक स्वरूपवान् मानते और कहते हैं ।

जो महापुरुष पहले स्त्रियों में अधिक सौन्दर्य मानते थे, वे भी जब उनके जजाल में से छूट गये तो कहने लगे—स्त्रियों में ऐसी क्या रूप सौन्दर्य है कि जिसकी कविजन प्रशसा करते हैं। जिस प्रकार मछली अवसर मिलते ही जाल में से निकल भागती है, इसी प्रकार महापुरुष भी अवसर पाते ही स्त्रियों के जाल में से भाग छूटते हैं और छूट जाते हैं तो उन्हें स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि स्त्रियों में कोई रूप-सौन्दर्य नहीं है।

भर्तृहरि भी पहले पिंगला को ही अपना सर्वस्व समझते थे, पर जब पिंगला के जाल में से छूटे तब वह भी कहने लगे—स्त्रियों में वास्तव में रूपसौन्दर्य नहीं है। कामीजन उनमें सौन्दर्य की कल्पना करते हैं।

सुनते है, लैला, जिसके पीछे मजनू ने अपने प्राणों की भी परवाह नहीं की, देखने में बहुत कुरूप थी। फिर भी मोहान्धता के कारण मजनू को वह इतनी अधिक प्रिय लगी कि उसने उसके पीछे प्राणों का भी मोह नहीं किया। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो मोह के कारण ही स्त्रियों में अधिक रूप माना जाता है और जहाँ रूप-सौन्दर्य नहीं होता वहाँ रूप-सौन्दर्य की कल्पना करली जाती है।

मोहान्धता के कारण भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की स्त्रियों को सुन्दरी समझा जाता है। यूरोप में चमकीली आँखों वाली और भूरे रंग के बाल वाली युवती, चीन में चपटी नाक वाली युवती और सोमालीलैंड में मोटे ओष्ठ वाली युवती रूपवती और सुन्दरी मानी जाती है। भारत में ऐसी स्त्री में सौन्दर्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि

मोहान्धता के कारण ही अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्त्रियों को रूपवती और सुन्दरी मान लिया जाता है।

यह सब मोह की लीला है, इसी मोहलीला के कारण राजा श्रेणिक को देखकर साध्वियों ने और रानी चेलना को देखकर साधुओं ने अपने तप-चरित्र को वेचकर रूप-सौन्दर्य की इच्छा की थी। फिर तो सर्वज्ञ भगवान् ने सारा भेद जानकर और निदान का स्वरूप समझा कर तथा प्रायश्चित्त देकर उन्हें शुद्ध किया था और साधु साध्वियों ने भी प्रायश्चित्त द्वारा पाप की शुद्धि की थी; परन्तु कहने का आशय यह है कि जिस श्रेणिक का रूप देखकर साध्वियां भी मोहान्ध बन गई थीं, वही श्रेणिक मुनि का अतुल रूप देखकर आश्चर्य मे पड गया।

श्रेणिक जैसा स्वरूपवान् राजा जिन मुनि के रूप की प्रशसा करने लगा, वह मुनि कितने स्वरूपवान होंगे? यह अनुमान करना कठिन नहीं है। मुनि ने रूपवृद्धि के लिये वस्त्राभूषण धारण नहीं किये थे, फिर भी उनका रूप कैसा अनुपम था? इस पर स्त्रियों और पुरुषों को समझना चाहिए कि शरीर की चमडी पर रहने वाला रूप-सौन्दर्य ही सच्चा रूप-सौन्दर्य नहीं है। सच्चा सौन्दर्य तो अन्तरात्मा मे रहता है। इसलिए चमडी के सौन्दर्य के भ्रम मे मत पडो। अन्तरतर का रूपसौन्दर्य ही मुख पर झलक उठता है।

मुनि वृक्ष के नीचे बैठे थे। उनके शरीर पर आभूषण नहीं थे, फिर भी वस्त्राभूषणों से सुशोभित सुरूपवान् राजा श्रेणिक ने मुनि मे ऐसा क्या रूपसौन्दर्य देखा कि उसके आश्चर्य का पार न रहा?

इसका उत्तर यह है कि जो जिसका परीक्षक होता है, वही उसकी ठीक परीक्षा कर सकता है। हीरा की परीक्षा जौहरी ही कर सकता है। सुनते हैं—कोहीनूर हीरा, जो आज ससार का सर्वश्रेष्ठ हीरा गिना जाता है, एक किसान को, कृष्णा नदी के किनारे मिला था। वह किसान उस हीरे की कीमत न आंक सका। उसका मूल्यांकन जौहरी ने ही किया। इसी प्रकार रूप बाहर की चमड़ी पर नहीं, हृदय मे रहता है। परन्तु उस रूप को तो हृदय का परीक्षक ही जान सकता है। राजा श्रेणिक हृदय का परीक्षक था। इसी कारण मुनि के हृदय का अतुल रूप उनकी मुखाकृति और आँखों मे झलका देखकर वह चकित रह गया।

दयालु, सत्यवादी और सदाचारी की तथा हिंसक, असत्यवादी और दुराचारी की आँखो मे क्या अन्तर होता है, यह बात तो आप भी जानते होंगे। कौन मनुष्य कैसा है, इसकी परीक्षा उसकी आँखें देख कर की जा सकती है। दयालु और सदाचारी के रूप पर देव भी मुग्ध हो जाते हैं। देव स्वय रूपवान् और वैक्रिय रूप धारण करने वाले होते है। किन्तु वे भी सत्यवादी और सदाचारी मनुष्य के हृदय का रूप देखकर उस पर मुग्ध हो जाते हैं।

तुम भी हृदय के रूप को प्राप्त करो और कदाचित् न कर सको तो जिनमे हृदय का सुन्दर रूप है उनकी प्रशंसा करो। ऐसा करने से भी तुम्हारा कल्याण होगा।

उपमान और उपमेय के विषय मे लोग प्राय भूल कर बैठते हैं। स्त्रियों का रूप वर्णन करते हुए उपमा देने मे जो भूलें हुई है,

उनके संबध में कुछ विचार किया जा चुका है। पर राजा श्रेणिक मुनि के रूप के विषय मे किसी प्रकार की भूल नहीं करता। वह अपने रूप के साथ मुनि के रूप की तुलना करता है। उसे मुनि का रूप अधिक जान पडता है। जब मुनि के रूप की तुलना में किसी का रूप नहीं टिक सकता, तब वह कहता है- अहा, इन मुनि का रूप तो अतुल है।

जिसकी आँखों पर काम विकार का चश्मा चढ़ा होता है, वह कुरूपा स्त्री मे भी सुन्दरता ही देखता है। परन्तु मुनि को देखने मे राजा की आँखों पर वह चश्मा नहीं चढ़ा था। फिर भी राजा को मुनि का रूप अतुल प्रतीत हुआ।

किसी प्यासे मनुष्य के आगे खुशबूदार तेल की सुन्दर शीशी रक्खी जाय और दूसरे मिट्टी के पात्र मे सादा पानी रक्खा जाय, तो वह दोनों मे से किसे पसन्द करेगा? प्यास न लगी होने की हालत मे भले कोई तेल ले ले, किन्तु जब प्यास से कंठ सूख रहा होगा तब तो वह तेल के बदले पानी लेना ही पसन्द करेगा, फिर भले वह मिट्टी के बर्त्तन मे ही क्यों न हो। इसी प्रकार भूखे मनुष्य को रूखी-सूखी ज्वार या बाजरी की रोटी और दाल दी जाय और दूसरी ओर मिट्टी के बने सुन्दर केले, अनार आदि खिलौने दिये जाएँ, तो भूखा मनुष्य दोनों मे से किसे पसंद करेगा? उत्तर स्पष्ट है। भूखा आदमी रोटी लेना चाहेगा और मूल्यवान् खिलौनों को भी तुच्छ समझेगा।

इसी प्रकार राजा भी मुनि के रूप के सामने सब रूपों को तुच्छ मान रहा था। वह विचार करता है कि दूसरों के रूप से मेरी भूख-

प्यास नही बुझ सकती, परन्तु इन मुनि का रूप मेरी भूख-प्यास को बुझा सकता है। यह सोच कर राजा कह उठता है—अहो वर्ण! अहो रूप!

वर्ण और रूप मे क्या अन्तर है, यह देखना चाहिए। शरीर के सुन्दर आकार के अनुसार जिसका रग सुन्दर होता है, उसे सुवर्ण कहते है। सोने को भी 'सुवर्ण' कहा जाता है, पर किस कारण? अगर रग के कारण ही सोना सुवर्ण कहलाता हो तो पीतल का रग भी सोने के समान ही पीला होता है। फिर उसे भी सुवर्ण क्यों नहीं कहा जाता? असल बात यह है कि सोने मे और भी विशेषता है। कहा जाता है कि सोना भले हजार वर्ष तक धरती मे गडा रहे, लेकिन जब निकाला जाता है तो पहले के बराबर ही वजन मे रहता है—कम नहीं होता। इसके सिवाय उस पर जग भी नहीं चढ़ती। पीतल का रग भी पीला होता है, परन्तु सोने मे जो विशेषता है वह उसमे नहीं। पीतल पॉच-दस वर्ष तक ही जमीन मे गडा रहे तो उस पर जग चढ़ जाएगी और वह सड़ जाएगा। सोने मे ऐसा चिकनापन होता है कि वह सडता नहीं। दूसरे वह वजन मे भारी भी होता है तीसरे उसके परमाणुओं मे ऐसा लोच होता है कि उसमे से पतले से पतले तार खींचे जा सकते हैं। इस प्रकार सोने मे रग के साथ कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं। जिनके कारण वह सुवर्ण कहलाता है। किन्तु पीतल सुवर्ण नहीं कहलाता।

राजा श्रेणिक दूसरों के वर्ण के साथ मुनि के वर्ण की तुलना करके फिर कहता है—यह वर्ण तो अतुल-अनुपम है। अहा कैसा

असाधारण वर्ण है यह। दूसरे वर्णों पर तो देर-सवेर जग चढ़ जाती है, परन्तु इनका वर्ण तो ऐसा है कि उस पर जग चढ ही नहीं सकती। इस प्रकार विचार करके राजा मुनि के वर्ण के विषय में चकित हो गया।

कहा जा सकता है कि मुनि के रूप मे दूसरों के रूप से क्या विशेपता थी ? इसका उत्तर यह है कि अन्य धातुओं की अपेक्षा सोने मे जो विशेपता होती है, वही अन्य के रूप की अपेक्षा मुनि के रूप मे होती है।

सोने की भाति मुनि को अगर पृथ्वी मे दबा दिया जाय तो क्या उनके शरीर पर दाग न लगेगा ? क्या उनका प्राणान्त न हो जाएगा ? इसका उत्तर यह है कि जो नाथ है, ऐसे उन मुनि को जमीन मे गाड देने की हिम्मत किसमे है ? सोना जड है, इस कारण वह गाडा जा सकता है, और आग मे तपाकर पिघलाया जा सकता है, किन्तु मुनि को कौन गाड सकता है और कौन सोने की तरह पिघला सकता है ? उन्हें आग तपा नहीं सकती और पवन हिला नहीं सकती।

मुनि का ऐसा रूप क्यों था, यह आगे बतलाया जाएगा। यहाँ तो केवल यही कहना है कि उनका रूप अतुल अर्थात् अनुपम था। उसके सामने देवता का रूप भी तुच्छ था। देव का रूप तो कभी न कभी बिगड़ जाता है, किन्तु मुनि का रूप ऐसा था कि कभी बिगड़ ही न सके।

दूसरे लोग रूप के गुलाम होते है, पर मुनि रूप के नाथ थे। राजा श्रेणिक भी सोचता है 'हम लोग तो रूप के गुलाम हैं, पर

यह मुनि तो रूप के नाथ हैं। उनकी आँखों में अंजन नहीं आंजा गया है, शरीर पर कोई आभूषण नहीं है, उन्होंने सुन्दर वस्त्र भी नहीं पहने हैं, फिर भी कितना सुन्दर रूप है। इस रूप के सामने मेरा रूप तुच्छ है'।

तुमने अपने हाथ मे हीरे की अगूठी पहनी हो और दूसरे के हाथ में सोने की अगूठी पहनी देखो तो तुम्हें कोई आश्चर्य नहीं होगा। अपनी अगूठी को तुच्छ भी नहीं समझोगे। हाँ, अगर तुमने चांदी की अगूठी पहनी हो और दूसरे ने हीरे की, तो तुम्हें अपनी अगूठी तुच्छ प्रतीत होगी। तुम यही सोचोगे कि मेरे पास तो कुछ भी नहीं है। जो कुछ है वह इसी के पास है। इस प्रकार राजा के जिस रूप को देखकर साध्वियॉ भी ललचा गई थीं, वही श्रेणिक मुनि के रूप के सामने अपने रूप को तुच्छ मानकर सोचने लगा—मेरा रूप विकारी है, किन्तु इन मुनि का द्रव्यरूप और भावरूप निर्विकारी है।

आज के लोग द्रव्य रूप के सामने भावरूप को भूल रहे हैं। मगर आखिर तो भावरूप की ही शरण मे जाना पडता है। भाव-रूप के समक्ष द्रव्यरूप तुच्छ है। द्रव्यरूप हो और भावरूप न हो तो उसकी कोई कद्र नहीं होती।

यहॉ मैंने देखा कि एक ब्राह्मण मिट्टी के शकर, पार्वती, नाग, गणेश आदि कलापूर्वक बनाता है, परन्तु दूसरे ही दिन उन्हें नदी में सिरा देता है। इसी प्रकार गणगौर भी कलापूर्वक सजाई जाती है और उन्हें सुन्दर वस्त्राभूषण भी पहनाये जाते हैं, किन्तु खेल समाप्त होते ही गणगौर को पानी मे फेंक दिया जाता है। गणगौर

का तो रानी आदि भी सम्मान करती है, परन्तु उनके पास खड़ी जीवित स्त्री का उतना सम्मान नहीं किया जाता। तो क्या वह स्त्री गणगौर से भी गई-बीती है? गणगौर को नदी मे फेंक दिया जाता है, क्योंकि उसमे केवल द्रव्य-रूप ही है, भावरूप नहीं है। परन्तु उस स्त्री मे कदाचित् द्रव्यरूप न हो पर भावरूप तो है ही। अतएव उसे कोई नदी मे नहीं फेंक सकता। ऐसा करने का किसी को अधिकार नहीं। उसके पति को भी नहीं।

इस प्रकार द्रव्यरूप की अपेक्षा भावरूप ही उत्तम है, फिर भी आज के लोग भावरूप को भूलकर द्रव्यरूप मे ही फँसे हुए है। इस भूल को दूर करके समझना चाहिए कि पौद्गलिक वस्तुएँ नाशवान् है। उनमे सौन्दर्य की कल्पना करना कल्पना मात्र ही है।

इतने विवेचन के बाद वर्ण और रूप के अन्तर को समझना आसान होगा। कुशल कारीगर सोने के जेवर का सुन्दर घाट बनाता है और फूहड कारीगर उसी सोने का भद्दा घाट बनाता है। द्रव्य एक-सा होने पर भी कारीगरी के भेद से आकृति मे भेद हो जाता है। इसी प्रकार रग तो अच्छा हो पर आकृति अच्छी न हो—नाक कान आदि अवयव बेडौल हों—तो रग क्या अच्छा लगेगा? रग तभी अच्छा लगता है जब उसके साथ आकृति भी अच्छी हो। मुनि की आकृति भी अच्छी थी और रग भी अच्छा था। यह बतलाने के लिए वर्ण के साथ रूप का भी उल्लेख किया गया है।

किसी की आंखें छोटी और किसी की बडी होती हैं। किसी की आँखों मे लाल रेखा होती है, किसी की आँखों में नहीं होती।

इन दोनों प्रकार की आँखों मे कुछ अन्तर माना जाता है या नहीं ? यद्यपि दोनों प्रकार की आँखों को नापा जाय तो कोई विशेष अन्तर नहीं पडेगा, फिर भी दोनों मे बड़ा अन्तर समझा जाता है।

सीता के स्वयवर मे बडे बडे राजा भी आये थे और राम भी आये थे। नाप की दृष्टि से राम की और दूसरे राजाओं की आँखों मे कोई खास अन्तर न पडता, फिर भी गहरा विचार करने से उनमे अवश्य अन्तर जान पडेगा। सीता को राम दूसरी दृष्टि से देखते थे और दूसरे राजा दूसरी दृष्टि से। दूसरे राजा सीता के रूप पर मुग्ध थे, राम नहीं। वे शान्ति से बैठे सोच रहे थे—सीता को गरज होगी तो वह आप ही आएगी।

जो अपूर्ण होता है वही ललचाता है, पूर्ण नहीं ललचाता। राम ललचाये नहीं। वे दूसरे राजाओं की तरह धनुर्वेध के लिए नहीं दौडे। उन्होंने यह नहीं सोचा कि कोई दूसरा धनुर्वेध करके पहले ही सीता को न ले जाय। वह तो यही सोच रहे थे कि कोई सीता का वरण करले तो भी मेरी क्या हानि है ? किसी की इच्छा पूरी हो जाय तो अच्छा ही है।

यह सोच कर राम मस्ती मे बैठे रहे। किन्तु जब कोई भी राजा धनुर्वेध न कर सका, तब राजा जनक ने कहा—

वीरविहीन मही मैं जानी।

अर्थात्—आज ऐसा जान पडता है कि यह पृथ्वी वीरों से खाली हो गई है। इस धराधाम पर एक भी वीर नहीं रहा।

राजा जनक का यह कथन सुनकर लक्ष्मण ने उपालभ के स्वर में राम से कहा—आप यहा मौजूद हैं और राजा जनक यह क्या

कह रहे हैं। आपकी आज्ञा हो तो मैं सारे ब्रह्माण्ड को उठा लाऊँ।

लक्ष्मण के यह कहने पर भी राम को उत्कंठा नहीं हुई। यही नहीं, उन्होंने लक्ष्मण को शान्त रहने का इशारा किया और स्वय उठकर राजाओं से कहा—'किसी अन्य राजा को जोर आजमाना हो तो भले आजमावें। किसी के मन की मन मे नहीं रह जानी चाहिए।' ऐसा कहने पर भी जब कोई राजा न उठा तो राम ने धनुष उठाया और लक्ष्यवेध किया। प्रतिज्ञा के अनुसार सीता ने राम के गले मे वरमाला डाल दी।

इस प्रकार दूसरे राजाओं और राम की आँखों मे अन्तर जान पड़ता है या नहीं? तुम भी राम जैसे स्वतन्त्र और शुद्ध दृष्टि बनो तो इन्द्र भी तुम्हारा गुलाम बन जाएगा।

यहाँ तक 'अहो वण्णो, अहो रूव' इन दोनों पदों का व्याख्यान किया गया। इससे आगे कहा गया है—'अहो अज्जस्स सोमया।' अर्थात् आर्य की सौम्यता भी कसी अनूठी है। अतएव यहां 'आर्य और सौम्यता' के अर्थ पर विचार करना है।

आर्य शब्द के विषय मे श्रीपन्नवणासूत्र मे विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है। आर्य अनेक प्रकार के होते हैं। कोई कर्म-आर्य होते हैं, कोई क्षेत्र-आर्य होते हैं और कोई धर्म-आर्य होते हैं। वह मुनि धर्म-आर्य थे। जो आर्य-कर्म (वाणिज्य वगैरह) करते हैं, वे कर्मार्य कहलाते हैं और जो आर्यधर्म का पालन करते हैं, वे धर्मार्य कहे जाते हैं।

आज तो अनेक लोग अपने आपको आर्य कहते हैं, किन्तु

वास्तव मे आर्य किसे कहते हैं, इस विषय में कहा है'—

आरात् सकलहेय धर्मेभ्यः—इत्यार्य.

अर्थात्—जो सब त्याग करने योग्य कामों से दूर रहता है, वह आर्य है।

प्रश्न यह है कि त्याग करने योग्य काम क्या है? गृहस्थों के लिए बारह व्रत बतलाये गये है। इन व्रतों को दूषित करने वाले जितने भी कार्य हैं, उनसे दूर रहने वाला गृहस्थ-आर्य है। यह बात गृहस्थ-आर्य के सबध मे हुई। परन्तु यहा मुनि को आर्य कहा है। अत' मुनि को कैसे कामों का त्याग करना चाहिए, यह यहाँ देखना है।

साधु को किन-किन कामों से दूर रहना चाहिए, यह विषय बहुत लम्बा है। यहाँ सन्क्षेप मे ही कहता हू। साधु के लिए सर्वप्रथम कनक-कामिनी का वर्जन बतलाया गया है। कनक और कामिनी को अपनाना साधु के लिए त्याज्य और अयोग्य है। इस प्रकार जो साधु कनक और कामिनी से दूर रहता है, वह साधु-आर्य है।

कनक और कामिनी के लिए ससार मे अनेक प्रकार के झगडे होते हैं। इस युग मे मुद्रादेवी ने—सोने चांदी और तांवे के सिक्कों ने कितनी अधिक अशान्ति फैला दी है। यह बात आपसे छिपी नहीं है।

आप लोग दिन-रात पैसे के लिए दौड धूप कर रहे हैं और पैसा सग्रह करके भी सुख का अनुभव नहीं कर रहे हैं। पैसे के लिए परस्पर युद्ध भी होता है और हजारों मनुष्यों के रुधिर की

नदियाँ वह जाती हैं। इसका बाह्य कारण कुछ भी क्यों न बतलाया जाय, परन्तु हृदय में रही हुई द्रव्य-संग्रह की भावना ही मुख्य और असली कारण है। ससार मे जब से पैसे का आदर बढा है, तभी से ससार की दुर्दशा भी बढी है। इतिहास को देखने से भी यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

मैं अपने बचपन की बात कहता हू, उस समय देहाती लोग अन्न आदि देकर शाक, भाजी या मसाला ले जाते थे और वस्तु के बदले मे वस्तु लेने की प्रथा प्रचलित थी। उस समय भी सिक्के का प्रचलन तो था, परन्तु आजकल की तरह अधिक नहीं। और प्राचीन काल मे तो वस्तुओं का ही परस्पर विनिमय होता था। उस समय आज जैसी अशान्ति नहीं थी। परन्तु जब से सिक्के का चलन बढ़ा है, तब से झगडे भी बढ़ गये हैं और परिणाम स्वरूप अशान्ति भी बढ गई है। सिक्के को सग्रह करने की वृत्ति ने अशान्ति का पोषण किया है। अब तो नोट चल पडे हैं। इन नोटों के कारण सग्रह करने की वृत्ति को और भी अधिक वेग मिला है और अशान्ति को भी इतना ही वेग मिला है।

कहने का आशय यह है कि ससार मे झगडे बढ़ने के कारणों में कचन भी एक प्रधान कारण है। साधु कंचन से दूर रहते हैं। सिक्के को अपने पास भी नहीं रखते। इसी कारण वे आर्य कहे गये हैं।

आप लोग सिक्का या कचन का सग्रह तो करते हैं, परन्तु क्या उसे अन्न या शाक की तरह काम में ले सकते हैं? पैसा खाने के काम मे नहीं आता, फिर भी उस पर लोगों का कितना ममत्व-

भाव है ?

साधुओं के लिए जैसे कचन से दूर रहना आवश्यक है, उसी प्रकार कामिनी से भी दूर रहना आवश्यक - अनिवार्य है। कामिनी के कारण भी ससार में कम झगडे नहीं हुए या वर्त्तमान मे नहीं हो रहे है। कामिनी के महत्व के कारण अशान्ति रहती है, परन्तु आज तो पुरुषों के कारण भी अशान्ति हो रही है। पहले कन्याविक्रय के सबध मे बहुत सुना जाता था, अब वरविक्रय भी होने लगा है। लड़का थोडा पढ़-लिख गया कि उसकी कीमत बढ़ जाती है।

परन्तु साधु न अपने पास कचन-कामिनी रखते हैं और न रखवाते ही हैं, क्योंकि रखना और रखाना एक ही बात है। ऐसे महापुरुष ही साधु आर्य कहलाते है।

आज अनेक कथित साधु भी ज्ञानप्रचार के नाम पर श्रावकों के पास पैसा रखवाते है और कहते है कि ज्ञानप्रचार की दलाली करने मे हर्ज ही क्या है ? किन्तु किसी भी बहाने से जो पैसा रखता है या दूसरों के पास रखवाता है, वह साधु नहीं कहलाता। उसे धर्मार्य भी नहीं कह सकते।

अभिप्राय यह है कि साधुओं के लिए कनक और कामिनी का स्वय रखना और दूसरों के पास रखवाना—दोनों सर्वथा त्याज्य और अयोग्य है। राजा श्रेणिक ने जिन मुनि को देखा, वे इन दोनों से दूर थे, अतएव उन्हें आर्य कहा गया है।

अब सौम्यता के अर्थ पर विचार कीजिए, चन्द्रमा की ओर चाहे जितनी देर तक टकटकी लगाकर देखा जाय, मगर गर्मी नहीं

लगेगी। चन्द्र मे गर्मी के पुद्गल ही नहीं हैं। वह तो रससागर कहलाता है। कहा जाता है कि समस्त फलों मे रस उत्पन्न करने वाला चन्द्रमा ही है। सूर्य के प्रकाश को आतप और चन्द्र के प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

तो जैसे चन्द्रमा की ओर लगातार देखने पर भी आँखों मे गर्मी का अनुभव नहीं होता, क्योंकि चन्द्रमा सौम्य है, उसी प्रकार वह मुनि भी सौम्य थे। उनके मुख से ऐसी सौम्यता टपकती थी कि उन्हें देखते रहने की इच्छा बनी ही रहती।

आधुनिक वैज्ञानिकों और खगोलशास्त्रियों का कथन है कि चन्द्र स्वतः प्रकाशमान नहीं है, किन्तु सूर्य के प्रकाश से प्रकाशमान है। किन्तु शास्त्र मे कहा है कि वह स्वतः प्रकाशमान है और वह सूर्य से भिन्न है। चन्द्रमा मे शीतलता का गुण है और सूर्य में उष्णता का गुण है। अतएव चन्द्र और सूर्य मे कोई संबंध नहीं है, वरन् दोनों अलग-अलग स्वयं प्रकाशमान हैं।

चन्द्रमा मे गर्मी न होने के संबंध मे खगोलवेत्ताओं का मत है कि जिस प्रकार कांच पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, फिर भी उसमे गर्मी नहीं जान पड़ती। उसी प्रकार चन्द्रमा पर भी सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, फिर भी उसमे गर्मी नहीं होती। परन्तु गंभीरतापूर्वक विचार करने से ज्ञात होगा कि खगोलवेत्ताओं का यह मत भ्रमपूर्ण है। सूर्य की किरणों को किसी कांच पर केन्द्रित किया जाय और उस कांच के नीचे रूई रक्खी जाय तो रूई जलने लगेगी। अगर कांच मे सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से गर्मी नहीं होती तो रूई कैसे जलने लगती है? इसी प्रकार अगर चन्द्र पर

सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से ही चन्द्र प्रकाशित है तो चन्द्र में भी काच की तरह गर्मी उत्पन्न होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अगर चन्द्र काच की तरह पारदर्शक है और सूर्य की किरणों से ही प्रकाशित है तो फिर दिन मे चन्द्रमा कलाविहीन क्यों दिखाई देता है ?

एकादशी या द्वादशी के दिन, दिवस के समय चन्द्र और सूर्य दोनों साथ-साथ दीख पडते है, परन्तु चन्द्र निस्तेज दिखाई देता है। यदि सूर्य की किरणों के प्रतिबिम्ब से ही चन्द्र प्रकाशित होता है तो उस समय वह फीका क्यों दिखाई देता है ? उस समय तो वह अधिक प्रकाशमान दिखाई देना चाहिए, क्योंकि नजदीक होने से उसके ऊपर सूर्य की किरणें अधिक पडती है।

खगोलविज्ञ कहते है कि दिन के समय चन्द्र की किरणें सूर्य के प्रकाश मे दब जाती है, इस कारण वह फीका दीख पडता है, अगर यही बात है तो फिर चन्द्र सूर्य के अधीन-आश्रित कैसे रहा ?

अगर चन्द्र मे सूर्य के द्वारा ही प्रकाश आता हो जैसे हीरे पर सूर्य की किरणें पडने से वह अधिक प्रकाश देता है, उसी प्रकार चन्द्र मे भी दिन के समय प्रकाश होना चाहिए। क्योंकि उस समय चन्द्र सूर्य से अधिक निकट होता है, अतएव सूर्य की किरणें या सूर्य का प्रतिबिम्ब अधिक पडता है। मगर हम देखते हैं कि चन्द्रमा दिन के समय अधिक प्रकाशित नहीं होता।

इन बातों से स्पष्ट है कि चन्द्र मे सूर्य का प्रकाश नहीं आता, किन्तु चन्द्र स्वत प्रकाशमान है।

हाँ, तो जैसी सौम्यता चन्द्रमा मे होती है, उसी प्रकार का

सौम्य भाव उन मुनि में था। आर्य और सौम्य के बीच आपस में संबध है। जो आर्य होता है वही सौम्य होता है और जो आर्य नहीं होता वह सौम्य भी नहीं होता। जो अनार्य कार्यों से विलग रहता है, उसीमे सौम्यता का वास हो सकता है, अन्य मे नहीं। वह मुनि आर्य थे, अतएव सौम्य भी थे।

वृक्ष के फल-फूल तथा पत्ते आदि देखकर अनुमान किया जा सकता है कि इस वृक्ष का मूल उत्तम है, यहां की भूमि अच्छी है, आदि उसी प्रकार श्रेणिक राजा उन मुनि की सौम्यता देख कर समझ गया कि यह महात्मा क्षमाशील, निर्लोभ, शान्त तथा इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं।

आज विज्ञान बहुत आगे बढ गया है। पहले न जानी हुई बहुत-सी बातें भी आज लोग जानते हैं। पहले के अनेक गुण भी आज विकसित हुए हैं। अतएव इसकी सहायता से शास्त्र में भी विकास करो और शास्त्रों की बातों को भी समझो तो आपको तथा दूसरों को बहुत लाभ हो सकता है। ऐसा करने से आपको शास्त्र पर विश्वास भी होगा और इस बात की प्रतीति भी होगी कि शास्त्र मे कैसे-कैसे गूढ तत्त्वों का समावेश है। आप अधिक न समझ सकें तो अनुमान प्रमाण को ही समझ लें। इससे भी बहुत लाभ होगा। अगर आप अनुमान प्रमाण को समझ लेंगे तो तो आपके अनेक सशयों का समाधान आप ही आप हो जायगा।

आज बहुत-से लोग कहते हैं कि हम पुनर्जन्म को कैसे मानें ? इस प्रश्न के उत्तर मे हमारा कहना है कि अनुमान प्रमाण से मानो। विचार करो कि आप हजारों स्त्री-पुरुषों को देखते हैं, फिर

भी आपका मन किसी एक की तरफ ही क्यों आकर्षित होता है ? अथवा किसी को देखते ही मन मे वैरभाव क्यों जाग उठता है ? किसी पर नजर पड़ते ही स्नेह की जागृति क्यों होती है ? इस पर अगर आप अनुमान करेंगे तो प्रतीत होगा कि इसका कारण पूर्व-भव के सस्कार ही हैं। भगवान् नेमीनाथ और राजोमती का नौ भवों का पूर्वसम्बन्ध देखते ही जागृत हो गया था। कहा जाता है कि लैला और मजनू का प्रेम पवित्र था। लैला सुन्दरी नहीं थी, फिर भी मजनू ने उस पर प्राण निछावर कर दिये। इसका कारण पूर्वभव का सम्बध ही था।

इस प्रकार अनुमान द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। श्री-सूयगडाग सूत्र मे पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए अनेक प्रमाण दिये हैं। उसमें कहा गया है कि बालक जन्म लेते ही स्तनपान करने लगता है। यह स्तनपान करना उसने कहाँ और किससे सीखा ? जन्मते ही वह स्तन चूसने लगता है, इससे यही अनुमान होता है कि उसने पहले ऐसा अभ्यास किया है।

आघात का प्रत्याघात होना ससार का नियम है। आपको कोई शब्द सुनाई दे और बोलने वाला दृष्टिगोचर न हो तो आप यही मानेंगे कि यह शब्द आगे से आया है। इसी प्रकार आज का जन्मा बालक भी जब स्तनपान करता है, निन्द्रा लेता है और हँसता है तो यही मानना पडता है कि उसका पहले का अभ्यास होना चाहिए।

कहा जा सकता है कि पूर्वजन्म मानने से हमे लाभ क्या है ? इसका उत्तर यह है कि पूर्वजन्म मानने से अपने कर्त्तव्य का भान

होता है। 'मैं जल के बुलबुले की तरह अभी उत्पन्न होकर अभी नष्ट हो जाने वाला नहीं हूँ, किन्तु पहले भी था। न जाने कब से ससार मे भटक रहा हूँ। अतएव मुझे क्या करना चाहिए, जिससे दुर्गति से बच सकूं ?' इस प्रकार आप अपने कर्त्तव्य को समझने मे समर्थ होंगे।

अनुमान प्रमाण द्वारा आप यह भी जान सकेंगे कि 'आत्मा है और वह अमर है।' इस प्रकार आत्मा की शाश्वतता पर विश्वास होने से आत्मसुधार की चाबी मिल जाती है। आत्मा का सुधार ही सब सुधारों का मूल है। आज के लोग आत्मा को भूल रहे हैं और यही सब बुराइयों का कारण है।

मदिरापान, मासभक्षण, वर कन्याविक्रय आदि दूषित प्रवृत्तियाँ आत्मा को भूल जाने के कारण ही बढ गई हैं। आत्मा को जागृत रक्खा जाय तो ऐसी प्रवृत्तियाँ नहीं बढ सकतीं। अतएव आत्मा को जागृत रख कर उसका सुधार करो। कहावत है--जिसका इहलोक सुधरा, उसका परलोक सुधरा। इस सम्बध मे पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज एक बात कहा करते थे—

एक वृद्ध स्त्री का मकान श्मशान के मार्ग में था। मुर्दे उसी मार्ग से श्मशान में ले जाये जाते थे। वह वृद्धा धर्मपरायणा थी और प्राय धर्म की बातें किया करती थी। कोई न कोई बातें करने के लिए उसके पास बैठा ही रहता। जब उसके मकान के सामने से कोई मुर्दा निकलता तो वह कहती -यह जीव स्वर्ग मे गया है।

सुनने वाले पूछते— तुमने कैसे देख लिया कि वह स्वर्ग में गया है ?

वृद्धा कहती— मैंने देखा नहीं है, किन्तु उसकी श्मशानयात्रा में सम्मिलित लोग जो बातें करते जाते थे, वह मैंने सुनी हैं। उनसे मैंने अनुमान किया कि वह स्वर्ग में गया है। वे लोग उसकी प्रशसा करते हुए कहते थे— 'बड़ा परोपकारी था, बड़ा ही भलामानस था।' तो ऐसा परोपकारी अगर स्वर्ग में नहीं जाएगा तो क्या पापी जाएँगे ?

इस प्रकार जो ससार को भी अपने सत्कार्यों द्वारा स्वर्ग बना लेता है, और जिसकी लोग प्रशसा करते हैं, उसी को स्वर्ग मिलता है। रामदास ने कहा है:—

जनी निन्दति सर्व सोडून द्या वा,
जनी वन्दति सर्व भावे करावा।

अर्थात्- लोग जिस कार्य की निन्दा करते हैं, उस काम को छोड़ देना चाहिए और जिस कार्य की प्रशसा करते हैं, वह करना चाहिए। यही स्वर्ग का मार्ग है।

इस प्रकार जिनका यह लोक सुधरा है, उनका परलोक भी सुधरा है। अतएव अगर आप परलोक का सुधार करना चाहते हैं तो इस लोक की चिन्ता करो, इसे प्रशस्त बनाओ। निन्दनीय कामों का त्याग करो।

प्रश्न होता है— निन्दनीय काम किसे माना जाय ? बहुत बार लोग अच्छे कामों की भी निन्दा करने लगते हैं, तो क्या निन्दा के भय से उनका भी त्याग कर देना उचित है ?

इस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानी कहते हैं— श्रेष्ठ जन जिन कामों की निन्दा करते हैं, वे त्याज्य हैं। किन्तु श्रेष्ठ जन जिन कार्यों की

प्रशसा करते है, उनकी अगर लोग निन्दा करें तो भी उस निन्दा से डर कर उनका त्याग नहीं करना चाहिए।

आत्मा को पहचान लेने से भले बुरे कामों का विवेक उत्पन्न होगा। अतएव आत्मा को पहचान कर वैरभावना का परित्याग करो और प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीसबध स्थापित करो। अन्त करण मे सौम्य भाव को जागृत करो।

राजा मुनि की सौम्यता के विषय मे जो कुछ कह रहा है, वह वास्तविकता को देख कर कह रहा है। चन्द्रमा की किरणों से और उसकी सौम्यता से कुमुदिनी विकसित हो सकती है और दूसरी वनस्पतियों को भी रस मिल सकता है, किन्तु वह आत्मा के विकास मे समर्थ नहीं है। वह आत्मा मे रस को भी उत्पन्न नहीं कर सकता। परन्तु उन आर्य मुनि की सौम्यता आत्मा का विकास करने वाली थी। आत्मा कैसा ही क्रोध, मान, माया या लोभ से युक्त हो, किन्तु आर्य मुनि का मुख देखते ही वह शान्त हो जाता था। राजा सोचता है— 'मेरे हृदय का त्रिविध ताप इन आर्य मुनि की सौम्यता देखते ही शान्त हो गया है। इसी कारण मैं उनकी सौम्यता की प्रशसा करता हूँ और मानता हूँ कि ससार के समस्त शीतलता देने वाले पदार्थ भी इन मुनि की सौम्यता के सामने तुच्छ हैं।'

राजा श्रेणिक मुनि की सौम्यता की प्रशसा करने के पश्चात उनकी क्षमा की प्रशंसा करता है— अहा, इन मुनि मे कैसी क्षमा है।

कहा जा सकता है कि राजा ने मुनि की क्षमाशीलता को कैसे

जान लिया ? परन्तु वृक्ष के मूल को न देखने पर भी वृक्ष को देखने से मूल का अनुमान हो सकता है, इसी प्रकार मुनि के मुखमंडल पर झलकने वाली सौम्यता को देखकर राजा ने अनुमान से जान लिया कि मुनि मे आश्चर्यजनक क्षमाभाव है। विचक्षण राजा के लिए यह समझना कठिन नहीं था।

क्षमा किसे कहते हैं ? इस प्रश्न पर विचार करना भी यहाँ प्रासंगिक है। आज कई लोग कायरता को क्षमा समझ बैठे है परन्तु यह उनकी भूल है। क्षमा का वास्तविक स्वरूप कुछ दूसरा ही है। एक उदाहरण लीजिए —

कल्पना कीजिए, तीन मित्र घूमने जा रहे हैं। रास्ते मे किसी चौथे आदमी ने उन्हें गालियाँ दीं। उन तीन मित्रों मे से एक विचार करने लगा— 'मैंने इसका कुछ बिगाडा नहीं है, फिर क्यों यह गालियाँ दे रहा है ? क्या करूँ, अगर मुझमे शक्ति होती तो इसकी अक्ल दुरुस्त कर देता। मगर यह मुझसे अधिक बलवान् है। कुछ कहूगा तो उलटी मार खानी पडेगी।' इस प्रकार विचार कर वह चुप रहा। पर उनके हृदय मे गाली देने वाले को दंड देने की भावना है और वह मन ही मन उसे कोस रहा है। उस पर क्रोध कर रहा है।

दूसरे मित्र ने गाली देने वाले का सामना किया। 'क्यों निष्कारण गालियाँ दे रहा है ?' कह कर उसने अपनी शक्ति का परिचय दिया और उसे दबाया।

तीसरा मित्र विचार करता है— यह मुझे दुष्ट, बेवकूफ, नालायक कह कर गालियाँ देता है, तो मुझमे कोई दुष्टता या नालायकी

प्रशसा करते है, उनकी अगर लोग निन्दा करें तो भी उस निन्दा से डर कर उनका त्याग नहीं करना चाहिए।

आत्मा को पहचान लेने से भले-बुरे कामों का विवेक उत्पन्न होगा। अतएव आत्मा को पहचान कर वैरभावना का परित्याग करो और प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीसंबध स्थापित करो। अन्त करण मे सौम्य भाव को जागृत करो।

राजा मुनि की सौम्यता के विषय मे जो कुछ कह रहा है, वह वास्तविकता को देख कर कह रहा है। चन्द्रमा की किरणों से और उसकी सौम्यता से कुमुदिनी विकसित हो सकती है और दूसरी वनस्पतियों को भी रस मिल सकता है, किन्तु वह आत्मा के विकास में समर्थ नहीं है। वह आत्मा मे रस को भी उत्पन्न नहीं कर सकता। परन्तु उन आर्य मुनि की सौम्यता आत्मा का विकास करने वाली थी। आत्मा कैसा ही क्रोध, मान, माया या लोभ से युक्त हो, किन्तु आर्य मुनि का मुख देखते ही वह शान्त हो जाता था। राजा सोचता है— 'मेरे हृदय का त्रिविध ताप इन आर्य मुनि की सौम्यता देखते ही शान्त हो गया है। इसी कारण मैं उनकी सौम्यता की प्रशसा करता हूँ और मानता हूँ कि ससार के समस्त शीतलता देने वाले पदार्थ भी इन मुनि की सौम्यता के सामने तुच्छ है।'

राजा श्रेणिक मुनि की सौम्यता की प्रशसा करने के पश्चात उनकी क्षमा की प्रशंसा करता है— अहा, इन मुनि मे कैसी क्षमा है।

कहा जा सकता है कि राजा ने मुनि की क्षमाशीलता को कैसे

जान लिया ? परन्तु वृक्ष के मूल को न देखने पर भी वृक्ष को देखने से मूल का अनुमान हो सकता है, उसी प्रकार मुनि के मुखमण्डल पर झलकने वाली सौम्यता को देखकर राजा ने अनुमान से जान लिया कि मुनि मे आश्चर्यजनक क्षमाभाव है। विचक्षण राजा के लिए यह समझना कठिन नहीं था।

क्षमा किसे कहते हैं ? इस प्रश्न पर विचार करना भी यहाँ प्रासगिक है। आज कई लोग कायरता को क्षमा समझ बैठे है परन्तु यह उनकी भूल है। क्षमा का वास्तविक स्वरूप कुछ दूसरा ही है। एक उदाहरण लीजिए —

कल्पना कीजिए, तीन मित्र घूमने जा रहे है। रास्ते मे किसी चौथे आदमी ने उन्हें गालियाँ दीं। उन तीन मित्रों मे से एक विचार करने लगा— 'मैंने इसका कुछ बिगाडा नहीं है, फिर क्यों यह गालियाँ दे रहा है ? क्या करूँ, अगर मुझमे शक्ति होती तो इसकी अक्ल दुरुस्त कर देता। मगर यह मुझसे अधिक बलवान् है। कुछ कहूगा तो उलटी मार खानी पडेगी।' इस प्रकार विचार कर वह चुप रहा। पर उनके हृदय मे गाली देने वाले को दण्ड देने की भावना है और वह मन ही मन उसे कोस रहा है। उस पर क्रोध कर रहा है।

दूसरे मित्र ने गाली देने वाले का सामना किया। 'क्यों निष्कारण गालियाँ दे रहा है ?' कह कर उसने अपनी शक्ति का परिचय दिया और उसे दबाया।

तीसरा मित्र विचार करता है— यह मुझे दुष्ट, बेवकूफ, नालायक कह कर गालियाँ देता है, तो मुझमें कोई दुष्टता या नालायकी

तो नहीं आ गई है ? अगर वास्तव मे मुझमें दुष्टता एवं नालायकी आ गई है तो मुझे इस पर क्रोध क्यों करना चाहिए ? प्रत्युत इसका आभार मानकर मुझे अपनी दुष्टता को दूर करना चाहिए। और यदि मुझमे वास्तव मे दुष्टता या नालायकी नहीं है तो मैं क्यों मानूँ कि यह मुझे गालियाँ दे रहा है। मुझे नाराज होने की भी क्या आवश्यकता है ? मुझे विश्वास है कि मैं दुष्ट नहीं हूँ, नालायक भी नहीं हूं, तो फिर दूसरे किसी के कहने से मैं क्यों क्रोध करूँ ?

इस प्रकार एक आदमी ने अपनी असमर्थता जान कर गालियाँ सहन कीं और वैर का बदला लेने की वृत्ति होने पर भी चुप्पी धारण की। दूसरे ने अपनी शक्ति का परिचय देकर उसे दबाया और तीसरे ने यह माना ही नहीं कि यह मुझे गालियाँ दे रहा है।

यों तो पहले आदमी ने भी गाली देने वाले से कुछ नहीं कहा, फिर उसे क्षमाशील क्यों न मान लिया जाय ? परन्तु उसे क्षमाशील इस कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके हृदय मे वैर लेने की वृत्ति है। अपनी अशक्ति के कारण ही वह चुप रहा है, क्षमाभावना के कारण नहीं।

आज के कई लोग इस प्रकार की कायरता-अशक्ति को ही क्षमा मान बैठे हैं, पर शास्त्रकार कहते है- इस प्रकार की क्षमा तो तमोगुणी क्षमा है। सच्ची सतोगुणी क्षमा तो तीसरे मित्र मे है, जिसने शक्ति होने पर भी विचारपूर्वक क्षमा धारण की है।

राजा ने मुनि को देखते ही समझ लिया कि यह मुनि क्षमा-

शील हैं। शाक-भाजी वेचने वाला कूंजडा हीरा-माणिक का मूल्यांकन नहीं कर सकता, उसी प्रकार जो गुणों का परीक्षक नहीं होता, वह मुखाकृति को देखकर नहीं जान सकता कि इन मुनि मे क्षमाभाव है। परन्तु राजा तो गुणों का परीक्षक था। वह मुनि को देखते ही उनके क्षमाभाव को ताड गया। कई लोग रुपये को पत्थर पर बजा उसकी परीक्षा करते है और कई ऐसे कुशल होते हैं कि हाथ मे लेते ही जान जाते है कि रुपया खोटा है या खराव है ?

राजा यह भी समझ गया कि यह मुनि निर्लोभ और कामभोगों से विरक्त हैं। मुनि की कामभोगों से विरक्ति को भी राजा ने आश्चर्यजनक समझा। इसका कारण यह है कि वह भोगो का त्याग करना वहुत कठिन मानता था। जैसे धन आपको वहुत प्रिय है, अतएव उसका त्याग करना आपको अत्यन्त कठिन जान पडता है। ऐसी स्थिति मे आप किसी को लाखों का त्याग करते देखें तो आपको आश्चर्य होता है। यही बात राजा के विषय मे भी समझनी चाहिए।

राजा में भी, कम से कम स्वार्थ के लिए ही सही, थोडे बहुत अश मे क्षमा और निर्लोभता के गुण विद्यमान होंगे, परन्तु जब मुनि में नि स्वार्थ क्षमा और निर्लोभता के गुण देखे तो वह अपने गुणों को भूल गया और कहने लगा—'अहा, यह मुनि तो साक्षात् क्षमा और निर्लोभता की मूर्ति हैं ? और मुझमे तो कुछ भी नहीं है।'

जैसे राजा ने मुनि के साथ सम्बन्ध स्थापित किया, वैसे ही आप भी गुणी जनों के साथ सम्बन्ध जोड़ो। कदाचित् आप गुणों

को न अपना सकें तो जिन्होंने अपनाया है, उनकी प्रशंसा करो। यह भी कल्याण का मार्ग है। गाड़ी को खींच ले जाने की शक्ति तो केवल एंजिन मे ही होती है, दूसरे डिब्बों मे नहीं, फिर भी जो डिब्बे एंजिन के साथ जुडे रहते है, वे भी उसके साथ अग्रसर होते जाते हैं। आप महात्माओं के साथ सम्बन्ध जोड़ लेंगे तो उनके साथ आपका भी कल्याण हो जाएगा।

राजा क्षत्रिय था। वह वणिकों को तरह केवल मौखिक प्रशसा करके ही रह जाने वाला नहीं था। अतएव उसने विचार किया— मैंने इन आर्य मुनि मे गुण देखे है। तो नमस्कार आदि करके विवेक प्रदर्शन भी करना चाहिए।

वास्तव मे नमस्कार वही सच्चा है जो गुण जानने के पश्चात् किया जाता है। केवल बाहर का रूप-रङ्ग ही नहीं देखना चाहिए, वरन् गुण देखना चाहिए। राजा ने पहले मुनि के गुणों पर ही विचार किया, क्योंकि गुणों को जाने बिना नमस्कार करना भी उचित नहीं। राजा ने पहले मुनि के गुण देखे, फिर गुणों की प्रशसा की और फिर उन्हें नमस्कार करने का विचार किया। इस प्रकार वह प्रशसा करके ही नहीं रह गया, उसने नमस्कार भी किया। आप भी कोरी बातें करके ही न रह जाएँ, परन्तु कार्य करके बताएँ। काम न करना और भाषण किये जाना भी एक प्रकार का बकवाद है।

राजा ने मुनि को देखा और उनके गुणों का परिचय पाया तो सोचने लगा—इन मुनि के सामने मैं किसी विसात में नहीं। वह अपने अहकार को भूल गया। अहकार को छोड़ कर प्रकट रूप से

मुनि को वंदन नमस्कार करने के लिए उद्यत हुआ। शास्त्रकार आगे कहते हैं—

तस्स पाए उ वंदित्ता, काऊण य पयाहिणं।
नाइदूरमणासन्ने, पंजली पडिपुच्छई ॥७॥

अर्थ—राजा श्रेणिक मुनि के चरणों को वंदन करके, उनकी प्रदक्षिणा करके, न बहुत दूर और न बहुत पास बैठ कर, दोनों हाथ जोड़ कर मुनि से पूछने लगा।

गणधर देव ने अभी तक राजा के मानसिक भावों का वर्णन किया। अब वह राजा के प्रकट भावों का वर्णन करते हैं।

श्रेणिक क्षत्रिय था। क्षत्रियों का हृदय वास्तविकता को जान लेने के अनन्तर विनम्र बन जाता है, साधारणतया क्षत्रिय, सिर पर सङ्कट आ जाने पर भी मस्तक नहीं झुकाते हैं, किन्तु गुणों का परिचय पा लेने के पश्चात् मस्तक झुकाने में संकोच भी नहीं करते। राणा प्रताप ने अकबर के सामने सिर नहीं झुकाया तो अन्त तक नहीं झुकाया। सुना जाता है, अकबर ने यहां तक कहलाया कि अगर आप मुझे मस्तक झुका दें तो मैं अपने राज्य का छठा भाग आपको दे दू, किन्तु स्वाभिमान की रक्षा के लिए राणा प्रताप ने अकबर के इस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया। वह जङ्गलों मे अपने दिन काटने लगे, भांति-भांति के कष्ट सहन करने लगे, परंतु अन्त तक उन्होंने सिर नहीं झुकाया। इस प्रकार क्षत्रिय कष्ट सहन कर लेते हैं, पर मस्तक नहीं नमाते। हां, किसी में गुण देखते हैं तो मस्तक झुकाने में सकोच भी नहीं करते।

राजा श्रेणिक मुनि के गुणों को देखकर सवारी से नीचे उतरा,

उनके पास गया और उनके चरणों मे अपना मस्तक नमाया। यही नहीं, उसने मुनि की प्रदक्षिणा भी की।

प्रदक्षिणा का अर्थ आजकल दूसरा किया जाता है, परन्तु मैं उससे भिन्न - अर्थ करता हूँ। मेरी कोई भूल बतलादे तो उसे मानने मे मुझे सकोच नहीं होगा। प्रणाली के अनुसार प्रदक्षिणा का अर्थ अलग है और शास्त्र की बात अलग है। शास्त्र में जहां कहीं वर्णन आता है, पहले चरणवन्दन करने का वर्णन आता है। यथा—

आलोय पणामं करइ

—भगवती सूत्र

अर्थात्—जहाँ से दृष्टि पड़ी वहीं से वन्दना की, और फिर पास मे आकर प्रदक्षिणा की। ऐसा शास्त्रों में वर्णन आता है। वास्तव में प्रदक्षिणा का अर्थ वन्दनीय के आजूबाजू चारों ओर आवर्त्तन करना है। जिस स्थान से घूमना आरम्भ किया, चारों ओर घूम कर उसी जगह आ जाना एक प्रदक्षिणा है। इस प्रकार आवर्त्तन और प्रदक्षिणा मे अन्तर है। हाथ जोड कर एक कान से दूसरे कान तक फिराना आवर्त्तन कहलाता है और प्रदक्षिणा वन्दनीय के चारों ओर घूम कर उनके गुणों का वरण करना है। आवर्त्तन का वर्णन समवायांगसूत्र मे किया गया है। मुनि को वन्दन करते समय 'आयाहिणं पयाहिणं' का पाठ पढ़ा जाता है, उसमें पयाहिणं का अर्थ प्रदक्षिणा करना है।

विवाह के समय वर-वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं। पति के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करने के पश्चात् सच्ची आर्य बाला प्राण समर्पित कर सकती है, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा से तनिक भी

विमुख नहीं होती। प्रदक्षिणा तो आपने भी की होगी और प्रतिज्ञा भी की होगी। तो फिर जो कर्त्तव्य स्त्रियों का माना जाता है, वह क्या पुरुषों का नहीं है ? सदाचारिणी महिला प्रदक्षिणा करने के पश्चात् अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को भाई या पिता के समान मानती है। इसी प्रकार सदाचारी पुरुष अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य समस्त स्त्रियों को अपनी माता या बहिन के समान मानता है।

यह लौकिक व्यवहार की बात हुई। यहा श्रेणिक राजा ने मुनि को प्रदक्षिणा की है। इसका अभिप्राय क्या है, यह सोचना है। मुनि को प्रदक्षिणा करने का अर्थ मुनि के गुणों को अपनाना है।

राजा ने मुनि के गुणों की प्रशसा तो पहले ही की थी, परन्तु व्यवहार मे मुनि की प्रदक्षिणा करके उनके गुणों को स्वीकार किया और उन्हें अपना गुरू अगीकार किया। इस प्रकार उनके गुणों को अपनाकर, हाथ जोड़कर बहुत दूर भी नहीं और बहुत पास भी नहीं—समुचित दूरी पर मुनि के समक्ष बैठ गया। बहुत सन्निकट बैठने से मुनि की आसातना हो सकती है और बहुत दूर बैठने से बात बराबर सुनाई नहीं पड़ती। राजा ने इस प्रकार बैठकर मुनि से प्रश्न किया।

> तरुणो सि अज्जो पव्वइओ, भोग कालम्मि संजया।
> उवट्ठिओ सि सामण्णो, एयमट्ठं सुणेमि ता ॥ ८ ॥

अर्थ—हे आर्य। मैं यह सुनने का इच्छुक हूँ कि आप भोग के योग्य इस तरुणावस्था मे सयम मे क्यों तत्पर हुए हैं ?

व्याख्यान —राजा अनेक कला-कौशल, विज्ञान-दर्शन आदि के तत्त्वों का जानकार था। वह चाहता तो इन विषयों से संबंध रखने वाला प्रश्न पूछ सकता था। परन्तु उसने ऐसा कोई प्रश्न न पूछ कर एक सीधासादा प्रश्न किया। प्रश्न पूछने से पहले राजा ने कहा—आपकी स्वीकृति हो तो मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। जब मुनि ने कह दिया कि जो चाहो, पूछ सकते हो, तब राजा ने मुनि से प्रश्न किया—आपने भर जवानी में क्यों दीक्षा धारण की? इस तरुणावस्था में तो भोग भोगना प्रिय लगता है। फिर आप विरक्त होकर संयम का पालन करने के हेतु कैसे निकल पड़े? आप वृद्ध होते तो संयम को धारण करना उचित कहलाता। अगर आपकी तरह सभी तरुण साधु बन जाएं तो गजब हो जाय। मैं सब से यह प्रश्न नहीं पूछ सकता, किन्तु जो मेरे सामने युवावस्था में संयम लिए बैठे हैं, उनसे उसका कारण जानना मेरा कर्त्तव्य है। मैं सब चोरियों को तो रोक नहीं सकता, किन्तु आँखों के सामने होने वाली चोरी को रोकना मेरा कर्त्तव्य है। अपने कर्त्तव्य का पालन न करूं तो मैं राजा कैसा? अनुचित और अशोभास्पद कार्य को रोकना मेरा कर्त्तव्य है। तरुणावस्था में संयम लेना अशोभास्पद है। इसी कारण मैं आपसे इसका कारण जानना चाहता हूँ। किसी दुःख से उद्विग्न होकर आप साधु बने हों तो निःसंकोच कह दीजिए, जिससे मैं आपका दुःख दूर करने में सहायक हो सकूं।

श्रेणिक की तरह आज का युवकवर्ग भी ऐसी शंका करता है। मानो इस प्रकार कि शंका का निरसन करने के लिए ही इस

अध्ययन की रचना की गई है। मन में किसी प्रकार की शंका हो तो, राजा की तरह नम्रतापूर्वक प्रश्न, करने पर उसका समाधान भी हो सकता है, परन्तु यदि कोई पण्डितम्मन्य बन जाय और यह समझ बैठे कि मैं, सब कुछ जानता हूं, तो फिर शका का समाधान कैसे हो सकता है ?

आज के युवकों की जो मनोदशा है, उसी मनोदशा को राजा प्रकट कर रहा है। शास्त्र त्रिकालदर्शी है और इसी कारण आधुनिक युवकों की शका का समाधान इस अध्ययन मे किया गया है।

आज अनेक लोगों का ख्याल है कि इस संसार में जो कुछ भी है, भोग भोगने के लिए ही है, किन्तु धर्म ने भोग भोगने मे बाधा डाली है। शास्त्र मे ऐसे कथन का उत्तर दिया गया है। शास्त्र स्वय मुँह से नहीं बोलता है, अतएव शास्त्र के ज्ञाताओं को सतर्क होकर शास्त्र का प्ररूपण करना चाहिए। मुझमे तो इतनी शक्ति नहीं है कि मैं ज्ञानियों द्वारा कथित प्रत्येक बात का निरूपण कर सकू, परन्तु यह ससार भोगोपभोग के लिए ही नहीं है, यह बात मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहता हू।

ससार मे दो प्रकार के लोग हैं-वस्तु का सदुपयोग करने वाले और दुरुपयोग करने वाले। आपको यह मनुष्य शरीर मिला है। परन्तु कितनेक लोग मानव शरीर प्राप्त करके सोचते हैं—अन्य योनियों मे जो सुख-सामग्री नहीं मिल सकती, वह मनुष्य योनि मे मिली है। अतएव मानव-योनि पाकर अधिक से अधिक भोग भोग लेना चाहिए। परन्तु ज्ञानियों का मन्तव्य है कि भोग भोगने में मनुष्ययोनि पाने की

सार्थकता नहीं है। भोग भोगने से पाशविक जीवन उन्नत बनता है, किन्तु मानवीय जीवन या मनुष्य तन का सदुपयोग नहीं होता। पशुओं की अपेक्षा अधिक और विशिष्ट भोग भोगने के कारण ही किसी को मनुष्य मान लेना ठीक नहीं है। भोगों का उपभोग कर लेना मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है। भोग तो पशु भी भोगते ही हैं। कहा भी है—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च,
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

—हितोपदेश

ज्ञानी जन कहते हैं कि तुम भोग भोग कर मनुष्य जन्म को सार्थक हुआ समझते हो, परन्तु पशु क्या भोग नहीं भोग सकते ? तुम भले उत्तम खानपान खाते पीते हो, परन्तु उसे अगर पशुओं के सामने रक्खो तो क्या वे नहीं खाएँगे-पीएँगे ? यह बात जुदा है कि पशुओं को ऐसा खाना पीना नहीं मिलता है और न मिलने के कारण वे नहीं खाते-पीते हैं, किन्तु यदि उन्हें मिल जाय तो क्या वे खाएँगे-पीएँगे नहीं ? अच्छा भोजन न मिलने के कारण अनेक मनुष्य ऐसा खाते हैं, जैसा पशु भी नहीं खाते।

आप रेशम या जरी के कपड़े पहनते हैं और आभूषण धारण करते हैं, किन्तु पशुओं को अगर वह वस्त्राभूषण पहनाये जाएँ तो क्या वे नहीं पहन सकते ? तुम महल में रहते हो और सवारी पर चलते हो, किन्तु पशुओं को यदि महल मे रक्खा जाय तो क्या वे

नहीं रह सकते ? सवारी में नहीं बैठ सकते ? सुना था—किसी लॉर्ड ने अपने कुत्ता-कुत्तिया का विवाह किया था और उसमे लाखों खर्च किये थे। परन्तु इससे क्या कुत्ता मनुष्य हो गया ? नहीं, तो आप भोग भोगने मे मनुष्यजन्म को सार्थक कैसे मान सकते हो ?

जब पशु भी आपकी तरह खा-पी सकते हैं और भोगोपभोग कर सकते हैं तो फिर उनमे और आपमे क्या अन्तर रहा ? अभिप्राय यह है कि भोग भोगने के कारण मनुष्य जन्म को सार्थक नहीं कह सकते, हां धर्म ही मनुष्य की विशेषता है और धर्म की आराधना करने मे ही मनुष्य जन्म की सार्थकता है। इसी से कहा है—

धर्मो हि तेषामधिको विशेषः,
धर्मेण हीना. पशुभिः समाना' ॥

—हितोपदेश

पशुओं को अगर धर्म का आचरण करने के लिए कहा जाय तो वे धर्म का आचरण नहीं कर सकते। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य वगैरह गुणों का पालन मनुष्य ही कर सकता है, पशु नहीं। अतएव इन गुणों का पालन करने से ही मनुष्य जन्म सार्थक हो सकता है। इसलिए भोगोपभोग मे मनुष्य जीवन की सार्थकता न मानो, वरन् अहिंसा सत्य आदि सद्गुणों के पालन मे सार्थकता मानो।

राजा श्रेणिक के प्रश्न से ऐसा झलकता है कि वह सयम को ठीक नहीं समझता। आज भी अनेक लोग सयम को अच्छा नहीं मानते। वे साधुओं की निन्दा करते हैं और कहते हैं कि साधु समाज के ऊपर भार हैं।

इसका एक कारण तो यह है कि कई लोग सयम धारण करके और साधु-वेश मे रह कर भी अनुचित कार्य करते है। ऐसे भ्रष्ट लोगों की बदौलत सयम का सम्यक् प्रकार से पालन करने वालों की भी निन्दा होती है। फिर भी साधु मात्र की निन्दा करना योग्य नहीं है। जो साधु होकर भी खराब काम करते हैं, वे वास्तव में साधु ही नहीं हैं? शास्त्रीय शब्द मे उन्हें 'पापश्रमण' कहते हैं। ऐसे पाप श्रमणों के कारण सच्चे साधुओं की निन्दा क्यों होनी चाहिए?

कहा जा सकता है कि हमे कैसे पता चले कि कौन सच्चा साधु है और कौन पापश्रमण है? इसका उत्तर यह है कि आपके भीतर जो विवेक-बुद्धि है, उसका उपयोग करोगे तो भले-बुरे साधु का भेद समझ लेना कठिन नहीं है।

दूध और पानी की तरह जो सत्य और असत्य का निर्णय करता है वह विवेक है। विवेक का उपयोग करने से खरे-खोटे साधु की परीक्षा हो जाएगी। परीक्षा किये बिना यह कह देना कि सभी साधु खोटे होते है और साधुओं की अपेक्षा गृहस्थ अच्छे होते है, अनुचित है। सच्चे साधु की निन्दा करना सद्गुणों की निन्दा करने के समान है। जो साधु की निन्दा करता है, वह क्या अहिंसा की निन्दा नहीं करता? जो हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन-सेवन करता है और द्रव्य-संग्रह करता है, वह साधु है अथवा जो अहिंसा का पालन करता है, सत्य बोलता है, चोरी नहीं करता, ब्रह्मचर्य का पालन करता और जो अपने पास फूटी कौड़ी भी नहीं रखता, वह साधु है?

सच्चा साधु तो पंचमहाव्रतधारी होता है। ऐसी स्थिति में जो साधु की निन्दा करता है, वह क्या अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की निन्दा नहीं करता ?

कोई कह सकता है कि कितने ही साधु हिंसा आदि पापों का सेवन करते हैं, किन्तु जो साधु के अयोग्य असदाचरण करते हैं वे क्या साधु हैं ? अगर नहीं तो ऐसे असाधुओं के कारण साधुओं की निन्दा क्यों करते हो ? आप कह सकते हैं कि असाधु खराब होते हैं, पर साधुओं की निन्दा क्यों की जाय ? आजकल कलचर - बनावटी रत्न भी निकले हैं। क्या उनके कारण समस्त रत्नों को खोटा कह देना योग्य कहा जा सकता है ?

मैं साधुओं से भी कहता हूँ कि-'महात्माओ ! जागृत हो जाओ ! आजकल धर्म की निन्दा हो रही है और इस निन्दा का भार आपके ऊपर आ पड़ा है। अतः सावधान हो जाओ और विचार करो कि आप क्या कर रहे हैं ?' इस प्रकार मैं साधुओं से कहता हूँ, परन्तु साथ ही आपसे भी कहना चाहता हूँ कि आप असाधुओं के कारण साधुओं की जो निन्दा करते हैं, इस विषय मे विचार करो तथा साधु एवं असाधु को पहचानने का विवेक प्राप्त करो।

राजा श्रेणिक तो मुनि को साधु ही समझता था। अतएव उनके गुणों की प्रशंसा करके और उन्हें नमस्कार करके उसने प्रश्न किया कि आपने इस यौवन- अवस्था में संयम क्यों धारण किया ?

कोई और होता तो राजा का यह प्रश्न सुनकर कह देता चलो, जाओ, साधुओं के काम में पड़ने की तुझे आवश्यकता ही क्या है ? तेरा काम राज्य चलाना है। तू साधुओं की बातों को क्या समझे ?

मगर अनाथी मुनि ने राजा का प्रश्न सुनकर उसका तिरस्कार नहीं किया। उन्होंने शान्ति के साथ उत्तर दिया। मुनिराज बोले :-

अणाहो मि महाराय, णाहो मज्झण विज्जइ।
अणुकंपगं सुहिं वावि, किंचि नाभिसमेमहं॥ ६॥

अर्थ -- महाराज। मैं अनाथ था। मेरी रक्षा करने वाला कोई नहीं था - पालन करने वाला भी नहीं था। इस कारण मैंने संयम धारण कर लिया।

व्याख्यान :— पहले यह देख लेना चाहिये कि नाथ किसे कहते हैं। योग और क्षेम करने वाले को नाथ कहते हैं। अप्राप्त वस्तु का प्राप्त होना योग कहलाता है और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करना क्षेम है। इस प्रकार जो प्राप्त न हुई वस्तु को प्राप्त करावे और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करे उसे नाथ समझना चाहिये।

अनाथी मुनि कहते हैं - मेरा कोई नाथ नहीं था। कोई मेरी रक्षा करने वाला नहीं था। धर्म समझ कर भी कोई मेरी रक्षा करने वाला नहीं था। मेरा कोई मित्र भी ऐसा नहीं था जो सकट के समय काम आता। इसलिए मैं साधु बन गया।

मुनि के इस उत्तर से साधारणतया ऐसा खयाल होता है कि कोई भटकने वाला आदमी रहा होगा। उसे खाने पीने और सोने-बैठने की सुविधा न होगी। कोई पूछताछ करने वाला भी न होगा। इस कारण साधु बन गया।

नारि मुई घर सम्पति नासी,
मूड मुड़ाय भये सन्यासी।

इस कथन के अनुसार औरत मर गई होगी और सम्पत्ति नष्ट हो गई होगी और इसी से सिर मुडा कर साधु बन गये होंगे।

राजा को भी मुनि का उत्तर सुनकर आश्चर्य हुआ होगा और उसके मन में आया होगा— अभी ऐसा कलियुग का समय नहीं आया कि कोई दयालु अनाथ की रक्षा न करे। आज आप को कोई ऐसा अनाथ दिखाई देता है तो आप उसे अनाथालय मे भेज देते हैं। ऐसे कलियुग के समय मे भी जब अनाथों को सुविधा सहायता मिल जाती है, तो उस समय तो चौथा आरा था। उस समय अनाथों की ऐसी दुर्दशा कैसे हो सकती है ? इस कारण राजा को मुनि का उत्तर सुनकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

इस गाथा के चौथे चरण में पाठान्तर है। कहीं—कहीं 'किंचि नाइ सुमेमह' ऐसा पाठ है। इस पाठ मे आया 'नाइ' शब्द का अर्थ राजा के साथ सबध रखता है। उसका अर्थ होता है— हे राजन् ? तू ऐसा समझ · 'नाभि' ऐसा पाठ हो तो उसका संबंध मुनि के साथ है। जिसका अभिप्राय होता है कि मुझ पर कोई जरा भी अनुकम्पा करने वाला नहीं था।

हाँ, तो मुनि का उत्तर सुनकर राजा आश्चर्य में पड गया। यह सोचने लगा—यह ऐसी उत्तम ऋद्धि से सम्पन्न हैं फिर भी कहते हैं कि मैं अनाथ हूँ और अनाथ होने से साधु बन गया हूँ। इन-का यह कथन ऐसा ही जान पड़ता है जैसे चिन्तामणि कहे कि मुझे कोई रखता नहीं, कल्पवृक्ष कहे कि मेरा कोई आदर नहीं करता और कामधेनु कहे कि मुझे कोई खड़ा भी नहीं रहने देता। जैसे यह असभव , उसी प्रकार मुनि का यह कथन भी जान पड़ता है।

जिनके शरीर में शंख, चक्र, पद्म आदि शुभ लक्षण विद्यमान हैं, उनका कोई नाथ न हो, कोई रक्षक न हो, कोई मित्र न हो, यह कैसे संभव हो सकता है।

कवि कहते हैं—कदाचित् विधाता हंस से नाराज हो जाय तो हंस के रहने का कमलवन उजाड सकता है, या उसके मानसरोवर मे रहने पर प्रतिबंध लगा सकता है, परन्तु हंसकी चोंच मे दूध और पानी को जुदा करने का जो गुण है उसे तो कदापि नहीं छीन सकता।

राजा मुनि से कहता है—'ऐसे ऋद्धिमान् होने पर भी आप अनाथ थे, यह कैसे माना जा सकता है? परन्तु इस सबंध में अधिक प्रश्नोत्तरों मे न पडकर इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप मेरे साथ चलिए, मैं आपका नाथ बनता हू। मेरे राज्य में कोई कमी नहीं है।'

यही अभिप्राय आगे की गाथा मे प्रकाशित किया गया है

तओ सो पहसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्ढिमन्तस्स, कहं नाहो न विज्जइ॥ १०॥

अर्थ—मुनि का उत्तर सुनकर राजा हँस पड़ा और मुनि से कहने लगा—जो इस प्रकार की ऋद्धि से सम्पन्न है, उसका कोई नाथ न हो, यह कैसे हो सकता है?

व्याख्यान—मुनि ने जो उत्तर दिया था, वह राजा को ठीक नहीं लगा, अतः वह हँस पडा।

राजा श्रेणिक का प्रकरण चल रहा है और उसका परिचय पहले दिया जा चुका है, तो फिर यहाँ राजा को श्रेणिक और मगधाधिप

कहने की क्या आवश्यकता थी ? साधारण लोग पुनरुक्ति दोष से बचने का प्रयास करते हैं, मगर गणधर तत्त्व को समझाने का उसी प्रकार प्रयत्न करते हैं, जैसे माता अपने पुत्र को एक ही बात बार बार समझाने का प्रयत्न करती है। मेरी समझ के अनुसार गणधरों ने 'मगधाधिप' शब्द का पुन. प्रयोग यह बताने के लिए किया है कि हँसने वाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं था किन्तु मगध का सम्राट था। साधारण व्यक्ति के हँसने मे और बड़े राजा के हँसने मे बड़ा अन्तर होता है। यही प्रकट करने के लिए गणधरों ने राजा के रूप मे परिचय देने पर भी फिर उसे 'मगधाधिप' कहकर परिचय दिया है।

राजा श्रेणिक हसकर कहने लगा—आप जसे ऋद्धिशाली का कोई नाथ न हो, यह बात कैसे बन सकती है ?

देखना चाहिए कि ऋद्धि का अर्थ क्या है ? मुनि के पास ऐसी कौनसी ऋद्धि थी कि जिसके कारण उन्हें ऋद्धिमान् कहा गया है ?

ऋद्धि दो प्रकार की होती है—बाह्य ऋद्धि और आन्तरिक ऋद्धि। बाह्य ऋद्धि मे धन-धान्य आदि का समावेश होता है और आन्तरिक ऋद्धि मे शरीर की स्वस्थता और इन्द्रियों के पूर्ण विकास आदि का अन्तर्भाव होता है। मुनि के पास बाह्य ऋद्धि तो नहीं थी, पर आन्तरिक ऋद्धि थी। उनकी भव्य आकृति उनकी सम्पन्नता एव सुन्दर प्रकृति का परिचय देती थी।

कहावत है—'यथाऽऽकृतिस्तथा प्रकृति' अर्थात् जिसकी आकृति सुन्दर होती है, उसमे गुणों का वास भी होता है। आज भी

देखो तो प्रतीत होगा कि जिनकी आँखें मोटी होती हैं, कान लम्बे होते हैं, वक्षस्थल प्रशस्त और विस्तीर्ण होता है, कपाल चौड़ा होता है और शरीर के अंगोपांग पूर्ण विकसित होते हैं, वह भाग्यवान् और गुणवान् गिने जाते हैं। अनाथी मुनि की आकृति सुन्दर थी और उनकी ऋद्धि भी स्पष्ट झलकती थी।

टीकाकार कहते हैं कि जहा आकृति उत्तम होती है वहा गुणों का वास होता है और जहा गुणों का वास होता है वहां लक्ष्मी का वास होता है, क्योंकि लक्ष्मी गुणवान् को ही वरण करती है, गुण-हीन को नहीं।

कहा जा सकता है कि लक्ष्मी तो गुणहीन के पास भी देखी जाती है, पर इसका उत्तर यह है कि चाहे आपको उसके गुण दिखाई न देते हों, मगर उसमे व्यावहारिक गुण अवश्य होते हैं।

इस प्रकार जहाँ गुण होते हैं, वहाँ लक्ष्मी भी वास करती है। वहाँ नौकर-चाकरों पर आज्ञा भी चलती है। उस आज्ञा का पालन होना ही राज्य है।

राजा ने मुनि से कहा— आपने दुःख के कारण सयम धारण किया है, यह मुझे सत्य नहीं मालूम पड़ता। ऐसे ऋद्धिमान् का कोई रक्षक न हो, यह सभव नहीं। मगर आपके कथनानुसार अगर आपने दुःख के कारण सयम ग्रहण किया है तो किस प्रकार सयम का निर्वाह हो सकेगा? इसलिए—

होमि नाहो भयंताणं, भोगे भुंजाहि संजया।
मित्तनाइपरिवुडो, माणुस्सं खु सुदुल्लहं ॥११॥

अर्थ— हे संयत, मैं आपका नाथ बनता हूं। मनुष्यभव अत्यन्त दुर्लभ है, अत: मित्रजनों और ज्ञातिजनों के साथ मिलकर आप भोग भोगिए।

व्याख्यान— राजा श्रेणिक कहते हैं— हे पूज्य। आपसे अधिक कुछ न कह कर सक्षेप में इतना ही कहता हू अगर आपने अनाथता के दुःख से सयम धारण किया है तो इस दुःख को दूर करने के लिए मैं आपका नाथ बनता हूँ। जब मैं आपका नाथ बन जाऊँगा तो किस चीज की कमी रह जाएगी? अतएव हे सयत, सयम को छोड़ो और भोग भोगो।

राजा मुनि को भोग भोगने के लिए कह रहा है। तो क्या वह इतनी ओछी बुद्धि वाला था? नहीं, राजा इतनी ओछी बुद्धि वाला नहीं था। उसके कथन से विशेष रहस्य छिपा है। मुनि ने सयम ग्रहण करने का जो कारण बतलाया, उस पर उसे विश्वास नहीं हुआ। वह मुनि के कथन के मर्म को नहीं समझ पाया? वह यह तो जानता था कि मुनि मिथ्या भाषण नहीं कर सकते, परन्तु उनका अभिप्राय क्या है, यह भी उसकी समझ मे नहीं आया था। अतएव राजा ने सोचा— मैं प्रत्युत्तर मे ऐसी बात क्यों न कहूँ, जिससे मुनि द्वारा दिये गये उत्तर का रहस्य खुल जाय? इस प्रकार मुनि के उत्तर की वास्तविकता को समझने के लिए ही राजा ने स्वय नाथ बनने और भोग भोगने की बात कही है, राजा सोचता था कि मेरे कहने पर यदि यह सयम त्याग कर मेरे साथ आ गये तो मुझे एक अद्वितीय ऋद्धिसम्पन्न व्यक्ति की प्राप्ति होगी। यदि ऐसा न हुआ तो मुनि के कथन का असली रहस्य प्रकाश मे आ

जाएगा। इस विचार से प्रेरित होकर राजा श्रेणिक ने मुनि को भोग भोगने के लिए आमन्त्रित किया है।

दूसरी बात यह है कि जो भोगों का त्यागी नहीं है, उसे भोग भोगने के लिए कोई आग्रह नहीं करता; किन्तु जो भोग का त्यागी है उसे आग्रह करने वाले बहुत मिल जाते हैं। बहुत से लोग रहने के लिए इधर-उधर भटकते हैं। किन्तु उन्हें कोई अपने यहाँ रहने को स्थान नहीं देता। मगर जो दीक्षा लेने को तैयार होता है, उसे कई कहते हैं कि-'क्यों दीक्षा लेते हो? चलो, हमारे यहाँ रहो।' यह सब भोगों के त्याग का ही प्रताप है।

राजा ने मुनि से कहा—आप मेरे यहाँ चलिए। मैं आपका नाथ बनता हूँ। मेरे यहाँ आपको सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होंगी। आप यह विचार न करना कि मै दीक्षित हो चुका हूँ, अतएव अब ज्ञातिजन या मित्र आपको नहीं अपनाएँगे। संयम ग्रहण करके आपने कोई खराब काम नहीं किया था। ज्ञातिजन और मित्रजन तो उलटा आपका आदर-सत्कार ही करेंगे। मैं संयम त्यागने का आग्रह इसलिए करता हू कि यह मनुष्यजन्म बहुत दुर्लभ है। इस दुर्लभ जीवन को व्यर्थ बर्बाद कर देना उचित नहीं है।

जो लोग भोग भोगने मे मनुष्यजीवन की सफलता मानते हैं, वे भी यही कहते हैं कि मनुष्यजन्म मिलना कठिन है और जो भोगों के त्याग का उपदेश करते हैं, वे भी यही कहते हैं कि बार-बार मनुष्यभव पा लेना कठिन है। अतएव भोग- उपभोग में इस जीवन का अपव्यय न करो। इस प्रकार भोगी और त्यागी दोनों अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार कहते हैं। इससे यह तो

निश्चित हो जाता है कि वास्तव में मानवभव दुर्लभ है, मगर असली प्रश्न तो यह है कि इसकी सार्थकता किसमे है ?

जो लोग भोग भोगने मे जीवन की सफलता समझते हैं, उनका कहना है—उत्तम खाना--पीना, सुन्दर वस्त्र पहनना और बढ़िया मकान मे रहना, आमोद-प्रमोद मे दिन व्यतीत करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। मनुष्यभव में यह सब न किया--भोग न भोगे तो क्या पशुजीवन मे भोगेंगे ? पशुजीवन में यह सब सामग्री कैसे भोगी जा सकती है ? स्टीमर, रेलगाडी और वायुयान आदि मे बैठ कर मनुष्य ने मजा न लूटा तो क्या पशु बन कर लूटा जा सकता है ? अतएव मनुष्यजीवन की सार्थकता भोग भोगने मे ही है। यह एक पक्ष है।

दूसरा पक्ष भोगों का त्याग करने मे ही मानवजीवन की सफलता समझता है। इस मान्यता की पुष्टि मे ज्ञानी कहते हैं—अगर आपने दुर्लभ मनुष्यजन्म और विशिष्ट बुद्धिवैभव पा करके भी इतना ही विकास किया, अर्थात् भोग भोगने में ही समय व्यतीत कर दिया तो आपकी क्या विशेषता हुई ? इतना विकास तो पशुओं और पक्षियों मे भी होता है। इसमे मनुष्यत्व की विशेषता ही क्या कहलाई ? तुम वायुयान पर आरूढ़ होकर गगनविहार करने मे जीवन को धन्य मानते हो, किन्तु पक्षी तो बिना वायुयान ही-अपने पखों के बल पर आकाश मे उड़ते हैं। अगर आकाश मे उड़ना ही महत्ता है तो पक्षी आपसे भी महान् ठहरते हैं।

तुम सुन्दर वस्त्र परिधान करने मे जीवन की सफलता मानते हो, किन्तु इधर-उधर से कपास इकट्ठा करके और कपड़ा बना करके

पहनने में क्या विशेषता है ? इससे तो वह साधारण जन्तु ही अच्छे जो अपने शरीर मे से तन्तु निकाल कर जाल बनाते हैं। तुम कपड़ा पहन कर अकड़ते चलते हो, पर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से तो देखो कि उसमे कितने छिद्र हैं ? मकडी जैसा साधारण जन्तु जो जाल बनाता है, वह कितना सुन्दर और छिद्रहीन होता है। उसे देखो तो पता लगेगा कि आपके कपड़ों की अपेक्षा उसमें अनेकगुणी विशेषता है।

तुम मकान बनाने और उसमे रहने मे मनुष्य जन्म की विशेषता मानते हो, किन्तु मधुमक्खी और चिउँटी आदि प्राणी अपने रहने के लिए महान् परिश्रमपूर्वक ऐसा सुन्दर घर बनाती हैं कि जिसे देखकर मनुष्य का अहकार चूर-चूर हो जाता है। जरा देखो तो सही कि उनके मकानों मे कितनी सुन्दर व्यवस्था होती है। उनके मकानों मे प्रसूतिगृह, भोजनगृह आदि अलग-अलग होते हैं। कला और आविष्कार की दृष्टि से देखो तो मधुमक्खी मनुष्य से भी आगे बढ़ जाती है। उसकी कला देखकर आज के वैज्ञानिक भी आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वह अपने रहने का घर कलापूर्वक और नाप से बनाती है। यही नहीं, वरन् थोडे-से ही मोम मे अधिक से अधिक मधु भरने की व्यवस्था कर सकती है। उनकी सगठन-व्यवस्था भी अद्भुत है। जब वह छत्ते में मोम लगाती है, तब सब की सब एक ही साथ मोम लगाती हैं और मधु भरती हैं तो सब मधु भरती है। क्या तुम्हारी कला उनसे बढ़ कर है ?

अभिप्राय यह है कि अगर आप वस्त्र-मकान आदि के कारण

ही मनुष्य जन्म को सार्थक मानते हो तो आपने मधुमक्खी—चींटी जैसे साधारण जीवों की अपेक्षा कोई विशेष प्रगति नहीं की है।

जरा विवेक बुद्धि से विचार करो कि तुम पहले कौन थे और किस कारण से मनुष्यजन्म पा सके हो? इस प्रश्न पर गहरा विचार करोगे तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि ऊँचे ऊँचे महल बनाने से, बढ़िया - बढ़िया भोजन-पान करने से, मजा - मौज लूटने से या भोग भोगने से यह दुर्लभ मनुष्यजन्म नहीं मिला है। इस सबध मे भक्त तुकाराम कहते हैं—

अनन्त जन्म जरी केल्या तप राशी तरीहान,
पवसी मरो दहे ऐसा हा निदान।
लागलासी हाथी त्याची केली माती भाग्यहीन॥

अर्थात्—अनन्त जन्मों तक पुण्यराशि सचित करने पर भी मनुष्यजन्म मिलता है या नहीं, यह शकास्पद है। फिर भी पुण्य के बल से मनुष्यजन्म मिल गया है, उसे अभागे लोग मिट्टी की तरह गँवा देते हैं।

यह जीव सूक्ष्म निगोद मे, बादर निगोद मे, पृथ्वीकाय, अपूकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय मे आया, फिर पुण्य के योग से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और फिर बड़ी कठिनाई से पचेन्द्रिय हुआ। पचेन्द्रिय होकर भी प्रबल पुण्य के उदय से मनुष्य हुआ। मनुष्यजन्म के साथ आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल और उत्तम धर्म की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर की तपश्चर्या सचित करने से मनुष्य-जन्म मिला है। इस कठोर तपश्चर्या के परिणाम स्वरूप मिले

मनुष्यजन्म को भोगोपभोगों की गदगी मे पड कर गँवा देना उचित नहीं।

राजा श्रेणिक ने मुनि से कहा— यह मनुष्यजन्म दुर्लभ है, अतएव भोग भोग कर इसे सार्थक बनाओ। मैं आपका नाथ बनता हूँ। चलिए सुखपूर्वक रहिए।

राजा का कथन सुनकर मुनि को आश्चर्य हुआ, ठीक वैसा ही जैसा कि मुनि का उत्तर सुनकर राजा को हुआ था। अपना अपना पक्ष लेकर दोनों हँस रहे थे। मुनि सोच रहे थे— राजा स्वय तो अनाथ है और मेरा नाथ बनना चाहता है। और राजा यह सोच कर हँस रहा था कि ऐसी असाधारण ऋद्धि से सम्पन्न होकर भी यह अपने आपको अनाथ कहते हैं।

किसी मुनि को भोग भोगने के लिए आमत्रित करना उसकी अवज्ञा करना है। राजा श्रेणिक ने इस दृष्टि से मुनि की अवज्ञा की। किन्तु मुनि राजा पर रुष्ट नहीं हुए। उन्होंने राजा की बात से कुछ दु ख नहीं माना। वे जानते थे कि मैंने जिस अभिप्राय से अपने को अनाथ बतलाया है, राजा ने उसे समझ नहीं पाया। इसी कारण यह मेरा नाथ बनने के लिए तैयार हुआ है और मुझे भोगों का प्रलोभन दे रहा है। आखिर मुनि ने उत्तर दिया:—

अप्पणा वि अणाहो सि, सेणिया ! मगहाहिवा।
अप्पणा अणाहो संतो, कस्स नाहो भविस्ससि ॥ १२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक, हे मगध के अधीश्वर। आप स्वय अनाथ हो। और जो स्वय ही अनाथ है, वह किसी का नाथ कैसे हो सकता है ?

व्याख्यान— मुनिराज श्रेणिक की बात के उत्तर में कहते हैं— राजन्। तू स्वयं ही अनाथ है तो दूसरे का नाथ किस प्रकार बन सकता है? यह शरीर भोगोपभोग के लिए है, यह विचार आते ही आत्मा गुलाम और अनाथ बन जाता है।

तुम समझते हो कि अमुक वस्तु हमारे पास है, अतएव हम उसके स्वामी हैं। परन्तु ज्ञानी कहते हैं— तुम्हारे पास जो वस्तु है, उसी की बदौलत तुम अनाथ बने हो। जैसे, कोई मनुष्य सोने की कंठी पहन कर अभिमान करता है, किन्तु ज्ञानी उससे कहते हैं— तू सोने का गुलाम बन गया है।

कल्पना करो, एक महापुरुष जगल मे जा रहे हैं। वे शरीर को केवल साधन रूप ही मानते हैं, शरीर पर उन्हें लेशमात्र भी ममत्व नहीं है। दूसरा मनुष्य हीरक जटित स्वर्ण का हार पहर कर बन में जा रहा है। मार्ग मे उन्हें एक चोर मिला। चोर को देख कर भी महापुरुष तो अपने ध्यान में चले जा रहे थे, उन्हें किसी प्रकार का भय या उद्वेग नहीं उत्पन्न हुआ। मगर हार पहरने वाला मनुष्य चोर को देखते ही भागा। चोर ने उसका पीछा किया। उसे पकड़ा और लूट लिया। वह रोने लगा। वह सोने का गुलाम था, इसी कारण उसे रोना पड़ा। इस प्रकार किसी भी पर-पदार्थ को अपना समझने और उस पर निर्भर होने से उसके गुलाम बनने और दुखी होने का प्रसग आता है।

अभिप्राय यह है कि पर पदार्थों के आलम्बन से मनुष्य पराधीन बन कर अपनी स्वतत्रता खो बैठता है और पराधीन हो जाना ही अनाथता का लक्षण है। फिर भी अज्ञान के कारण ही लोग मनुष्य-

जन्म को भोगों का उपभोग करने में सार्थक समझते हैं। राजा श्रेणिक भी अज्ञान के अंधकार मे भटक रहा था। इस कारण वह मुनि से कहता है—मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे साथ चलिए और सुख पूर्वक रह कर भोग भोगिए।

राजा के इस कथन के उत्तर मे मुनि ने कहा---राजन् ! तू तो स्वयं ही अनाथ है फिर मेरा नाथ किस प्रकार बन सकता है ?

मुनि ने राजा को अनाथ कहा तो क्या राजा के पास कुछ नहीं था ? अगर राज्य का अधिपति होने पर भी राजा मुनि के कथनानुसार अनाथ था, तो चारित्र के इस महान् आदर्श को समझो और इसका अनुसरण करो। राजा भ्रम के वशीभूत होकर स्वय अनाथ होता हुआ भी अपने को नाथ समझता था, उसी प्रकार तुम भी काम भोगों के गुलाम बन कर, अनाथता को सनाथता समझ बैठे हो। इस भ्रम को दूर करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है। जब मगध देश का सम्राट् भी अनाथ था तो तुम कैसे सनाथ कहे जा सकते हो ? और ससार के पदार्थ तुम्हें किस प्रकार नाथ बना सकते हैं ?

मुनि ने राजा को अनाथ बतलाया। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य जिन पदार्थों के कारण अपने आपको नाथ या सनाथ मानता है, वस्तुत: उन्हीं के कारण वह अनाथ है। और जो स्वयं अनाथ है, वह दूसरों का नाथ कैसे बन सकता है ? जिस वस्तु पर तुम्हारा अधिकार नहीं है, वह वस्तु दूसरों को दे दो तो वह चोरी गिनी जायगी और तुम्हें दंड का पात्र बनना पड़ेगा। इसी प्रकार तुम स्वयं सनाथ नहीं हो, फिर भी अगर दूसरों के नाथ

बनने का प्रयत्न करते हो अथवा अपने को दूसरों का नाथ मानते हो तो क्या यह अनुचित नहीं है ?

एक बार मीरा से उसकी सखी ने कहा—सखी, तुम्हारा सद्भाग्य है कि तुम्हें राणा जैसे पति की प्राप्ति हुई है। रहने को सुन्दर महल मिला है। सुखोपभोग के लिए विपुल वैभव प्राप्त हुआ है। फिर भी तुम राणा के प्रति इतनी उदास क्यों रहती हो ? भोगों के प्रति इतनी अरुचि क्यों है ? इस सब सुखसामग्री को तुम दुःख-रूप क्यों मानती हो ?

सखी का यह कथन सुनकर मीरा हँसने लगी। तब सखी ने कहा—स्त्रियों का ऐसा स्वभाव ही होता है कि वे अपने मुख से प्रणय सबधी बातें नहीं करतीं; परन्तु प्रणय सबधी बातें सुनकर प्रसन्न होती हैं। तुम्हारी हँसी से जान पड़ता है कि मेरी बात तुम्हें प्रिय लग रही है। तो मैं राणाजी के साथ तुम्हारा नूतन रूप मे प्रणय सबंध जोड दूँ ? मेरी बात स्वीकार है ?

मीरा ने सोचा—मेरे हँसने का यह सखी दूसरा ही अभिप्राय समझ रही है, अतएव इसे सारी बातें साफ २ बता देना ही योग्य है।

इस प्रकार विचार कर मीरां ने अपनी सखी से कहा—

ससारीनु सुख काचु, परणी रंडावु पाछु,
तेने घेर केम जइए रे, मोहन प्यारा ।
मुखडानी प्रीति लागी रे ॥

सखी ! राणा के विषय मे तू जो कहती है सो सत्य हो सकता है। अतएव मुझे उनके विषय मे कुछ भी नहीं कहना है। परन्तु मैं इतना ही पूछती हूँ कि मेरे पिता ने मुझे राणा को सौंप दिया है;

और मैं राणा के पास जाकर उनकी दासी बन कर भी रह सकती हू, परन्तु इस बात की क्या खातिरी है कि वह मुझे विधवा नहीं बनाएँगे ? अगर राणा मुझे अखण्ड सौभाग्यवती बनाए रक्खें और कभी विधवा न होने दें तो मुझे उनके पास रहने में कोई उज्र नहीं है। हाँ, वे अगर ऐसे खातिरी न दे सकें और कहें कि यह मेरे हाथ की बात नहीं है तो क्या किया जाय ? मैं उन्हें पति बनाऊँ और फिर वह मुझे विधवा बनाएँ तो मेरा सौभाग्य अखण्ड किस प्रकार रह सकेगा ? इसी विचार से मैंने ऐसा पति बनाया है जो मेरा सौभाग्य सदा के लिए अखण्डित रक्खे ?

मीरा की ही तरह फक्कड़ योगी आनन्दघन ने भी कहा है—

ऋषभ जिनद प्रीतम माहरा और न चाहूँ कन्त।
रीझ्यो साइब सग न परिहरै भागे सादि अनन्त॥

भगवान् के साथ वृद्ध, युवक, बालक, धनवान् और गरीब सब लग्न कर सकते हैं। भगवान् के साथ लग्न-सबध करने मे जाति-पाति का जरा भी भेदभाव नहीं है। वह विवाह अलौकिक है। इस अलौकिक प्रीतम के साथ तभी विवाह हो सकता है, जब लौकिक प्रीतम का त्याग कर दिया जाय। उनके साथ किया हुआ लग्न अखण्ड होता है। परमात्मा के साथ लग्न न करके लौकिक प्रीतम के साथ लग्न किया जाय तो उस अवस्था मे पति की मृत्यु होने पर वैधव्य-भोग करना पडता है और रोने का भी अवसर आता है। अगर रोने और विधवा होने की इच्छा न हो तो परमात्मा के साथ परिणय सबध जोडो। मैं तो ऐसे ऐसे सबध को जुडवाने वाला पुरोहित हूँ। अतएव मैं अधिक कुछ नहीं कह सकता,

किन्तु जो परमात्मा के साथ लग्नसम्बंध जोडना चाहते होंगे, उनका सम्बन्ध करा दूँगा।

तुम लोग संसार की जिन वस्तुओं के साथ सम्बन्ध करना चाहते हो, उन वस्तुओं से पहले पूछ तो देखो कि वे तुम्हारा अन्तिम समय तक साथ तो देंगी ? बीच ही मे धोखा तो नहीं दे जाएँगी ? अपने शरीर के अगों से— हाथों, पैरों, कान, नाक, आँख आदि से पूछ लो कि अधबीच ही मे तो दगा नहीं दे जाएँगे ? अगर दगा दे जाएँ तो इन्हें अपना कैसे मान सकते हो ? और उनके साथ सम्बन्ध कैसे जोड सकते हो ? भक्त जन इस तथ्य को भली-भाँति समझते है कि ससार की कोई भी वस्तु अन्त समय तक साथ नहीं देती, बीच ही मे दगा दे जाती है। इस कारण वे उनके साथ सम्बन्ध स्थापित न करके परमात्मा के साथ ही सम्बन्ध जोडते है। ससार की वस्तुएँ मेरे लिए सहायक होती हों तो भले हों, किन्तु मै उनके साथ सम्बन्ध नहीं जोड सकता, यही भक्तों का कथन है।

तुमने गले मे सोने की जो माला पहन रक्खी है, वह तुम्हें छोडकर चली जाने वाली है, फिर क्यों उसके लिए कुत्तों की तरह लडते हो ?

कदाचित् तुम कहोगे— तब हमे क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर मे ज्ञानियों का कहना है कि अपने तन मन को परमपुरुष के साथ जोड दो। इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर का नाश कर देना चाहिए या आत्महत्या कर लेना चाहिए। परमात्मा के साथ ऐसा प्रगाढ प्रेमसम्बन्ध स्थापित करो कि उस परमात्मप्रेम मे भले तुम्हारा

शरीर चला जाय, परन्तु प्रेम न टूटने पावे। तुम अनन्त-अनन्त शरीर छोड चुके हो तो इस शरीर को परमात्मा के साथ जोड दो, भगवान् को अर्पित कर दो और भगवान् के साथ ही लग्नसम्बन्ध कर लो।

राजा श्रेणिक और मुनि दोनों आमने-सामने बैठे है। दोनों महाराज है, पर जुदा-जुदा प्रकार के। श्रेणिक तो सोपाधिक प्रीति को ही प्रीति मानता है, परन्तु मुनि निरुपाधिक प्रीति को प्रीति मानते है। राजा समझता है कि जिनके द्वारा सुखोपभोग की सामग्री मिले उनके साथ प्रीति करना ही सच्ची प्रीति है। अपनी इस मान्यता के कारण ही वह मुनि से कहता है— आप सयम का परित्याग करके मेरे साथ चलिए और भोग भोगिए। मैं आपका नाथ बनता हूँ। पर मुनि उत्तर देते है— राजन्। तुम भूल रहे हो। तुम स्वय ही अनाथ हो। तुम अपना स्वय का योग-क्षेम नहीं कर सकते तो मेरे नाथ कैसे बन सकते हो?

मुनि का यह कथन सुन कर राजा को अत्यन्त विस्मय हुआ। वह सोचने लगा— मैं इनका नाथ बनना चाहता था, पर यह तो मुझको ही अनाथ मानते है। यह ऋद्धिमान मुनि अनाथता के कारण दीक्षा लेने की बात कहते हैं और मुझ जैसे मगधाधिप को भी अनाथ कहते है। यह सब आश्चर्यजनक है। ऐसा सोचकर राजा किस प्रकार चकित और विस्मित हुआ। इस विषय मे शास्त्र मे कहा है—

एवं वुत्तो नरिंदो सो, सुसंभंतो सुविम्हिओ ।
वयणं अस्सुयपुव्वं, साहुणा विह्मयन्निओ ॥ १३ ॥
अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अन्तेउरं च मे ।
भुंजामि माणुसे भोए, आणा इस्सरियं च मे ॥ १४ ॥
एरिसे सम्पयग्गम्मि, सव्वकामसमप्पिए ।
कहं अणाहो भवइ, मा हु भंते ! मुसं वए ॥ १५ ॥

अर्थ — जो बात पहले कभी नहीं सुनी थी, वह इस समय मुनि के मुख से सुनकर राजा श्रेणिक चकित रह गया, घबरा- सा गया ।

राजा ने मुनि से कहा— मेरे यहां घोडे है, हाथी हैं, प्यादे है, मैं ग्रामों एव नगरों का स्वामी हूॅ, मेरे यहॉ रानियां है । मैं सब प्रकार के मनुष्योचित भोग भोग रहा हूॅ । मेरी आज्ञा का कोई उल्लघन नहीं कर सकता । मेरे पास विपुल ऐश्वर्य है ।

इस प्रकार सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी मैं अनाथ कैसे हूॅ ? भगवन् । आप मिथ्या भाषण मत कीजिए ।

व्याख्यान — 'राजा, तू स्वय अनाथ है' मुनि का यह कथन सुन कर श्रेणिक अत्यन्त सम्भ्रान्त हुआ । वह श्रेष्ठ क्षत्रिय था । क्षत्रिय अपना अपमान सहन नहीं कर सकते ।

आज कई लोग मुझसे कहते है— 'आप जो चाहें, कहें, हमें कुछ बुरा नहीं लगता ।' परन्तु मैं सोचता हूॅ, तुम्हें बुरा नहीं लगता,

यही बुरी बात है। इसी को बनियाशाही कहते हैं। कहावत है- सिंह को बोल लगता है। अर्थात् सिंह के सामने गर्जना की जाय तो वह सामना करता है। इसी प्रकार तुम्हें भी बोल लगना चाहिए। परन्तु तुम बनियाशाही चलाते हो और इस कारण बोल को नहीं झेल सकते।

राजा क्षत्रिय था। उसे बात चुभ गई। किसी गरीब या दरिद्री को अनाथ कहा होता तो बात न्यारी थी, परन्तु मेरे जैसे सम्राट् को अनाथ कैसे कह दिया ? इस प्रकार राजा सम्भ्रान्त हुआ। उसके मन मे कुछ रजोगुण भी आया। वह मन ही मन विचार करने लगा— मैं राजा हूँ, यह बात मुनि को मालूम न होती और अनाथ कह दिया होता तो बात दूसरी थी, परन्तु यह तो जान-बूझ कर मुझे अनाथ कह रहे हैं।

शास्त्र मे राजा के मनोगत भावों का सही चित्रण किया गया है। इस विषय मे शास्त्र में जो वर्णन किया गया है, उसका पूरा-पूरा विवरण तो कोई महावक्ता ही कर सकता है। मैं इस रहस्य को ठीक-ठीक प्रकट नहीं कर सकता। फिर भी अपनी समझ के अनुसार कहता हूँ।

उक्त कथन से जान पडता है कि राजा शूरवीर था, पर क्रूर नहीं था। सिंह शूर होता है परन्तु साथ ही क्रूर भी होता है। वह साधु और असाधु को नहीं पहचान सकता। उसमे विवेक नहीं होता। जो सामने आया, उसी पर वह हमला बोल देता है। राजा ऐसा नहीं था। वह विवेकशील था। इस बात को प्रकट करने के लिए शास्त्रकार कहते है कि मुनि का कथन सुन कर राजा

सम्भ्रान्त हुआ, परन्तु उसने मुनि से कोई अनुचित बात नहीं कही। हाँ, सभ्यतापूर्वक अपने मनोभावों को अवश्य प्रकट किया, यह बात मै अपनी बुद्धि के अनुसार कह रहा हूँ।

राजा सोचता है— मुनि ने मुझे अनाथ कहा है। यह मेरे लिए अश्रुतपूर्व है। आज तक किसी ने मुझे अनाथ नहीं कहा। मैंने कभी अनाथता का अनुभव भी नहीं किया। मैं घर-द्वार छोड कर बाहर चला गया था। कष्ट मे रहा था। उस समय भी किसी ने मुझे अनाथ कहने का साहस नहीं किया था। स्वय मुझे अनाथता का अनुभव नहीं हुआ था। मै अपने पुरुषार्थ के बल पर काम चलाता रहा था। ऐसा तो नहीं कि मुनि को मेरे वैभव का पता न हो ? इनकी आकृति देखने से ये महाऋद्धिशाली प्रतीत होते है। यह भी हो सकता है कि इनकी दृष्टि मे मेरा वैभव नगण्य हो और इस कारण मुझे अनाथ कहते हों।

मनुष्य अपनी चीज से हल्की चीज किसी दूसरे के पास देखता है तो उसे तुच्छ समझता है। जिसके पास हीरे के आभूषण है, उसे सोने के आभूषण भी तुच्छ प्रतीत होते हैं, और जिसके पास सोने के गहने है वह चादी के गहनों को नगण्य मानता है। इसी प्रकार चादी के गहनों वाला—रागे या पीतल के गहनों को साधारण समझता है। तो सभव है, इन मुनि के पास विपुलतर ऋद्धि रही हो और इसी कारण मैं इनकी दृष्टि मे अनाथ जान पड़ता होऊँ। फिर भी जैसा मुनि समझते है, मैं वैसा अनाथ नहीं हूँ। अतएव मुझे अपनी ऋद्धि का वर्णन करके स्पष्ट बतला देना चाहिए, जिससे यह जान लें कि मैं कोई

ऋद्धिहीन नहीं हूँ।

राजा साहसी और वीर था। अतएव उसने मुनि से कहा—महाराज, मैं मगध का अधिपति हूँ। मै मगध का नाम मात्र का ही राजा नहीं, सारे मगधराज्य का पालनकर्त्ता हूँ। मेरे राज्य मे अनेक घोडे, हाथी आदि रत्न है। बडे-बडे नगर है, जिनकी आय से राज्य का खर्च भली भांति चलता है। बडे-बडे राजा अपनी कन्याएँ मुझे देकर अपने को भाग्यवान् मानते है। कितने ही लोग ऋद्धि पाकर भी शरीर की अस्वस्थता के कारण उसका उपभोग नहीं कर सकते, परन्तु मेरे पास ऋद्धि के साथ शारीरिक सम्पत्ति भी अच्छी है। अतएव मै मनुष्य सबंधी भोगों का भोग कर सकता हूँ। अनेक राजा नाम मात्र के राजा होते है, परन्तु मै ऐसा नहीं हूँ। सभी मेरी आज्ञा शिरोधार्य करते है। किसमें ऐसी हिम्मत है जो मेरी आज्ञा का अनादर कर सके ? महाराज, फिर भी आप मुझे अनाथ कहते है। आप मुनि होकर मुझ जैसे राजा को अनाथ कहकर मृषाभाषण करें, यह वस्तुत आश्चर्यजनक है। जैसे पृथ्वी का आधार न देना और सूर्य का प्रकाश न देना विस्मयजनक है, उसी प्रकार मुनि होकर आपका असत्य भाषण करना भी विस्मय-जनक है। हे पूज्य ! आपको असत्य नहीं बोलना चाहिए।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। राजा ने मुनि से यह तो कहा कि—'आपको असत्य नहीं बोलना चाहिए', परन्तु कोई कटुक वाक्य नहीं कहा। उसने विवेकपूर्वक शब्दों का उच्चारण किया।

वाणी का प्रयोग करते समय विवेक रखने की आवश्यकता है। मनुष्य के स्वभाव का परिचय वाणी द्वारा मिल जाता है।

कहावत है—

वचने का दरिद्रता।

अर्थात्—मधुर वचन बोलने मे दरिद्रता क्यों रखनी चाहिए?

तुलसी मीठे वचन तें, सुख उपजे चहु ओर।
वशीकरण इक मत्र है, तज दे वचन कठोर ।।

फारसी मे भी कहा है —

बस अजीज रहना प्यारी जबान जहा मे।

प्यारी जीभ, और कुछ मिले या न मिले, किन्तु यदि तू मेरे साथ मित्रता कर ले तो सभी जीव मेरे मित्र हो जाएँ।

तुम लोग दूसरों को मित्र बनाते हो, पर अपनी जीभ के साथ भी कभी मित्रता जोडने का प्रयत्न करते हो? तुम्हारी जीभ से कटुक वाणी क्यों निकलती है? अमृत-वाणी क्यों नहीं बरसती?

कल्पना करो, तुम्हारे किसी पूर्वज ने तुम्हें बतलाया कि घर मे इस ओर सोना गड़ा है और उस ओर कोयले गड़े हैं। तुम्हारे हाथ मे कुदाल भी दे दिया जाय और खोदने के लिए कहा जाय। तो तुम सोना खोदना चाहोगे या कोयला? अगर कोयला खोदोगे तो हाथ काले होंगे। कह सकते हो कि ऐसा कौन मूर्ख होगा जो सोना छोड़ कर कोई कोयला खोदना चाहेगा? सोने को छोडकर कोई कोयला नहीं खोदना चाहता। इसी प्रकार तुम अपनी जीभ की कुदाली से सोना भी निकाल सकते हो और कोयला भी निकाल सकते हो। अपशब्द बोलना कोयला निकालने के समान है और मधुर शब्द बोलना सोना निकालने के समान है।

मैं बहिनों से मीठे शब्द बोलने का खास तौर से आग्रह करता

मेरी बहिन' कहकर उसे हाँकता था। लोग उससे पूछते—तू गधी को माँ और बहिन क्यों कहता है ? तब वह उत्तर देता—अगर मैं गधी को गालियाँ दूँ तो मुझे गालियाँ देने की आदत पड़ जाएगी। मेरा धन्धा चूड़ियों का है। अच्छे-अच्छे घरानों की महिलाएँ मेरे यहाँ चूड़ियाँ खरीदने आती हैं। अगर मेरे मुँह से गालियाँ निकलने लगें तो कौन मेरे यहाँ आवे ? फिर तो मेरा धन्धा ही चौपट हो जाय।

आपको भी सोचना चाहिए कि आप श्रावक हैं और व्यापारी हैं। आपके मुख से अपशब्द कैसे निकले ?

राजा श्रेणिक ने मुनि को असत्य बोलने के लिए उपालम्भ तो दिया, किन्तु अत्यन्त मर्यादापूर्वक। इस प्रकार जो मर्यादापूर्वक व्यवहार करते हैं, वही विवेकवान् है। और जो प्रत्येक व्यवहार में विवेक प्रदर्शित करते हैं, उनका कल्याण होता है।

न तुमं जाणासि अणाहस्स, अत्थं पुत्थं च पत्थिवा।
जहा अणाहो भवइ, सणाहो वा नराहिव ! ॥ १६ ॥
सुणेह मे महाराय ! अव्वक्खित्तेण चेयसा।
जहा अणाहो भवइ, जहा मेयं पवत्तियं ॥ १७ ॥

अर्थ—हे पृथ्वीपति, हे नराधिप। तुम नाथ शब्द का अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति नहीं जानते हो, और कोई अनाथ तथा सनाथ किस तरह होता है, यह भी नहीं जानते हो। अतएव महाराज, अनाथ किसे कहते हैं और मैंने किस आशय से आपको अनाथ कहा है, यह एकाग्रचित्त से सुनो।

व्याख्यान—मुनि ने राजा श्रेणिक को पार्थिव (पृथ्वीपति), नराधिप और महाराज कह कर सबोधन किया है। एक साथ तीन-तीन सबोधनों का प्रयोग करके मुनि ने यह प्रकट कर दिया है कि वह श्रेणिक को न पहचानते हों, यह बात नहीं है। वे उसके विपुल वैभव और प्रभूत ऐश्वर्य से अनभिज्ञ नहीं है। उन्हें ज्ञात है कि जिसे अनाथ कहा है, वह पृथ्वी का स्वामी है, प्रजा का स्वामी है और ऐश्वर्य का अधिपति है। यह बात मुनि को भली-भाति मालूम है। फिर भी उसे अनाथ कहने का अभिप्राय क्या है, यह बात वे स्वय समझाते है।

मुनि कहते है—महाराज, मैंने तुम्हे अनाथ कहा है, किन्तु किस अभिप्राय से कहा है, यह नहीं बतलाया। इस कारण तुम भ्रम मे पड गये हो। अब मै बतलाता हूँ कि अनाथ किसे कहते है और सनाथ किसे कहते है ? तुम अविक्षिप्त चित्त—शान्तचित्त—होकर सुनो। मन मे जो तेजी आ गई है, उसे दूर कर दो।

जब तक चित्त को एकाग्र न किया जाय, कोई बात सुनना भी लाभदायक नहीं होता। मन मे किसी प्रकार का विग्रह रहा तो कार्य की सिद्धि नहीं होती। यह बात सर्वत्र लागू पडती है। जिस कार्य को करने बैठे है, उसके अतिरिक्त दूसरी जगह मन को दौडाना, मन को एकाग्र न करना 'विग्रह' कहलाता है, फिर भले ही वह कार्य चाहे व्यावहारिक हो, चाहे आध्यात्मिक हो।

आप सामायिक मे बैठे है, पर आपका चित्त कहाँ भटक रहा है, यह कौन जानता है ? सामायिकव्रत लेकर एक स्थान पर बैठने पर भी चित्त को दूसरी जगह दौड़ाना ऐसा ही है कि—

न खुदा ही मिला न विसाले सनम,
न इधर के रहे, न उधर के रहे ।

अतएव आप विचार करे कि हम सामायिक मे तो बैठे है, परन्तु हमारा मन कहाँ भटक रहा है? अगर मन इधर-उधर भटक रहा है तो वह सामायिक व्यावहारिक सामायिक ही कहलाएगी। निश्चय सामायिक तो तभी होगी जब मन एकाग्र रहे और समभाव की रक्षा हो।

कहा जा सकता है कि हमारा मन काबू मे नहीं रहता तो क्या हमे सामायिक नहीं करनी चाहिए? इसका उत्तर यह है कि मन यदि काबू मे नहीं रहता और इधर- उधर दौड जाता है तो भी उसे खराब कामों की तरफ नही जाने देना चाहिए। कदाचित् चला ही जाय तो पश्चात्ताप करके उसे ठिकाने लाना चाहिए और पुन न जाने देने का दृढ़ निश्चय करना चाहिए और साथ ही उसे शुभ सकल्प मे उलझा देना चाहिए।

बालक चलना सीखता है तो जिधर चाहता है उधर ही चल पडता है। किन्तु जिस ओर जाने से गिर जाने का भय होता है, उस ओर माता - पिता नहीं जाने देते, या उसके साथ जाते है, जहाँ गिर जाने का भय होता है वहाँ न जाने देने की शिक्षा देते है। इसी प्रकार मन काबू मे न रहता हो तो उसे अप्रशस्त कामों की तरफ न जाने देना चाहिए, किन्तु सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयास करना चाहिए। यह ठीक नहीं कि मन काबू मे नहीं रहता तो सामायिक करना ही छोड दिया जाय, जो पढ़ता है वही भूलता है। जो पढ़ता ही नहीं वह क्या भूलेगा? इसी प्रकार सामायिक

करने वालों से भूल भी होती है, किन्तु उस भूल को सुधार कर इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि वह दोबारा न हो। किन्तु भूल होती है, यह सोचकर सामायिक करना ही छोड बैठना तो बहुत बडी भूल है।

आशय यह है कि प्रत्येक कार्य मे मानसिक एकाग्रता की आवश्यकता है। मानसिक एकाग्रता से ही कार्य की सिद्धि होती है। इसी कारण मुनि ने राजा से कहा है—हे राजन्। मैं जो कहता हूँ उसे एकाग्रमना होकर सुनो। अनाथ किसे कहते है और सनाथ किसे कहते है, यह दूसरों के अनुभव की नहीं, परन्तु अपने निज के अनुभव के आधार पर ही बतलाता हूँ। दूसरों की कही बात कदाचित् मिथ्या भी हो सकती है। अतएव मैं अपने ही अनुभव की बात कहता हूँ कि मै पहले किस प्रकार अनाथ था और अब किस प्रकार सनाथ हो गया हूँ।

तुम सनाथ हो या अनाथ? जब तुम अपनी अनाथता को पहचान लोगे तो सनाथता को भी समझ सकोगे। परन्तु आत्मा स्वय अनाथ होते हुए भी अपनी अनाथता को स्वीकार नहीं करता, यहीं भूल होती है। परन्तु जो भक्त जन हैं, वे परमात्मा के आगे अपनी अनाथता को स्वीकार कर लेते है। तुलसीदास की कविता के द्वारा यही बात प्रकट करता हूँ। यद्यपि यहाँ भाव में कुछ अन्तर ऊपर-ऊपर से जान पडेगा, किन्तु गहरा विचार करने पर कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। वह कहते है—

तू दयालु दीन हूँ तू दानी हूँ भिखारी,
हूं, प्रसिद्ध पातकी तू, पापपुञ्जहारी।

तो है, परन्तु परमात्मा के सामने दीन बनने मे कठिनाई आती है। किन्तु जब अहंकार का परिहार करके परमप्रभु के समक्ष दीनता धारण करोगे तभी इष्टसिद्धि हो सकेगी। कवि आनन्दघन जी ने कहा है —

प्रीति सगाई रे जग में सो करे,
प्रीति सगाई न कोय
प्रीति सगाई निरुपाधिक कही,
सोपाधिक धन खोय ॥

प्रीति, सगाई, दीनता सब करते है और ऐसा करते-करते अनन्त काल व्यतीत हो गया है, परन्तु इस प्रकार की दीनता सोपाधिक दीनता है। निरुपाधिक दीनता नहीं। सोपाधिक दीनता से दीनता बढती है, घटती नहीं है। इस तरह की दीनता से आत्मा भिखारी ही रहता है।

कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति मे हमे क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि अपनी समस्त भावनाएँ परमात्मा को अर्पित कर दो और अभिमान का त्याग करके दीन बन जाओ। गरीब से गरीब और बडा साहूकार भी ऐसा कर सकता है। अधा, बहिरा, लूला या चाहे जैसा अपग हो, वह भी परमात्मा के सामने भावों का समर्पण करके दीन बन सकता है। ऐसा करने मे किसी भी प्रकार की बाधा आड़ी नहीं आती।

कदाचित् कहा जाय कि राजा आदि से प्रार्थना करके दीनता दूर की जा सकती है। किन्तु 'मैं दीन था और राजा से प्रार्थना की तो मेरी दीनता दूर हो गई' ऐसा मानना भूल है। राजा तो

दीनता दूर करने के बदले उसे बढ़ाता है। दीनता किस प्रकार बढ़ती है, यह बतलाने के लिए शास्त्र में कपिल का उदाहरण प्रसिद्ध है।

कपिल दो माशा सोने के लिए घर से निकला था। परन्तु राजा ने यथेष्ट माँगने की अनुमति दे दी तो उसका लोभ बढ़ गया। यहाँ तक कि वह राजा का सम्पूर्ण राज्य माँग लेने का विचार करने लगा और निष्कटक बनने के इरादे से राजा को कैद करने का मनोरथ करने लगा। किन्तु अचानक ही उसकी विचारधारा पलट गई और वह साधु बन गया। राजा ने पूछा—बोलो, क्या माँगते हो?

कपिल— मुझे जो चाहिए था सो मिल गया।

राजा— क्या हुआ? साधु कैसे बन गये?

कपिल—माँगने का विचार करते-करते मैंने सोचा कि आपका समस्त राज्य ले लूँ और आपको कारागार में डाल दूँ। मगर इतने पर भी तृष्णा उपशान्त न हुई। तब मैंने यह स्थिति अंगीकार की। अब मुझे शान्ति मिली है। मैं राज्य आदि की खटपट में नहीं पड़ना चाहता।

राजा— मैं अपने वचन पर अब भी दृढ़ हूँ। मैं आजीवन तुम्हारा सेवक बनकर रहूँगा, तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुम चाहो तो आनन्द से राज्य का उपभोग करो।

कपिल— अब मुझे राज्य का मोह नहीं रहा। मैं राज्य से भी बड़ी वस्तु पा चुका हूँ। पर एक बात तो बतलाइए, मैंने सचमुच ही सारा राज्य माँग लिया होता तो आप मेरे बैरी बन जाते या नहीं।

राजा — हाँ, उस अवस्था में तो वैर बँध ही जाता।

कपिल— लेकिन अभी तो आप स्वय राज्य देने को तैयार हैं। यह मेरे त्याग का ही प्रताप है। जिस त्याग को अपनाते ही राज्य मिल रहा है, उसका कितना बडा महत्त्व है ? तो फिर राज्य के लिए त्याग का त्याग करना कहाँ तक उचित है ?

राजा — महाराज, आपका मोह दूर हो गया है, अत आपसे कुछ भी कहना वृथा है। आप मुझे उपदेश दीजिए, जिससे मैं भी आत्मा का कल्याण कर सकूँ।

कपिल राजा को उपदेश देकर जगल मे चले गये। वहाँ जाकर पाँच सौ भयानक चोरों को उपदेश देकर सुधारा।

मतलब यह है कि दीनता दिखलाने का स्वभाव तो प्रत्येक मे होता है, किन्तु प्राय ऐसे लोगों के सामने दीनता दिखलाई जाती है, जिनके सामने दीनता दिखलाने से दीनता बढ़ती है, घटती नहीं। जिन्हें अपना नाथ बनाया जाता है, वही अनाथ बना देते है। ऐसे लोगों के पास जाने से दीनता दूर नहीं हो सकती। वे स्वय दीन और अनाथ हैं तो दूसरे की दीनता एव अनाथता किस प्रकार दूर कर सकते है ?

इसी कारण मुनि राजा श्रेणिक से कहते हैं — राजन्, तुम्हें सनाथ और अनाथ का स्वरूप विदित नहीं है। मैं स्वय अनाथता की स्थिति मे रह चुका हूँ। अतएव उसी स्थिति का वर्णन करके तुम्हें अनाथता का स्वरूप समझाता हूँ। चित्त को एकाग्र करके मेरा वृत्तान्त सुनो।

देखा जाता है कि जब काम निकल जाता है तो दुःख भुला दिया

जाता है। जब तक मस्तक पर दुःख का भार बना रहता है, तब तक ही मनुष्य दुःख का रोना रोता रहता है। दुःख दूर होते ही उसे ऐसा भुला दिया जाता है, मानो दुःख कभी हुआ ही नहीं था। किन्तु लोग अगर अपने भूतकाल को न भूल जाएँ तो वे किसी के प्रति घृणा न करें। ऐसे मनुष्य को कोई दुखी जीव दृष्टिगोचर होगा तो वह सोचेगा कि ऐसी दुःखमय स्थिति तो मेरी आत्मा भी भोग चुका है। तुम किसी कसाई को देखोगे तो तिरस्कार की दृष्टि से देखोगे, किन्तु ज्ञानी पुरुष उसकी ओर भी मध्यस्थ दृष्टि ही रक्खेगा। वह जानता है कि मैं इससे कैसे घृणा करूँ। मेरा आत्मा भी इस स्थिति मे रह चुका है। यह तो अपने-अपने कर्म का फल है।

मुनि कहते हैं—राजन्। जिन वस्तुओं के कारण तुम अपने को सनाथ समझते हो, वह वास्तव मे सनाथ बनाने वाली है या अनाथ ? यह बात तुम मेरे वृत्तान्त से जान लो। मेरे पास भी यह सब वस्तुएँ थीं। फिर भी मै अनाथ था। क्यों अनाथ था ? सुनिये—

कोसम्बी नाम नयरी, पुराणपुरभेयणी ।

तत्थ आसी पिया मज्झं, पभूयधणसचओ ॥ १८ ॥

अर्थ—कौशाम्बी नाम की नगरी अत्यन्त प्राचीन थी—प्राचीन कहलाने वाले नगरों मे भी प्राचीन थी। उसमे मेरे पिताजी रहते थे, जिनके पास प्रचुर धन सचित था।

व्याख्यान—मुनि अपना जन्म स्थान बतलाकर आत्मकथा

आरम्भ कर रहे हैं। वह कहते हैं—भारतवर्ष में कौशाम्बी नाम की प्रसिद्ध नगरी थी। वह बहुत प्राचीन नगरी थी। प्राचीन और नवीन नगर में क्या भेद होता है। यह तो तुम्हें ज्ञात ही है।

साधारणतया ऐसा कोई नियम नहीं है कि नयी वस्तु खराब ही होती है और न सब प्राचीन वस्तुएँ अच्छी ही होती हैं, तथापि पूर्वापर का विचार करने पर ज्ञात होगा कि नवीन की अपेक्षा पुरातन का मूल्य अधिक होता है। वैज्ञानिकों का कथन है कि कोयला और हीरा के परमाणु एक ही होते हैं, परन्तु जो कोयला जल्दी खोद लिया जाता है, वह कोयला ही रह जाता है; किन्तु जो जल्दी नहीं खोदा जाता और लम्बे समय तक जमीन में दबा रहता है, उसका मूल्य बढ़ जाता है। इसी प्रकार मनुष्यों में जो अधिक अनुभवी होता है उसकी कीमत अधिक ऑकी जाती है। और भी दूसरी वस्तुएँ हैं जो सिर्फ पुरानी होने के कारण ही कीमती गिनी जाती हैं। पर्वत, वृक्ष और नगर आदि, जो प्राचीन होते हैं, उनकी कीमत ज्यादा ऑकी जाती है।

हाँ, तो मुनि ने कहा—कौशाम्बी नगरी प्राचीन थी। इस कथन का अभिप्राय यह है कि उस नगरी की स्थिति ऐसी थी, वहां के संस्कार इतने सुन्दर थे, कि प्राचीन होने पर भी वह टिकी हुई थी। अनेक आघात-प्रत्याघात सहन करके भी जो नगर टिका रहता है, नष्ट नहीं होता, उस नगर में कोई विशेषता अवश्य होती है। आज भी प्राचीन नगरों की खोज-बीन की जाती है और उससे पता चल जाता है कि वह नगर कैसा था, उसकी रचना कैसी थी, वह कैसा समृद्ध था और किस स्थिति में था।

प्रश्न होता है—मुनि अनाथता का स्वरूप बतलाना चाहते हैं तो नगरी का वर्णन करने का उद्देश्य क्या है? मेरे ख्याल से नगर के लोग समझते हैं कि हमे नगर मे जो सुविधाएँ मिलती हैं, वह ग्राम्य लोगों को नहीं मिल सकतीं। इस विचार से नागरिकों को अभिमान होता है। नगरनिवास को भी वे अपनी विशिष्टता समझते हैं। मुनि ने कौशाम्बी को सब नगरों में अत्यन्त प्राचीन बतला कर सूचित कर दिया है कि वह नगरी साहित्य और सुविधाओं से परिपूर्ण होने पर भी मैं वहा अनाथ था। मेरी अनाथता का निवारण वहाँ भी नहीं हो सका।

अब अनाथ मुनि अर्थापत्ति अलकार द्वारा अपने जन्मस्थान का परिचय देते हैं और अपनी सम्पत्ति का वर्णन करते हैं। कहते हैं—राजन्, उस कौशाम्बी नगरी मे मेरे पिता रहते थे।

मुनि यह नहीं कहते कि मै वहा रहता था या मेरा जन्म वहाँ हुआ था, वे यही प्रकट करते हैं कि मेरे पिता वहाँ रहते थे। इस प्रकार अर्थापत्ति अलकार द्वारा उन्होंने अपने जन्मस्थान का परिचय दिया है।

अर्थापत्ति अलकार न्याय का एक सिद्धान्त है। मान लीजिए, किसी ने किसी को स्वस्थ और बलवान् देखकर कहा—'जान पड़ता है तू खूब खाता है।' तब उसने उत्तर दिया—'नहीं, मैं कभी दिन मे नहीं खाता।' इस कथन से यह अर्थ नहीं निकलता कि वह भोजन नहीं करता। वह भोजन तो करता है, पर दिन मे नहीं करता, अर्थात् रात्रि में करता है। इसी को अर्थापत्ति अलंकार कहते हैं।

इसी कारण अथवा किसी अन्य कारण से मुनि ने राजा से कहा—मेरे पिता कौशाम्बी नगरी में रहते थे और वहाँ प्रचुरधन-सचयी थे। यह कह कर मुनि ने यह सूचित कर दिया है कि वे प्रभूत धन-सम्पत्ति और ऋद्धि-समृद्धि से सम्पन्न पिता के पुत्र हैं। लक्ष्मीवान् पिता का पुत्र भी लक्ष्मीवान् होता है। इस प्रकार मुनि के कथन का आशय यह निकलता है कि इतनी विपुल विभूति होने पर भी मैं अनाथ था।

मुनि का यह कथन सुनकर राजा सोचने लगा—यह मुनि इतने अधिक सम्पत्तिशाली थे तो फिर अपने को अनाथ क्यों कहते हैं?

मुनि अपनी अनाथता को किस प्रकार प्रकट करते हैं, इसका विचार आगे किया जाएगा। अभी सिर्फ यही कहना है कि भले कोई करोडपति का लड़का क्यों न हो, मुनि के कथन के आधार पर यही समझना चाहिए कि जब तक आत्मा अनाथ है, तब तक धन व्यर्थ है। किसी के पास कितनी ही सम्पत्ति और सुविधा क्यों न हो, इतने मात्र से वह सनाथ नहीं बन सकता। शास्त्र के इस कथन पर श्रद्धा रखकर तुम्हें यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि सासारिक वस्तुओं की बदौलत तुम चाहे कितना ही ऊँचा पद क्यों न प्राप्त कर लो, पर उनसे आत्मा सनाथ नहीं बन सकता। धन से आत्मा अनाथता दूर करके सनाथ नहीं बनता।

वास्तव मे धर्म का धन के साथ कोई सबध नहीं है। धन से धर्म की प्राप्ति हो भी नहीं सकती। चाहे कोई निर्धन हो अथवा सधन, वह भावना जागृत होने पर धर्म को अगीकार कर सकता

इसी प्रकार मुनि ने राजा से कहा—कौशाम्बी मे मेरे पिता रहते थे। यहाँ पिता का निवासस्थान बतला कर उन्होंने अपना जन्मस्थान प्रकट किया है। महापुरुष अपनी महत्ता का बखान नहीं करते, वे अपने गुरुजनों को महत्ता प्रदान करते हैं। जैसे सुधर्मा स्वामी ने शास्त्रों का वर्णन करते हुए जगह-जगह कहा है कि मैंने भगवान् महावीर स्वामी से ऐसा सुना है। वह चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। फिर भी उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि मैं ऐसा कहता हूँ। इस प्रकार प्राचीन काल के लोग अपनी नहीं, अपने बड़ों की--पूर्वजों की महत्ता बढ़ाते थे। आप भी अपने पूर्वजों का स्मरण करते है या नहीं ?

आजकल के कोई-कोई पढ़े-लिखे कहलाने वाले लोग तो यहा तक कह बैठते है कि पहले के लोग तो पागल और मूर्ख थे। यही नहीं, कितनेक तो अपने पिता को भी भूल जाते है। किन्तु विवेकशील पुरुष अपने पिता को आगे रखते है और उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाते है। वे अपने पिता की प्रतिष्ठा मे ही अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं।

सुना था, चीन मे कोई मनुष्य उत्तम कार्य करता है तो उसके पिता को पदवी प्रदान की जाती है और इसी रूप मे उसकी कद्र की जाती है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि पिता ने जब पुत्र के जीवन को श्रेष्ठ सस्कारों से सस्कृत बनाया, तभी वह इतना सुयोग्य बन सका। अतएव अपने पुत्र के उत्तम कार्य के लिए उसका पिता ही प्रतिष्ठा का पात्र है। आशय यह है कि बुद्धिमान् लोग अपने पूर्वजों को सदैव आगे रखते हैं और अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा मे ही अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं।

इसी कारण अथवा किसी अन्य कारण से मुनि ने राजा से कहा--मेरे पिता कौशाम्बी नगरी मे रहते थे और वहाँ प्रचुरधन-सचयी थे। यह कह कर मुनि ने यह सूचित कर दिया है कि वे प्रसूत धन-सम्पत्ति और ऋद्धि-समृद्धि से सम्पन्न पिता के पुत्र हैं। लक्ष्मीवान् पिता का पुत्र भी लक्ष्मीवान् होता है। इस प्रकार मुनि के कथन का आशय यह निकलता है कि इतनी विपुल विभूति होने पर भी मैं अनाथ था।

मुनि का यह कथन सुनकर राजा सोचने लगा--यह मुनि इतने अधिक सम्पत्तिशाली थे तो फिर अपने को अनाथ क्यों कहते हैं?

मुनि अपनी अनाथता को किस प्रकार प्रकट करते हैं, इसका विचार आगे किया जाएगा। अभी सिर्फ यही कहना है कि भले कोई करोडपति का लड़का क्यों न हो, मुनि के कथन के आधार पर यही समझना चाहिए कि जब तक आत्मा अनाथ है, तब तक धन व्यर्थ है। किसी के पास कितनी ही सम्पत्ति और सुविधा क्यों न हो, इतने मात्र से वह सनाथ नहीं बन सकता। शास्त्र के इस कथन पर श्रद्धा रखकर तुम्हे यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि सासारिक वस्तुओं की बदौलत तुम चाहे कितना ही ऊँचा पद क्यों न प्राप्त कर लो, पर उनसे आत्मा सनाथ नहीं बन सकता। धन से आत्मा अनाथता दूर करके सनाथ नहीं बनता।

वास्तव मे धर्म का धन के साथ कोई सबध नहीं है। धन से धर्म की प्राप्ति हो भी नहीं सकती। चाहे कोई निर्धन हो अथवा सधन, वह भावना जागृत होने पर धर्म को अगीकार कर सकता

है। धन की बदौलत बहुत बार भीषण अनर्थ होते हैं। जैसे दामोदरलाल (नाथद्वारा के महन्त) धन के कारण ही वेश्या के फंदे मे फँसे और अन्त मे हृदय की गति बद हो जाने के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए। धनमद मे उन्मत्त होकर उन्होंने लाखों की सम्पत्ति नष्ट कर डाली। अपनी साम्प्रदायिक परम्परा को भी भग किया और प्राणों से भी हाथ धो बैठे। कौन जाने परलोक में उनकी क्या दशा होगी ? इस प्रकार बहुतेरे मनुष्य ऋद्धि पाकर कुमार्ग मे चले जाते हैं। ऋद्धिमान् होकर सन्मार्ग पर चलने वाले और मर्यादा का पालन करने वाले विरले ही होते हैं। जो धन मनुष्य को कुपथगामी बनाता है, उसे पा लेने मात्र से कोई सनाथ कैसे हो सकता है ? यही कारण है कि प्रचुर धनसचयी पिता के पुत्र होकर भी मुनि अपने को अनाथ मानते हैं।

जिसकी अधनीता मे रहने वाले दूसरे लोग भी धनवान् बन जाएँ उसे प्रचुर धनसचयी कहते हैं। जैसे पण्डित के पास रहने वाला मूर्ख भी पण्डित बन जाता है और डाक्टर के पास रहने वाला रोगी भी अच्छा हो जाता है, उसी प्रकार जिसके आश्रय में रहने वाला निर्धन भी धनवान् बन जाय, वह प्रचुरधनसचयी कहलाता है।

मुनि ने अपने पिता को प्रचुरधनसचयी कहा है। इसका अर्थ यही है कि उनके पिता के आश्रय मे रहकर अनेक निर्धन भी सधन बन गए थे।

मुनि के कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं था। राजा जानता था कि कौशाम्बी पुरानी नगरी है और वहाँ बड़े - बड़े

धनाढ्य रहते हैं। मगर उसके हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि फिर मुनि अनाथ क्यों थे ? राजा ने अपने मनोभाव मुनि के सामने प्रकट कर दिये। तब मुनि बोले--

पढ़मे वये महाराय, अतुला मे अच्छि वेयणा।
अहोत्था विउलो दाहो, सव्वंगेसु पत्थिवा ॥१६॥

सत्थं जहा परमतिक्खं, सरीरविवरंतरे।
पविसिज्ज अरी कुद्धो, एव मे अच्छिवेयणा ॥२०॥

तियं मे अन्तरिच्छं च, उत्तमंगं च पीडइ।
इन्दासणि समा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥२१॥

उवट्ठिया मे आयरिया, विज्जा-मंत-चिगिच्छया।
अबीया सत्थकुसला, मन्तमूलविसारया ॥२२॥

ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति, चाउप्पायं जहाहियं।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अवणाहया ॥२३॥

अर्थः—हे महाराज, हे पृथ्वीपति, युवावस्था के प्रारंभ में, मेरी आँखों में अनुपम वेदना उत्पन्न हो गई और सम्पूर्ण शरीर में प्रचण्ड दाह भी उत्पन्न हो गया।

जैसे कुपित हुआ बैरी शरीर के छिद्रों में तीक्ष्ण शस्त्र घुसेडे तो उस समय जैसी वेदना हो, वैसी ही वेदना मेरी आँखों मे हो रही थी।

हृदय, कमर तथा मस्तक में भी ऐसी असह्य और दारुण

वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र के वज्राघात से घोर वेदना हो रही हो।

विद्या, मत्र एव औषध से रोग निवारण करने में कुशल, असाधारण चिकित्सा शास्त्र में पारगत आचार्य चिकित्सक मेरी चिकित्सा करने के लिए आये।

वे चिकित्साचार्य चार प्रकार से—रोग का निदान करना, औषध देना, पथ्य सेवन करना और परिचर्या कराना, अथवा वमन, विरेचन, मर्दन और स्वेदन, अथवा अजन, बधन, लेपन और मर्दन से—मेरी चिकित्सा करने लगे, किन्तु मुझे दुःख से मुक्त न कर सके यही मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान:—मुनिराज कहते है—राजन्। मैं अपनी अनाथता की व्याख्या करता हूँ। मैं प्रचुरधनसचयी का पुत्र था। मेरा लालन पालन अत्यन्त दक्षता और सावधानी से हुआ था। मेरे यहाँ किसी भी साधन की कमी नहीं थी। मेरी बाल्यावस्था बडे ही आनन्द के साथ व्यतीत हुई थी। उस समय भी किसी चीज की कमी नहीं थी।

मैं जब युवक हुआ तब योग्य तरुण कन्या के साथ मेरा विवाह हुआ। तुम जिस उम्र को भोग के योग्य बतलाते हो और जिन्हें भोग के साधन कहते हो, वह सब साधन मेरे पास विद्यमान थे, फिर भी मेरी क्या दशा हुई, यह ध्यानपूर्वक सुनो। युवावस्था मे मेरे शरीर मे रोग उत्पन्न हो गया। घोर वेदना होने लगी। पहले पहल वेदना ने मेरी आँखों मे खटका उत्पन्न किया।

आँख सारे शरीर में सारभूत मानी जाती है। आँखें देखने

मात्र से सब को पहचाना जा सकता है। आँखों के अभाव में सारा ससार अन्धकारमय प्रतीत होता है। भले करोड़ सूर्य उदित हो जाएँ, अगर आँख नहीं तो उन सब का प्रकाश निरर्थक है।

इस शरीर में आँखों का इतना अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु आँखें होने से आत्मा मे सनाथता आती है या अनाथता, यह बात अनाथ मुनि के कथन एव वृत्तान्त से समझो। मुनि ने आँखों द्वारा सुन्दर दृश्य देखे होंगे और उत्तम-उत्तम पदार्थ भी देखे होंगे और आँखों को ठीक रखने के लिए अजन या सुरमा का भी प्रयोग किया होगा आँखों को ठंडक पहुँचाने के लिए शीतल पदार्थों का सेवन भी किया होगा। इतनी सार-सँभाल करने पर भी मुनि की आँखों में वेदना क्यों उत्पन्न हुई ?

इस अध्ययन मे अब तक जो कहा गया है और आगे जो कहा जायगा, उसका आशय प्रकट करते हुए मुनि कहते है-मेरे पास सभी साधन विद्यमान थे। मैं स्वय आँखों को ठीक रखना चाहता था, उनकी सार-सँभाल भी करता था। फिर भी न जाने क्यों, आँखों में दुस्सह वेदना उत्पन्न हो गई। उस भयकर वेदना के कारण मन में विचार आता-आँखें ही न होतीं तो कितना अच्छा होता। इतनी दुस्सह वेदना तो न सहनी पडती। राजन्। इतनी सार-सँभाल और सावधानी रखने पर भी जब आँखों मे असह्य वेदना उत्पन्न हुई तो मुझे लगा कि मैं अपनी आँखों का नाथ नहीं हु। नाथ होता तो इतनी सुरक्षा करने पर भी क्यों वेदना उत्पन्न होती ?

जो कहते या समझते हैं कि-'यह आँखें मेरी है' वे भूल करते हैं। वे आँखों में अपना आरोपण कर लेते हैं। किन्तु जो अपनी

आज्ञा नहीं मानता—अपनी इच्छा पर नहीं चलता, उसे अपना कैसे माना जा सकता है ? तुम अपने को किसी मनुष्य का मालिक मानते हो, परन्तु वह तुम्हारी इच्छा के प्रतिकूल व्यवहार करता है, तो वास्तव मे तुम अपने को उसका मालिक किस प्रकार कह सकते हो ?

मुनि ने कहा—मुझे पहले इस बात का भान नहीं था, किन्तु जब नेत्रों में पीडा उत्पन्न हुई, तब भान हुआ कि मैं आँखों का नाथ बन कर क्या अभिमान करता हूँ ? ससार के पदार्थों को देख-देख कर धोखा खा रहा हूँ।

मुनि आगे कहते हैं—आँखों मे वेदना होने के साथ ही मेरे शरीर मे खूब दाह उत्पन्न हो गया। शरीर के किसी एक अंग में ही दाह उत्पन्न नहीं हुआ, मगर सम्पूर्ण शरीर में इस प्रकार की जलन पैदा हो गई मानो शरीर को आग में झोंक दिया हो।

कोई मनुष्य तुम्हारे शरीर पर दहकता हुआ अगार फैंक दे अथवा आँख में सुई चुभा दे तो उसे तुम अपना शत्रु या अपराधी मानोगे या नहीं ? इस प्रकार बाहर से सुई भौंकने वाले या आग से जलाने वाले को तो अपराधी या शत्रु मान सकते हो, किन्तु बाहर कोई शत्रु या अपराधी दिखाई न देता हो तब क्या समझा जाय ? मुनि की आँखों में कौन सुई-सी चुभा रहा था ? कौन उन्हें जला रहा था ? वह वैरी कौन था ? तुम बाहर के मनुष्य को तो वैरी या अपराधी समझ लेते हो परन्तु यह नहीं देखते कि तुम स्वयं ही अपने वैरी और अपराधी बन रहे हो।

मुनि कहते हैं—राजन् ! तुम राज्य का सचालन करते हो।

तुम्हारे सामने कोई किसी की आँखों में भाला भौंके या शरीर को जलावे तो तुम खड़े-खडे चुपचाप देखते रहोगे ?

राजा—मुझे स्मरण नहीं आता कि किसी ने अपराध किया हो और मैंने उसे दड न दिया हो।

मुनि—राजन्। बाहर का अपराधी होता तो कदाचित् मैं अपनी रक्षा कर सकता, किन्तु मुझ पर जिस क्रूर रोग ने आक्रमण किया, उससे मुझे बचाने वाला कौन था ?

राजन्, मैं तुमसे एक प्रश्न करता हूँ। तुम्हारे राज्य मे कोई किसी पर हमला करे तो तुम रोकते होगे और उसे दड भी देते होगे। परन्तु क्या तुम्हारे राज्य मे कभी रोग का आक्रमण नहीं होता ? उस रोग को दूर करने के लिए और प्रजा को रोग से बचाने के लिए किसी दिन दौडे हो ? और रोग से प्रजा की रक्षा की है ? अगर तुम रोग से प्रजा की रक्षा नहीं कर सके तो प्रजा के नाथ कैसे कहे जा सकते हो ? अरे, प्रजा का नाथ होना तो दूर की बात है, तुम अपने भी नाथ नही बन सकते। अतएव विचार करो कि मै कैसा अनाथ हूँ ?

कदाचित् कहोगे कि रोग से कैसे रक्षा की जा सकती है ? परन्तु मैं पूछता हू कि आखिर रोग क्या चीज है ? रोग और कुछ नहीं, यह आत्मा ही रोग है। तुम बाहर के शत्रुओं को तो देख सकते हो, पर भीतर जो शत्रु छिपे बैठे है, उन्हें क्यों नहीं देखते ? अगर तुम अपने भीतर विद्यमान शत्रुओं को नहीं जीत सकते तो फिर नाथ कैसे ? ऐसी स्थिति मे तो तुम स्वय ही अनाथ हो।

मुनि का कथन सुनकर राजा ने कहा— आपको ऐसी असह्य

वेदना हुई थी ? तब मुनि बोले- क्या कहूँ राजन् ! आँखों में ऐसी दुस्सह वेदना होती थी, जैसे कोई महान् तीक्ष्ण भाला लेकर आँखों में भोंक रहा हो। राजन्, अब तुम्हीं विचार कर देखो कि उस समय जो शत्रु मुझे कष्ट दे रहा था, उसे पराजित न कर सकने वाला सनाथ है या अनाथ ? एक ओर नेत्रों में पीडा हो रही थी और दूसरी ओर मेरी कमर में भी वेदना हो रही थी। साथ ही जो उत्तमाग कहलाता है, और जो ज्ञान का केन्द्रभूत है, उस मस्तक में भी ऐसी घोर पीड़ा हो रही थी, मानो इन्द्र वज्र मार रहा हो या बिजली पड़ रही हो। इस प्रकार मेरा समस्त शरीर दारुण वेदना से व्याप्त था।

कहोगे कि उस पीड़ा को दूर करने के लिए वैद्यों की सहायता लेनी थी। परन्तु राजन्, मैंने बड़े-बडे वैद्यों की सहायता ली। औषध सेवन करने में किसी प्रकार की कमी नहीं रहने दी। मैं किसी छोटे-मोटे गाँवड़े में तो रहता नहीं था, कौशाम्बी जैसी प्राचीन नगरी में रहता था। वहाँ के पुराने, प्रसिद्ध और अनुभवी आयुर्वेदाचार्य मेरी चिकित्सा करने के लिए पैरों पर खडे रहते थे। वे साधारण वैद्य नहीं थे वरन् वैद्यक शास्त्र में पारगत एव शस्त्र-क्रिया में भी कुशल थे। ऑपरेशन करने में ऐसे दक्ष कि बीमार को पता भी न चले। वे वैद्य मत्र विद्या में विशारद थे। ऐसे अनुभवी और कुशल वैद्य भी मेरी चिकित्सा करते-करते थक गये, परन्तु मेरी वेदना को दूर न कर सके। मैं ऐसा अनाथ था।

महाराज, तुमने जिस शरीर की प्रशसा की और जिसे भोग के योग्य बतलाया है, उसी शरीर में ऐसी दारुण वेदना उपजी थी।

अब तुम्हीं कहो कि उस समय मै सनाथ था या अनाथ ?

उस समय मेरे मन मे विचार आया- मैं इस शरीर के कारण ही कष्ट भुगत रहा हूँ। विष मिल जाय तो उसका पान करके मर जाऊँ और किसी प्रकार इस असह्य यातना से छुटकारा पाऊँ। फिर मुझे खयाल आया कि जिस शरीर की बदौलत मुझे इतने कष्ट झेलने पड़ रहे हैं, उस शरीर का अपने आपको नाथ समझना धिक्कार की बात है। राजन्, मुझे जैसा रोग हुआ था, वैसा तुम्हें भी तो हो सकता है ?"

श्रेणिक आज यहाँ नहीं है, पर आप लोग तो हैं। जैसे अनाथ मुनि ने श्रेणिक से प्रश्न किया था, उसी प्रकार मै आपसे पूछता हू-- रोग तुम्हें भी हुआ होगा ? उस समय यह शरीर कितना कष्टदायक प्रतीत होता था ? किन्तु वास्तव मे ही अगर शरीर कष्टदायक लगा होता तो आप ऐसे प्रयत्न करते कि इस शरीर में रहना ही न पडे। सदा के लिए अशरीर अवस्था प्राप्त हो जाय। परन्तु कष्ट से मुक्त होने के बाद कष्ट का स्मरण ही नहीं रहता।

जीव विचार करता है कि मैं इस देह का स्वामी हूँ। यह देह मेरी है, मेरे अधीन है। इस प्रकार शरीर के प्रति ममत्व धारण करके वह देह का स्वामी बनता है, किन्तु सचाई यह है कि जीव का शरीर पर जितना ही अधिक महत्व होता है, जितना ही वह इसका स्वामी बनना चाहता है, उतना ही अधिक अनाथ बनता है।

व्यवहार मे किसी को वीर और किसी को कायर कहा जाता है। पर वीर और कायर की व्याख्या क्या है ? किस कारण एक

को वीर और दूसरे को कायर कहा जाता है ? इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

कोई भी मनुष्य कायरों की श्रेणी मे अपना नाम नहीं लिखाना चाहता। सभी अपने को वीर कहलवाना चाहते हैं। परन्तु वीर बनने के लिए वीरता धारण करनी पडती है। युद्ध की भेरी बजती है तो वीर पुरुष अपनी वीरता दिखलाने के लिए बाहर आता है और अपनी पत्नी तथा पुत्र को भी भूल जाता है। यही नहीं, अपने शरीर की भी परवाह न करता हुआ, प्राणों को हथेली पर रखकर सग्राम करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार की वीरता का प्रदर्शन करने से ही कोई वीर कहला सकता है। परन्तु जो वीरवृत्ति नहीं धारण करता, वह व्यवहार मे भी वीर नहीं कहलाता।

जब लौकिक वीर को भी इतनी वीरता दिखलानी पड़ती है तो लोकोत्तर वीर को कितनी वीरता न दिखलानी पडती होगी ? लोकव्यवहार मे भी जो मनुष्य शरीर के प्रति ममत्व रखता है, वह कायर कहलाता है और जो शरीर का ममत्व त्याग देता है, वह वीर माना जाता है। इस प्रकार जो लोग शरीर के ममत्व का त्याग करके कर्मों के साथ युद्ध करने के लिए अग्रसर होते हैं, वे क्या वीर नहीं हैं ? निस्सन्देह वे वीर है। इस प्रकार जो वीर है वही नाथ बन सकता है, और जो शरीर पर ममत्व रखता है वह कायर, नाथ नहीं बन सकता। वह तो अनाथ ही है।

मुनि कहते हैं—राजन्, तुम अपने को इस शरीर का नाथ समझते हो, शरीर को अपना मानते हो, परन्तु जरा विचार तो

कर देखो कि इस पर तुम्हारा आधिपत्य भी है या नहीं ? जो बात सिन्धु मे होती है, वही बिन्दु मे होती है। इस कथन के अनुसार मैं मानता हूं कि जो बात मुझ पर बीती, वही दूसरों पर भी बीतती होगी। मैं भी अपने आपको शरीर का स्वामी समझता था। मगर इस मान्यता के कारण मुझ पर जो बीती, वह सुनिए —

मेरी युवावस्था थी। युवावस्था मे विरला ही कोई होगा जो दीवाना न बन जाता हो। इस अवस्था में रक्त मे उष्णता होती है, अतएव प्राय लोग दीवाने हो जाते है। अच्छे-अच्छे घरानों की सुन्दरी स्त्रियों के साथ मेरा विवाह-संबध हुआ था। वह समय मेरे लिए रमणियों को और उनके शृंगार को देखकर आनन्द मानने का था, किन्तु उन्हें देखने का साधन — मेरे नेत्र-ही बिगड गए। आँखों की असह्य वेदना के कारण मैं कुछ भी आनन्द नहीं लूट सकता था।

आँखें खराब हो जाने पर आनन्दप्रद वस्तुएँ भी किस प्रकार खराब दिखाई देने लगती हैं, यह बात एक उदाहरण से समझिए।

कल्पना करो, किसी मनुष्य ने चित्रशाला बनवानी आरम्भ की। चित्रशाला बनवाने मे उसने पूर्ण उदारता दिखलाई। मुक्तहस्त हो खर्च किया। किन्तु जब चित्रशाला बनकर तैयार हुई, तब भाग्य से वह अधा हो गया। इस कारण चित्रशाला उसके लिए आनन्द-प्रद होने के बदले दु खदायक हो गई। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पर-पदार्थ को सुख का साधन मानना विवशता और दु ख का ही आह्वान करना है।

यह आत्मा यही भूल कर रहा है। वास्तव में जिसे देखता है,

किस प्रकार पड़ता है, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए—

वट वृक्ष कितना विशाल होता है। वह भारत में ही उत्पन्न होता है, अन्य देशों में नहीं। अब कोई यहाँ से ले गया हो तो बात अलग है।

अगर आप वट वृक्ष से शिक्षा ग्रहण करें तो अपनी बहुत उन्नति कर सकते हैं। विष्णु को वटशायी कहा जाता है। इस कथन का वास्तविक आशय क्या है, यह बतलाने का अभी समय नहीं है। अभी आप यही विचार कीजिए कि वट का वृक्ष कितना विशाल होता है और उसका फल कितना छोटा होता है। वृक्ष को देखते उसका फल बहुत छोटा जान पड़ता है। परन्तु फल मे रहा हुआ बीज तो और भी सूक्ष्म होता है। उस बीज को हाथ मे लेकर कोई कहे कि इसमें विशाल वट वृक्ष है, तो आप कहेंगे-- कहाँ है बताओ तो सही। किन्तु बुद्धिमान् पुरुष यही कहेगा कि बीज मे वृक्ष तो अवश्य है, किन्तु वह यों नहीं देखा जा सकता। पानी और मिट्टी के सयोग मे बीज मे वृक्ष देखा जा सकता है।

भगवान् का कथन है— औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण, शरीर के यह पाँच भेद है। तुम जो कुछ भी देखते हो, सुनते हो या स्पर्श करते हो, उस सब का सस्कार कार्मण शरीर में रहता है। अर्थात् आस्रव सम्बंधी समस्त क्रियाओं के सस्कार कार्मण शरीर मे विद्यमान रहते हैं।

कहा जा सकता है कि कार्मण शरीर कैसा होता हैं और उसमें सस्कार किस प्रकार रहते है, यह हमे बतलाइए ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जैसे बीज मे वृक्ष रहता है, उसी

प्रकार कार्मण शरीर मे सस्कार रहते हैं, जैसे बीज मे वृक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु अनुकूल सयोग पाकर वह प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार कार्मण शरीर में विद्यमान सस्कार भी अनुकूल सयोग पाकर दिखाई देने लगते हैं। मृत्यु होने पर औदारिक शरीर छूट जाता है, किन्तु कार्मण शरीर जीव के साथ ही जाता है, कार्मण शरीर को लिंगशरीर या सूक्ष्मशरीर भी कहते हैं। जैसे प्रतिकूल सयोगों मे वट का बीज वृक्ष को उत्पन्न नहीं करता, अर्थात वृक्ष के रूप मे फल-फूल नहीं सकता, उसी प्रकार कार्मणशरीरगत सस्कार भी दूसरे सस्कारों से नष्ट हो जाते हैं। अतएव कई बार वे सस्कार प्रकट नहीं होते, परन्तु तुम जो भी पुण्य या पाप करते हो, उस सब के संस्कार कार्मण शरीर मे अवश्य विद्यमान रहते हैं।

इस प्रकार आप जो कुछ देखते हैं, वह आपका देखना उसी समय नष्ट नहीं हो जाता, किन्तु उसका सस्कार रह जाता है। अतएव आँखों का किस प्रकार सदुपयोग करना चाहिए, इस सबध मे गहरा विचार करने की आवश्यकता है।

मुनि ने कहा— राजन्। मैं उस समय कैसा अनाथ था। उस समय अनाथता के दु ख से दु खित होकर मर जाता तो मेरे और तुम्हारे बीच में यह वार्त्तालाप भी न हो सकता। परन्तु मैंने विचार किया कि किसी भी उपाय से इस अनाथता को दूर करना चाहिए। यह सोचकर जब मैंने अनाथता से पिण्ड छुडाया तभी तुम्हारे साथ वार्त्तालाप करने का प्रसग मिल सका है।

मान लीजिए, एक आँखों वाला मेला-ठेला आदि देखता फिरता

है। दूसरा आदमी अंधा है। वह कहता है— क्या करूँ। देखने की लालसा तो बहुत है, किन्तु दुर्भाग्य से आँखे ही नहीं है। इस प्रकार वह देख न सकने के कारण दुखी हो रहा है। तीसरे आदमी की आँखों मे वेदना हो रही है, किन्तु वह कहता है— यह वेदना मेरी सहायक है। यह रोग मेरा परम मित्र है। मैं बाहर क्यों देखूँ, भीतर ही क्यों न देखूँ ?

इन तीन मे से आप किसे अच्छा कहेंगे ? आप तीसरे को अच्छा कहेंगे। ज्ञानी भी ऐसे ही होते है। वे सिर पर दु ख आ पडने पर भी घबराते नहीं। दु ख को अपना मित्र मानते है। जैसे चाबुक लगने पर उत्तम जाति का घोडा दौडने लगता है, उसी प्रकार दु ख आ पडने पर वे धर्म मे अधिक लग जाते हैं। जब कि अज्ञानी लोग थोडा सा दु ख आते ही रोने लगते हैं।

इस प्रकार ज्ञानी जन जिसे दिन मानते है, अज्ञानी उसे रात्रि मानते है और अज्ञानी जिसे दिन मानते हैं, ज्ञानी उसे रात्रि मानते है। ससार मे यह क्रम चलता ही रहता है। अतएव दु ख पड़ने पर आपको रोना नहीं चाहिए, किन्तु धर्म मे प्रवृत्त होना चाहिए। ज्ञानी जैसा ऊँचा विचार करते है, वैसा ही उच्च विचार तुम्हें भी करना चाहिए। तुम ऐसा उच्च विचार रक्खोगे तो शरीर मे रहते हुए भी अनन्त बली बन जाओगे। अत ससार की वस्तुओं के नाथ बनने का प्रयत्न न करते हुए अपनी आत्मा के नाथ बनो। तुम्हें सहज ही सब साधन प्राप्त हैं। इन साधनों द्वारा आत्मा का कल्याण कर लो। तुम दूसरों की दवा लेते हो, परन्तु हमारी भी दवा ले देखो। तुम श्रावक हो और शास्त्र में श्रावक को साधु का

माता-पिता कहा है। तुम किसी भी स्थिति मे पहुच गये होओ, पर जैसे वृद्ध और रुग्ण पिता को पिता ही माना जाता है, उसी प्रकार हमे भी श्रावकों को माता-पिता मानना चाहिए। हम इससे इंकार नहीं हो सकते। परन्तु तुम्हारे लिए भी यही उचित है कि हमारी बात पर पूरा-पूरा ध्यान दो। अगर तुम अपनी आत्मा को खराब कामों से दूर रक्खोगे तो तुम्हारा श्रावक पद शोभायमान होगा और आत्मा का कल्याण भी होगा।

अनाथ मुनि राजा श्रेणिक से कहते हैं- 'मैं शरीर ही हू' ऐसा मानना भूल है। इस शरीर मे विद्यमान आत्मा अपने आपको भूल रहा है और 'शरीर ही मैं हूँ' इस प्रकार मान कर भ्रम मे पड रहा है। ज्ञानी जन कहते हैं-- देहाभ्यास से छूटना जितना कठिन है, उतना ही मगलकर भी है। जैसे जमीन को बहुत गहरा खोदने पर ही हीरा हाथ लगता है और एक ही हीरा हाथ लगने से सारी दरिद्रता दूर हो जाती है, उसी प्रकार शरीर का अभ्यास छूटना कठिन तो है, किन्तु यह अभ्यास छूटने पर किसी भी प्रकार का कष्ट या अज्ञान शेप नहीं रह जाता। अतएव शरीर को छोड़ने का अभ्यास करना चाहिए।

शरीराभ्यास का त्याग करने के लिए मै गणधरों की वाणी ही तुम्हारे समक्ष उपस्थित करता हू। कहा है--

सन्ताचे उच्छिष्ट साग तो मी बोल कायसी पामर जाणवे।

मेरे पास क्या रक्खा है ? मैं तो गणधरों की ही वाणी तुम्हें सुनाता हू। हॉ, उसे सरल करके अवश्य समझाता हूँ, जिससे तुम्हारी समझ मे आ जाय।

गणधरों ने लोक के हित के लिए कितना अधिक प्रयत्न किया है, इस बात पर जरा विचार करो। अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक से जो कुछ कहा, उसे शास्त्र में गूथ कर गणधर हमारे लिए कितनी बड़ी विरासत छोड़ कर गये है। जैसे पिता धन सचित करके पुत्र को विरासत मे दे जाता है, उसो प्रकार गणधर श्रम करके हमे यह विरासत के रूप मे यह आगम दे गये है। उन्हें ध्यान में रक्खो और यदि वृद्धि नहीं कर सकते तो कम से कम उन्हें सुरक्षित तो रक्खो।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्! मेरी ऐसी अनाथता थी। मै सब तरह अनाथ था। तुम जिस शरीर को देखकर चकित हो रहे हो, उसका सार रूप यह नेत्र हैं। इन नेत्रों मे ऐसी दारुण वेदना होती थी कि न पूछो बात।

प्रज्ञापनासूत्र मे कहा है—सारभूत प्रद्गल आँखों को मिलते हैं। आँखें ससार का रूप देखती हैं। इन आँखों ने न जाने ससार का कितना रूप देखा होगा। मै इन अनमोल आँखों का दुरुपयोग कर रहा था, मानो अमृत से पैर धो रहा था।

सारभूत आँखों का खेल-तमाशा वगैरह देखने मे दुरुपयोग करना अमृत से पांव धोने के समान ही है। परन्तु राजन्! यह बात पहले मेरी समझ मे नहीं आई थी। इसीलिए मैं आँखों का दुरुपयोग करता था। जब आखों में घोर वेदना उत्पन्न हुई, तभी मुझे भान हुआ कि मैं आँखों का दुरुपयोग कर रहा हूँ। अब मैं उस वेदना को महाशक्तिस्वरूप मानता हूँ। उस वेदना से मुझे तो अवश्य हुआ, किन्तु उस दु:ख ने आत्मज्ञान उत्पन्न कर

दिया। राजन्, तुम जानते हो कि युवावस्था में सुख-सम्पत्ति और स्त्री का त्याग करना कितना कठिन है, किन्तु उस वेदना रूप महाशक्ति की कृपा से मैं उनका त्याग करने मे समर्थ हो सका। अतएव वेदना को भले कोई दुःख रूप माने, परन्तु मेरे लिए तो वह वेदना कल्याणकारिणी ही सिद्ध हुई।

राजन्! वेदना को दुःखरूप मानना या सुखस्वरूप, इस सबंध मे लोग गड़-बड़ मे पड जाते हैं, यह स्वाभाविक है। किन्तु इस पर गहरा विचार किया जाय तो यह वेदना सुखरूप प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगी।

मान लो, किसी मनुष्य के हाथ में जहरीला फोड़ा हुआ है। अगर उस फोडे मे से जहर न निकाल दिया जाय तो मृत्यु होना संभव है? इस स्थिति मे डाक्टर अगर उस फोडे को चीर कर जहर निकाले तो बीमार को वेदना तो होगी ही, परन्तु उसका परिणाम तो सुखद ही होगा। इस दृष्टि से डाक्टर को मित्र माना जाय या शत्रु? मौत के मुँह मे से उबारने वाले डाक्टर को मित्र ही मानना चाहिए। इस तथ्य को कोई अस्वीकार नहीं करता। किन्तु आश्चर्य है कि आगे चल कर लोग इसी बात को भूल जाते हैं।

मुनि ने कहा—हे राजन्, आँखों मे भयानक पीड़ा होने के साथ ही मेरे सारे शरीर मे उग्र दाह भी होने लगा, किन्तु उस समय मुझे यह भान हुआ कि अपने को जिस शरीर का स्वामी समझ रहा हूँ और जिस शरीर को सुन्दर मानकर अभिमान कर रहा हू, वास्तव मे उस शरीर का नाथ मैं नहीं हूँ। शरीर को व्याधि-

ग्रस्त देखकर मैंने विचार किया--क्या मैं इस शरीर का नाथ हूँ ? मैं अपने शरीर को स्वस्थ रखना चाहता हूँ, फिर भी यह मुझे पीडा दे रहा है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मैं शरीर का नाथ नहीं हूँ। शरीर न्यारा है और मैं न्यारा हूँ। यह सही है कि आत्मा और शरीर दूध और पानी की भांति एकमेक हो रहे हैं, किन्तु वास्तव मे दूध और पानी भिन्न-भिन्न हैं, इसी प्रकार आत्मा और शरीर भी भिन्न-भिन्न है।

राजन्, आत्मा और शरीर का विवेक होने पर मुझे लगने लगा कि मेरी आँखों में भाला भोंकने के समान जो वेदना दे रहा है और आग के समान शरीर मे दाह उत्पन्न कर रहा है, वह दूसरा कोई नहीं, स्वय मैं ही हू। तुम सोचते होगे--कौन ऐसा होगा जो अपने आप अपनी आँखों में और अपने शरीर मे वेदना उत्पन्न करे ? परन्तु अगर तुम ऐसा सोचते हो तो मेरे कथन का तात्पर्य नहीं समझे। मेरे कथन पर गभीर विचार करोगे तो तुम्हें स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा कि यह आत्मा भ्रम के कारण पर-वस्तु को अपनी मान बैठता है और परिणामस्वरूप अपने हित के बदले अहित कर लेता है। वस्तुतः आत्मा की अनाथता दूर किये बिना इस शारीरिक पीडा को दूर नहीं किया जा सकता। इस तरह विचार करके मैंने आत्मा की अनाथता को दूर करने का विचार किया। तब मुझे विदित हुआ कि आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उद्धार होगा। गीता में भी कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मान, नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धरात्मैव रिपरात्मन' ॥

अर्थात्--आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करना चाहिए, आत्मा को अवसादमय नहीं बनाना चाहिए। आत्मा स्वय ही अपना बन्धु है और स्वय ही अपना शत्रु है।

हे राजन्। मैंने आत्मा के द्वारा ही आत्मा की अनाथता को दूर करने का विचार किया। परन्तु इस शरीर को माता-पिता, भाई, बहिन, स्त्री-पुत्र आदि अपना-अपना मानते हैं। इस शरीर को कोई भाई, तो कोई पुत्र और कोई पति कहते थे। मैंने विचार किया-जो लोग इस शरीर को अपना मानते हैं, वे भी अपनी शक्ति को आजमालें और वे कुछ भी करने में समर्थ न हों, तभी मुझे कुछ करना उचित होगा। इस विचार से मैं चुपचाप बना रहा। मेरी वेदना का निवारण करने के लिए वैद्यक शास्त्र में पारगत वैद्याचार्यों ने अनेक उपचार किये, मगर मेरा रोग शान्त नहीं हुआ। ऐसी मेरी अनाथता थी।

मुनि की आत्म-कथा सुनकर राजा कहने लगा-आज आप पूर्ण रूप से स्वस्थ दिखाई देते हैं। इससे तो यही जान पड़ता है कि आपका रोग असाध्य नहीं था। फिर किस त्रुटि के कारण रोग शान्त नहीं हुआ ?

अनाथ मुनि ने उत्तर दिया-राजन्, वे वैद्य स्वय ही अनाथ थे। और जो स्यय अनाथ हो वह दूसरों को कैसे सनाथ बना सकता है ? मैं भी अनाथ था और वे भी अनाथ थे। दोनों की अनाथावस्था मे रोग कैसे मिट सकता है ?

राजन्, वैद्यों के उपचार से मेरा रोग शान्त न हुआ, यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। उनका उपचार सफल हो जाता और मैं

ग्रस्त देखकर मैंने विचार किया--क्या मैं इस शरीर का नाथ हूँ ? मैं अपने शरीर को स्वस्थ रखना चाहता हूँ, फिर भी यह मुझे पीड़ा दे रहा है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मैं शरीर का नाथ नहीं हूँ। शरीर न्यारा है और मै न्यारा हूँ। यह सही है कि आत्मा और शरीर दूध और पानी की भाति एकमेक हो रहे हैं, किन्तु वास्तव मे दूध और पानी भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार आत्मा और शरीर भी भिन्न-भिन्न हैं।

राजन्, आत्मा और शरीर का विवेक होने पर मुझे लगने लगा कि मेरी आँखों मे भाला भोंकने के समान जो वेदना दे रहा है और आग के समान शरीर मे दाह उत्पन्न कर रहा है, वह दूसरा कोई नहीं, स्वय मैं ही हू। तुम सोचते होगे--कौन ऐसा होगा जो अपने आप अपनी आँखों मे और अपने शरीर मे वेदना उत्पन्न करे ? परन्तु अगर तुम ऐसा सोचते हो तो मेरे कथन का तात्पर्य नहीं समझे। मेरे कथन पर गभीर विचार करोगे तो तुम्हें स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा कि यह आत्मा भ्रम के कारण पर-वस्तु को अपनी मान बैठता है और परिणामस्वरूप अपने हित के बदले अहित कर लेता है। वस्तुत. आत्मा की अनाथता दूर किये बिना इस शारीरिक पीड़ा को दूर नहीं किया जा सकता। इस तरह विचार करके मैंने आत्मा की अनाथता को दूर करने का विचार किया। तब मुझे विदित हुआ कि आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उद्धार होगा। गीता मे भी कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मान, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन॰ ॥

अर्थात्—आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करना चाहिए, आत्मा को अवसादमय नहीं बनाना चाहिए। आत्मा स्वय ही अपना बन्धु है और स्वय ही अपना शत्रु है।

हे राजन्। मैंने आत्मा के द्वारा ही आत्मा की अनाथता को दूर करने का विचार किया। परन्तु इस शरीर को माता-पिता, भाई, बहिन, स्त्री-पुत्र आदि अपना-अपना मानते हैं। इस शरीर को कोई भाई, तो कोई पुत्र और कोई पति कहते थे। मैंने विचार किया—जो लोग इस शरीर को अपना मानते हैं, वे भी अपनी शक्ति को आजमालें और वे कुछ भी करने मे समर्थ न हों, तभी मुझे कुछ करना उचित होगा। इस विचार से मैं चुपचाप बना रहा। मेरी वेदना का निवारण करने के लिए वैद्यक शास्त्र में पारंगत वैद्याचार्यों ने अनेक उपचार किये, मगर मेरा रोग शान्त नहीं हुआ। ऐसी मेरी अनाथता थी।

मुनि की आत्म-कथा सुनकर राजा कहने लगा—आज आप पूर्ण रूप से स्वस्थ दिखाई देते हैं। इससे तो यही जान पड़ता है कि आपका रोग असाध्य नहीं था। फिर किस त्रुटि के कारण रोग शान्त नहीं हुआ?

अनाथ मुनि ने उत्तर दिया—राजन्, वे वैद्य स्वय ही अनाथ थे। और जो स्वय अनाथ हो वह दूसरों को कैसे सनाथ बना सकता है? मैं भी अनाथ था और वे भी अनाथ थे। दोनों की अनाथावस्था मे रोग कैसे मिट सकता है?

राजन्, वैद्यों के उपचार से मेरा रोग शान्त न हुआ, यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। उनका उपचार सफल हो जाता और मैं

ग्रस्त देखकर मैंने विचार किया--क्या मैं इस शरीर का नाथ हूँ ? मैं अपने शरीर को स्वस्थ रखना चाहता हूँ, फिर भी यह मुझे पीडा दे रहा है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मै शरीर का नाथ नहीं हूँ। शरीर न्यारा है और मै न्यारा हूँ। यह सही है कि आत्मा और शरीर दूध और पानी की भांति एकमेक हो रहे हैं, किन्तु वास्तव मे दूध और पानी भिन्न-भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा और शरीर भी भिन्न-भिन्न है।

राजन्, आत्मा और शरीर का विवेक होने पर मुझे लगने लगा कि मेरी आँखों से भाला भोंकने के समान जो वेदना दे रहा है और आग के समान शरीर में दाह उत्पन्न कर रहा है, वह दूसरा कोई नहीं, स्वय मैं ही हू। तुम सोचते होगे--कौन ऐसा होगा जो अपने आप अपनी आँखों मे और अपने शरीर मे वेदना उत्पन्न करे ? परन्तु अगर तुम ऐसा सोचते हो तो मेरे कथन का तात्पर्य नहीं समझे। मेरे कथन पर गभीर विचार करोगे तो तुम्हें स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा कि यह आत्मा भ्रम के कारण पर-वस्तु को अपनी मान बैठता है और परिणामस्वरूप अपने हित के बदले अहित कर लेता है। वस्तुत आत्मा की अनाथता दूर किये बिना इस शारीरिक पीडा को दूर नहीं किया जा सकता। इस तरह विचार करके मैंने आत्मा की अनाथता को दूर करने का विचार किया। तब मुझे विदित हुआ कि आत्मा के द्वारा ही आत्मा का उद्धार होगा। गीता मे भी कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मान, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥

अर्थात्—आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करना चाहिए, आत्मा को अवसादमय नहीं बनाना चाहिए। आत्मा स्वय ही अपना बन्धु है और स्वयं ही अपना शत्रु है।

हे राजन्। मैंने आत्मा के द्वारा ही आत्मा की अनाथता को दूर करने का विचार किया। परन्तु इस शरीर को माता-पिता, भाई, बहिन, स्त्री-पुत्र आदि अपना-अपना मानते हैं। इस शरीर को कोई भाई, तो कोई पुत्र और कोई पति कहते थे। मैंने विचार किया—जो लोग इस शरीर को अपना मानते हैं, वे भी अपनी शक्ति को आजमालें और वे कुछ भी करने मे समर्थ न हों, तभी मुझे कुछ करना उचित होगा। इस विचार से मैं चुपचाप बना रहा। मेरी वेदना का निवारण करने के लिए वैद्यक शास्त्र में पारगत वैद्याचार्यों ने अनेक उपचार किये, मगर मेरा रोग शान्त नहीं हुआ। ऐसी मेरी अनाथता थी।

मुनि की आत्म-कथा सुनकर राजा कहने लगा—आज आप पूर्ण रूप से स्वस्थ दिखाई देते हैं। इससे तो यही जान पड़ता है कि आपका रोग असाध्य नहीं था। फिर किस त्रुटि के कारण रोग शान्त नहीं हुआ ?

अनाथ मुनि ने उत्तर दिया—राजन्, वे वैद्य स्वय ही अनाथ थे। और जो स्वय अनाथ हो वह दूसरों को कैसे सनाथ बना सकता है ? मैं भी अनाथ था और वे भी अनाथ थे। दोनों की अनाथावस्था मे रोग कैसे मिट सकता है ?

राजन्, वैद्यों के उपचार से मेरा रोग शान्त न हुआ, यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। उनका उपचार सफल हो जाता और मैं

नीरोग हो जाता तो मैं उन्हीं को नाथ मान बैठता। यद्यपि वह स्वयं ही अनाथ थे, फिर भी मैं उन्हें भूल से नाथ समझ लेता। अतएव उनके उपचार से मेरे रोग का शान्त न होना मेरे हक मे अच्छा ही रहा।

ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से मिटना ही रोग का वास्तव मे मिटना है। रोग का इस प्रकार मिटना कि फिर कभी उत्पन्न न हो, ऐकान्तिक मिटना है और रोग मात्र का सदा काल के लिए मिट जाना आत्यन्तिक मिटना कहलाता है। क्या कोई डाक्टर इस धरती पर ऐसा है जो सदैव के लिए रोग मिटा सके ? अगर नहीं तो डाक्टर को सनाथ कैसे कहा जा सकता है ?

कहा जा सकता है कि अगर डाक्टर रोगों को मिटाते नहीं तो लोग उनके पास क्यों जाते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्त्तमान मे डाक्टर रोग को दबा देते हैं, अथवा सातावेदनीय कर्म के उदय से रोग स्वतः दब जाता है। बस, इसी कारण लोग समझने लगते हैं कि डाक्टर ने रोग मिटा दिया। इसी से लोग डाक्टर के गुलाम बन जाते हैं और उसे अपना नाथ मानने लगते हैं।

जो निर्बल होता है, वही बीमार पडता है। सबल मनुष्य बीमार नहीं होता। चाय, बिस्कुट आदि रोगोत्पादक वस्तुओं का सेवन करने से और खान-पान का ध्यान न रखने से रोग उत्पन्न होता है। खान-पान का ध्यान रक्खा जाय तो प्रायः रोग उत्पन्न ही न हो। पहले आहार-विहार का ध्यान न रखना और जब बीमारी उत्पन्न हो जाय तो डाक्टर की शरण मे जाना ही तो अनाथता है।

डाक्टर ने दवा देकर रोग को दवा दिया। इसी से तुम अभिमान करने लगे कि मैं डाक्टर की कृपा से स्वस्थ हो गया। परन्तु यह तो एक प्रकार की भ्रमणा है।

जो स्वतंत्र होता है और पूर्ण बलवान् होता है, उसे रोग ही उत्पन्न नहीं होता। तीर्थंकर भगवान् को रोग नहीं होता, परन्तु पूर्वोपार्जित कर्म के कारण कदाचित् रोग हो जाय तो अपना रोग आप ही मिटा लेते हैं, किसी वैद्य-डाक्टर की परतंत्रता स्वीकार नहीं करते।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्। उन वैद्यों के उपचार से मेरा रोग दूर न हुआ, यह अच्छा ही हुआ। मैं उनके शरण मे पड़ा रहा होता तो मेरी अनाथता दूर ही न हुई होती। कहा जाता है कि वैद्य कुशल हो, दवा अच्छी हो, रोगी दवा लेने के लिए उत्कंठित हो और ठीक तरह से परिचर्या होती हो-- यह चार उपाय बराबर हों तो रोग दूर हो जाता है। मेरे रोग को दूर करने के लिए चारों उपाय काम में लाये जाते थे, फिर भी मेरा रोग शान्त नहीं हुआ। तभी मुझे प्रतीत हुआ कि यह सब अनाथ हैं और मैं भी अनाथ हूँ। वैद्य सनाथ होते तो मेरा रोग मिटा देते। परन्तु वे रोग को मिटा नहीं सके, अतएव वे अनाथ हैं और मैं भी अनाथ हूँ।

लोग समझते हैं कि दवा से रोग मिट जाता है, परन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं है। दवा रोगों को सिर्फ दबा देती है। वैज्ञानिकों का कथन है कि जितने डाक्टर बढ़े हैं उतने ही रोग भी बढ़े हैं और जितने वकील बढ़े हैं उतने ही झगडे बढ़े हैं। प्राचीन काल में इतने डाक्टर नहीं थे तो इतने रोग भी नहीं थे। पचास वर्ष

पहले भी यही बात थी। ऐसी स्थिति मे कैसे कहा जा सकता है कि डाक्टर रोग मिटाने वाले हैं।

लोग सच्ची दवा तो भूल गये हैं और व्यावहारिक भय के कारण खोटी दवा का उपयोग करना सीखे हैं, खान-पान पर अकुश रखना ही व्यावहारिक अच्छी दवा है। स्वास्थरक्षा के लिए यह जानना उपयोगी है कि किस समय क्या खाना-पीना चाहिए ?

एक पुस्तक मे कब खाना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर मैंने पढ़ा था—गरीबों को जब मिले तब खाना चाहिए और अमीरों को जब भूख लगे तब खाना चाहिए। बिना भूख लगे खाना रोग को आमत्रण देना है। फिर भी लोग तरह-तरह के आचार, मुरब्बे आदि किसलिए बनाते और खाते है ? इसीलिए तो कि भूख न लगी तो भी आचार आदि की सहायता से कुछ अधिक खाया जा सके। कड़कड़ाती भूख में तो रूखी-सूखी रोटी भी अच्छी लगती है। शायद तुम लोगों को इस बात का अनुभव न हो, परन्तु हम साधुओं को इसका अच्छा अनुभव है।

एक जगह हम २२ मील का विहार करके पहुँचे, कडकड़ाती भूख लगी थी। परन्तु वहाँ हमें डेढ रोटी और खट्टी छाछ ही मिली। मगर उस समय उसी रूखी रोटी और खट्टी छाछ में इतनी मिठास मालूम हुई कि कुछ न पूछिए।

इस प्रकार जब कड़कडाती भूख लगी होती है, तब रूखी-सूखी रोटी भी मीठी लगती है और भूख नहीं लगी होती तो जबर्दस्ती खाने के लिए आचार, चटनी और मुरब्बा आदि की सहायता लेनी पड़ती है। प्रायः लोग सच्ची भूख न लगने पर भी खाते हैं और

फिर अजीर्ण होने की फरियाद करते हैं। कदाचित् प्रकट रूप मे अजीर्णता न हो, परन्तु रोग का घर तो अजीर्णता ही है। अजीर्णता से रोग की उत्पत्ति होती है और फिर डाक्टर की शरण लेनी पड़ती है।

भगवान् महावीर नीरोग रहने के लिए महीने मे कम से कम छ उपवास करने की दवा बतलाते हैं। जो महीने मे छ उपवास करता रहेगा, उसे अजीर्ण नहीं होगा और बीमारी भी नहीं होगी। स्थानांगसूत्र में रोग उत्पन्न होने के नौ कारण बतलाये है, किन्तु लोग केवल वेदनीय कर्म का ही दोष निकालते हैं। वेदनीय कर्म का दोष निकालना और रोग के दूसरे कारणों पर विचार न करना उचित नहीं है। रोग की उत्पत्ति किन-किन कारणों से होती है, यह विषय बहुत लम्बा है। अतएव इस समय इस सबध मे कुछ न कहकर सिर्फ यही कहना बस होगा कि डाक्टर की शरण में जाना अपनी निज की दुर्बलता है।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्, सब प्रकार के उपचार करने पर भी मेरा रोग शान्त नहीं हुआ, यह मेरी अनाथता थी। जब किसी भी उपाय से रोग न मिटा तो मैं इस निश्चय पर पहुचा कि मैं वास्तव मे अनाथ हू। राजन्। मुझ पर जो बीती, उसे सुन कर तुम भी अपनी अनाथता को समझो और उसे दूर करने का प्रयत्न करो।

मुनि के समझाने पर सम्राट श्रेणिक ने अपने को अनाथ मान लिया था, परन्तु तुम अपने को अनाथ मानते हो या नहीं? जब तक अपनी अनाथता का भान नहीं हो जाता और उसे दूर करने

का प्रयत्न नहीं किया जाता, तब तक आत्मकल्याण भी नहीं किया जा सकता। अतएव अपने को अनाथ मानो। तुम मेरे मित्र हो। यह बुद्धिवाद का युग है। इस युग मे प्रत्येक बात बुद्धि की कसौटी पर कसी जाती है और तर्क द्वारा निर्णीत की जाती है। मेरे प्यारे मित्रों! तुम भी अनाथ मुनि के कथन की तर्क और बुद्धि द्वारा जॉच-पड़ताल करो और उनके अभिप्राय को समझ कर अपनी अनाथता दूर करो और सनाथ बनो।

मुनि कहते हैं—महाराज, मै इस शरीर का नाथ नहीं था। नाथ होता तो शरीर के द्वारा ही क्यों कष्ट पाता ? यही नहीं, यह शरीर मेरा नहीं था। मेरा होता तो मेरी इच्छा के अनुसार चलता और मुझे पीड़ा क्यों पहुचाता ? इस प्रकार विचार करने पर मैं इस निश्चय पर आया कि इस शरीर के कारण ही मैं भूतकाल मे दुःखों का पात्र बना हू, वर्त्तमान मे बन रहा हूँ और भविष्य में बनूँगा। ऐसा होने पर भी—

> वहमी भय माने यथा रे, सूने घर वैताल।
> त्यों मूरख आतम विषै रे, मान्या जग भ्रम जाल ॥

इस कथन के अनुसार भ्रम के कारण मैंने अनेक दु:ख बटोर लिये हैं।

वहम के कारण कैसे-कैसे भूत पैदा कर लिये जाते हैं, यह तो तुम्हें विदित ही है। शरीर को अपना मानना भी एक प्रकार का वहम ही है। दूसरे को सुख-दु:ख का दाता समझना भी भ्रम ही है। परन्तु—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ॥

सुख और दुःख देने वाला दूसरा कोई नहीं है । इस आत्मा द्वारा ही सुख दुःख की उत्पत्ति होती है ।

शरीर एक साधन या हथियार है । शरीर को कोई दुःख दे तो भी यह आत्मा दुखी नहीं हो सकती । इसके अतिरिक्त अगर शरीर से ही आत्मा को दुःख होता है तो ऐसा प्रयत्न क्यों नहीं करते कि आत्मा को शरीर मे आना ही न पडे । जब तक आत्मा शरीर के साथ है, तभी तक उसे दुःख होता है । शरीर का सबध छूट जाने पर किसी प्रकार के दुःख की उत्पत्ति नहीं हो सकती । एक उदाहरण लीजिए —

अग्नि पर किसी पात्र में पानी गर्म करने के लिए रक्खा जाता है, तो सन्-सन् की आवाज होती है । यह आवाज आपने सुनी होगी । सन्-सन् की आवाज करके पानी क्या कहता है ? इस सबध में एक कल्पना की जाती है । पानी कहता है—आग की क्या ताकत है कि मुझे सताप पहुचा सके ? मुझमे तो ऐसी शक्ति है कि अग्नि को बुझा दूँ, पर क्या करूं ? यह पात्र बीच में आड़ा आ गया है । इसी के कारण मुझे कष्ट भोगना पड़ रहा है । इस पात्र के बन्धन में पड गया हूँ और इसी से सताप पा रहा हूँ ।

ज्ञानी जन भी यही विचार करते है । जैसे पानी पात्र के सम्पर्क से संताप भोगता है, उसी प्रकार स्वभाव से दुःखहीन होने पर भी मेरी आत्मा शरीर के सम्पर्क के कारण दुःख का अनुभव कर रही है । कर्म चेतना और कर्मफलचेतना से ही आत्मा को कष्ट

सहन करने पड़ते हैं। फिर भी कर्म को दोष देने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा को स्वय सावधान होना चाहिए।

कल्पना करो, एक आदमी अंधे की तरह, आँखें बंद करके जा रहा था। रास्ते मे एक खभे के साथ उसका सिर टकराया—सिर फूट गया। वह क्रुद्ध होकर खंभे को मारने लगा। अगर आप उसे मारते देखें तो कहेंगे, यही न कि इसमे खभे का क्या अपराध है ? वह तो जड़ है। तुम्हें स्वय सावधानी रखनी चाहिए थी।

इसी प्रकार कर्म भी जड़ है। अतएव कर्मों को दोष देने से क्या लाभ ? कर्म चेतना और कर्मफलचेतना को भिन्न मान कर आत्मा का विवेक करो तो दु ख ही नहीं रह जायगा।

मुनि कहते हैं—राजन् ! मेरे शरीर मे असह्य वेदना होने लगी और मैं तडफने लगा। मेरे पिताजी से मेरा दु ख देखा न गया। वह कहने लगे-मेरा बेटा तो बहुत सहनशील है, परन्तु अत्यधिक वेदना होने के कारण वह सहन नहीं कर सकता। इसी से यह तड़फ रहा है। बेटा, धीरज धर, अभी वेदना मिट जायगी। पिताजी बार-बार यही कहते थे।

पिया मे सव्वसारं पि, दिज्जा हि मम कारणा।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया॥ २४॥

अर्थ—मेरे पिता मेरे लिए—मुझे दु ख से बचाने के लिए सर्वस्व देने को तैयार थे; फिर भी वे मुझे दु.ख से नहीं बचा सके। यह मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान—आजकल पैसा बडा समझा जाता है। प्राय: सभी आज पैसे के साथ मित्रता जोडते है। कहावत चल पडी है—

मात कहे मेरा पूत सपूता, बहिन कहे मेरा भैया।
घर की जोरू यों कहे, सब से बड़ा रुपैया॥

यहां तक सुना जाता है कि पैसे के लिए पिता ने पुत्र का या पुत्र ने पिता का खून कर डाला। कई लोग तो पुत्र का अर्थ ही यह करते हैं कि जो कमाई करके देवे वही पुत्र है। ऐसी दशा मे पुत्र बडा हुआ या पैसा ?

अनाथी मुनि कहते हैं—मेरे पिता ऐसे नहीं थे। वे पुत्र के सामने पैसे को महत्त्व नहीं देते थे। वैद्य मेरे शरीर की जॉच करने आये तो पिता ने कहा—मेरे पुत्र को स्वस्थ और तन्दुरुस्त कर दो तो मैं अपना सर्वस्व दे देने को भी तैयार हूँ। मै घर की सब सारभूत वस्तुएँ तुम्हें देने और खाली हाथ घर से बाहर निकल जाने को तैयार हूँ, मगर किसी भी उपाय से मेरे बेटे को ठीक कर दो।

वास्तव मे 'पाति-रक्षतीसि पिता', अर्थात् जो रक्षण करे, पालन पोषण करे वही पिता है। इसी प्रकार पुत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'पुनातीति पुत्र' अर्थात् जो पवित्र करो सो पुत्र। इस व्याख्या का अर्थ यह नहीं कि मरने के बाद पुत्र स्वर्ग मे पहुचा देगा। ऐसा अर्थ तो किसी स्वार्थी ने किया होगा।

मुनि का कथन है कि—मेरे पिता, पिता-पुत्र के सबध को भलीभॉति जानते थे। इसी कारण वे वैद्यों को बार-बार कहते थे कि मॉगों सो देने को तैयार हूँ, पर मेरे लाड़ले को स्वस्थ कर दो।

इस प्रलोभन से वैद्य अत्यन्त सावधानी के साथ मेरी दवा करने लगे, पर मेरा रोग शान्त नहीं हुआ। यह मेरी अनाथता थी। पिता मुझे अपना समझते थे और मै पिता को अपना समझता था; पर वास्तव मे मैं उनका न था और वे मेरे न थे। इसी कारण वे मुझे रोगमुक्त न कर सके और मैं उन्हे चिन्तामुक्त न कर सका। जैसे मैं अनाथ था, उसी प्रकार वे भी अनाथ थे।

अनुयोगद्वारसूत्र मे दिये हुए उदाहरण का आशय यह है—

पान झरंता देखकर, हँसी जो कू परियाँ।
मोय बीती तोय बीतसी, धीरी बापरियाँ॥

पत्ते पक कर गिरने लगते है, तब कौंपलें फूटती है। तो पत्ते को गिरते देख कौंपलें हँसने लगीं और कहने लगीं—बस, चल दिये। अब इस वृक्ष पर हमारा राज्य होगा; हम मौज करेंगी। यह सुनकर पत्ते ने उत्तर दिया–धीरज रक्खो। तुम्हारे लिए भी ऐसा ही एक दिन आएगा। उस दिन तुम्हारा भी पतन हो जाएगा।

राजन्। क्या दूसरों की भी ऐसी दशा न होती होगी? सभी को यह दशा भोगनी पडेगी। यह तो साधारण नियम है। रोग सब को होता है, परन्तु कोई किसी का रोग ले नहीं सकता। मेरे पिता ने मेरा दुख दूर करने का प्रयत्न किया, पर वे कृतकार्य न हो सके। मैं उनकी चिन्ता दूर करना चाहता था, पर मैं भी उन्हें चिन्तामुक्त न कर सका। कारण यही कि मैं भी अनाथ और वह भी अनाथ थे। मुझे विचार आया—मैं अनाथता के कारण अनन्त काल से वेदना भोग रहा हूँ। अतएव इसी को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह विचार करके मैंने अनाथता- का

परित्याग किया।

जो द्रव्य को भूल कर पर्याय में ही पड़ा रहता है, वह अनाथ है, और जो पर्याय को गौण मानकर द्रव्य को प्रधान रूप में देखता है, वह सनाथ है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए मुनि स्वानुभव की बात कहते हैं कि मेरा रोग-निवारण करने के लिए पिता सर्वस्व देने को तैयार थे फिर भी वे सफल न हो सके।

कथानकों में अनाथी मुनि के पिता को इब्भ सेठ कहा गया है, ऐसा सुना जाता है। इब्भ सेठ का वर्णन इस प्रकार है—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ के भेद से इब्भ (इभ्य) सेठ तीन प्रकार के होते हैं। जिनके पास हाथी को रुपयों से ढँक देने जितना धन हो, वह कनिष्ठ इब्भ सेठ कहलाता है। स्वर्णमोहरों से ढँक दे सकने वाला मध्यम और जिसके पास इतने रत्न हों कि हाथी भी ढँक जाय, वह उत्तम इब्भ सेठ कहलाता है। अनाथ मुनि के पिता ५७ इभ्यों के धनी थे। इतनी विपुल सम्पत्ति उनके पास थी और रोग मुक्त करने वाले को वह अपनी समस्त सम्पत्ति देने को तैयार थे। परन्तु उनके पुत्र को कोई नीरोग न कर सका।

मुनि बोले—राजन्! सम्पत्ति होने के कारण तुम अपने को सनाथ मानते हो, परन्तु मेरे यहाँ क्या कमी थी? सम्पत्ति की कमी न होने पर भी मैं अनाथ था तो सम्पत्ति के कारण तुम सनाथ कैसे हो सकते हो? और जब तुम अपने ही नाथ नहीं तो पर के नाथ कैसे बन सकते हो?

माया मे महाराय! पुत्तसोग दुहट्टिया।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया॥ २५॥

का कारण है।

उनका यह कथन कितना भ्रामक, कितना अनुचित और कितना शास्त्र विरुद्ध है, यह समझने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए —

एक माता ने अपने पुत्र से कहा—बेटा, तू अब पढ़-लिख कर होशियार हो गया है। मैं यह आशा लगाये बैठी थी कि तू मेरी सेवा करेगा, परन्तु तू तो उलटा दुःख दे रहा है। तुझे मालूम है कि मैंने तेरे लिए कितने दुःख सहन किये हैं और किस तरह पाल-पोस कर बडा किया है। तू तो इन उपकारों को भूल ही गया जान पडता है।

माता का कथन सुनकर पुत्र बोला—बस, बहुत हो चुका। ज्यादा बकवाद न करो। तुमने मेरा क्या उपकार कर दिया है। उलटा मैंने तुम्हारा उपकार किया है। मेरा जन्म नहीं हुआ था तो तुम कितनी उदास रहती थीं। मेरे लिए कितनी तरसती थीं। मैं पेट मे आया तो तुम्हे प्रसन्नता हुई। मेरे जन्म से तुम्हारा बन्ध्यापन दूर हो गया। इस प्रकार तुमने मेरा नहीं, मैंने तुम्हारा उपकार किया है।

दूध के पैसे ले लो।

माता—दूध के तो पैसे देने को तैयार है, मगर नौ महीना पेट मे रक्खा सो ? यह उपकार भी तू भूल जायगा ?

पुत्र—तुमने मुझे पेट मे रक्खा, यह सोचना ही तुम्हारी भूल है। मैंने स्वय पेट मे जगह बना ली थी। इसमे तुम्हारा कोई उपकार नहीं। फिर भी एहसान जतलाती हो तो उसका भाडा ले लो। और क्या करोगी ?

माँ सीधी सादी थी। उसने सोचा—छोकरा बिगड गया है। यों माथा-पच्ची करने से कोई लाभ नहीं होगा। इसे गुरुजी के पास ले जाने से ही काम चलेगा।

यह सोचकर उसने लड़के से कहा—चल, हम गुरु महाराज के पास चलें और उन्हीं से निर्णय करावें। वह कह देंगे कि पुत्र का माता पिता पर उपकार है तो मैं तेरा जुल्म सहन कर ही रही हूँ और आगे भी सह लूँगी। परन्तु यदि वे कहेंगे कि पुत्र पर माता-पिता का उपकार है तो तुझे उनका कथन स्वीकार करना पडेगा।

पुत्र ने यह बात मान ली और गुरु के पास जाना स्वीकार कर लिया। उसे विश्वास था कि माता-पिता आदि कोई किसी को दु'ख से मुक्त नहीं कर सकते। गुरुजी भी यही कहेंगे। यही सोच-कर वह गुरुजी के पास जाने को तैयार हो गया।

कदाचित् कोई खोटे गुरु मिल गये होते तो माता की कम्बख्ती हो जाती और लडका माता के सिर चढ़ बैठता, किन्तु वह गुरु भगवान् महावीर के शास्त्रों के ज्ञाता थे।

माता ने गुरु को सब बातें समझा कर कहा—महाराज, माता-पिता

सकता कि वह माता-पिता के उपकार से मुक्त हो गया । माता-पिता के ऋण से मुक्त होने के लिए अनाथ मुनि का चरित्र देखना चाहिए।

माता-पिता बालक की बहुत सार-सभाल रखते है, फिर भी कितनेक बालक मर जाते है। माता पिता नही चाहते कि हमारा बालक मर जाय, फिर भी मर जाता है। इससे यही प्रतीत होता है कि निमित्त कितना ही अच्छा क्यों न हो, जब तक उपादान अच्छा नहीं होता तब तक कुछ भी नहीं हो सकता।

निश्चय की बात न्यारी है। जब तक हम व्यवहार मे हैं तब तक व्यवहार की बात भूलना नहीं चाहिए। स्त्री और पुत्र का मोह तो छूटा नहीं है, सिर्फ माता-पिता के विषय मे कहना कि माता-पिता दुःख मुक्त नहीं कर सकते, अतएव उनकी सेवा करना वृथा है, यह अत्यन्त अनुचित है। पर आज कल तो यह हालत हो रही है —

बेटा झगड़त बाप सौं, कर तिरिया से नेहूँ।
बढाबढी से कहत हों, मोहि जुदा कर देहू ॥
मोहिं जुदा कर देहू चीज सब घर की मेरी,
केती करूँ खराब अकल बिगरेगी तेरी ॥
कह गिरधर कविराय सुनो हो सज्जन मित्ता,
समय पलटतो जाय बाप सौं झगड़त बेटा ॥

इस प्रकार पुत्र माता-पिता के साथ झगडा कर रहे हैं, परन्तु यह अनुचित है।

अब प्रश्न यह है कि इतनी सेवा करने पर भी अगर पुत्र ऋणमुक्त नहीं हो सकता तो किस प्रकार हो सकता है ? इस प्रश्न

का उत्तर यह है कि उपादान को सुधारने से ही ऋणमुक्त हो सकता है। जिस धर्म के कारण तुम्हारे माता-पिता का तुम्हारे साथ पिता-पुत्र का सम्बन्ध हुआ है और जिस धर्म के कारण उन्होंने तुम्हारा पालन-पोषण किया है, उस धर्म को दृढ करना, उसका बराबर पालन करना, उस धर्म के द्वारा आत्मा का सुधार करना और इस प्रकार उपादान का सुधार करना। इस प्रकार उपादान को सुधारने से ही ऋणमुक्त हो सकते हो।

साराश यह है कि निश्चयदृष्टि से तो माता-पिता पुत्र के और पुत्र माता-पिता के नाथ बनने मे समर्थ नहीं है, किन्तु यह तभी कहा जा सकता है और वही कह सकता है जो मुनि की तरह ससार का त्याग कर दे। पत्नी पुत्र का त्याग नहीं किया और सिर्फ माता-पिता का त्याग कर देना घोर अन्याय है।

यह तो पुत्र के कर्त्तव्य की बात हुई। माता-पिता का क्या कर्त्तव्य है, यह भी समझना चाहिए। माता पिता को सोचना चाहिए कि पुत्र कैसा ही कपूत क्यों न हो, हमे तो अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिए। क्योंकि हमारा धर्म ही हमारे साथ रहेगा। ऐसा सोचकर माता-पिता अपने धर्म पर स्थिर रहेगे तो पुत्र भी आखिर सन्मार्ग पर आ जायगा। जैसी बेल होती है वैसे ही फल लगते है। दर असल पुत्र को बिगाड़ने वाले या सुधारने वाले माँ-बाप ही है। सन्तति को सुधारने के लिए माता-पिता को पहले सुधरना चाहिए। माता-पिता सुधरेंगे तो उनकी सन्तति भी सुधरेगी।

भायरो मे महाराय । सगा जिठ्ठकणिट्ठगा ।
न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥

अर्थ— राजन । मेरे छोटे और वडे सगे भाई भी थे; किन्तु वे भी मुझे दु ख से वचाने मे समर्थ नहीं हो सके। यह मेरी अनाथता थी ।

व्याख्यान — मुनि ने माता-पिता की तरफ से अपनी अनाथता का वर्णन किया। अव वह भाइयों की विद्यमानता मे भी अपनी अनाथता प्रकट कर रहे है। मुनि कहते है— महाराज । ससार मे सच्चे भाइयों का मिलना अत्यन्त कठिन है। जो धन-वैभव को ही महत्वपूर्ण मानते है, उनकी दृष्टि मे तो भाई वैरी के समान दिखाई देते है। वह सोचते है— भाई जव माता के पेट मे आया तो मुझे माता के दूध से वंचित किया, जनमा तो माता-पिता के स्नेह मे हिस्सेदार वन गया और वडा हुआ तो धन का भी भागीदार वन गया।

इस विचारधारा के लोग भाई को भी वैरी समझते है, परन्तु राजन् । मेरे भाई ऐसे नहीं थे कि मुझे शत्रु समझें। वे अपने प्राण देकर भी मेरी रक्षा करने को तैयार थे। हम लोग राम और लक्ष्मण तथा भगवान् महावीर एव नन्दिवर्धन के समान सच्चे भाई थे।

कैकेयी के सन्तोष के लिए राम वन जाने को तैयार हुए और लक्ष्मण को उस काण्ड का समाचार मिला तो वह अत्यन्त कुपित हुए। लक्ष्मण के क्रोध को देखकर राम ने कहा—तू भाई का गौरव बढाना चाहता अथवा घटाना चाहता है? यह सुनकर लक्ष्मण

शान्त हो गये और कहने लगे--आपकी जो आज्ञा होगी वही करूँगा, परन्तु मैं चाहता हूँ कि मुझे आपका विछोह न देखना पड़े—मैं आपकी सेवा मे ही रहूँ।

राम ने कहा—तू मेरे साथ चलेगा तो माता-पिता को कितना दुःख होगा ? इसके अतिरिक्त मेरे साथ चलने का आग्रह क्यों करता है ? क्या मैं कायर हूँ ? तू यहीं रहकर भाई भरत की सहायता कर। मेरे साथ चलने की आवश्यकता नहीं।

लक्ष्मण ने उत्तर दिया--माता पिता की सेवा करने वाले यहाँ बहुत है। मै तो आपके साथ ही चलूँगा। आप वन मे जाएँ और मैं राजभवन मे मौज उडाऊँ, यह नहीं होने का।

राम समझ गये कि लक्ष्मण साथ चले बिना नही मानेगा। तब उन्होंने कहा—अच्छा, तू माता की अनुमति ले आ, फिर साथ चलना।

यह सुनकर लक्ष्मण प्रसन्न हुए। परन्तु साथ ही उन्हें विचार आया—पुत्र स्नेह के कारण कौन जाने माता अनुमति देगी या नहीं ? माता ने अनुमति दी तो राम भी साथ नही ले जाएंगे। यह विचार कर लक्ष्मण परमात्मा से प्रार्थना करने लगे—प्रभो। मेरी माता को ऐसी सद्‌बुद्धि सूझे कि वह मुझे राम के साथ वन मे जाने की स्वीकृति दे दे।

लक्ष्मण अपनी माता सुमित्रा के पास गये। सुमित्रा मे पुत्रस्नेह की विमल धारा प्रवाहित हो रही थी, फिर भी उन्होंने लक्ष्मण से जो कुछ कहा उसका जैन रामायण मे बडा ही सुन्दर वर्णन दिया गया है। कहा है--

वत्स सुवत्स बुद्धि तारी, भला मनो तुझ माय,
तात राम करी लेखवो, कहे सुमित्रा माय ॥

सुमित्रा कहती है—वत्स, तूने राम के साथ वन में जाने का जो विचार किया है, वह अतीव उत्तम विचार है। राम को पिता और सीता को माता की तरह समझना। उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो, इस बात का पूरा पूरा खयाल रखना और बराबर उनकी सेवा करना। तेरे भाग्य से ही राम वन जा रहे हैं। इसी से तुझे सेवा करने का ऐसा शुभ अवसर मिल रहा है।

लक्ष्मण जैसे भाई और सुमित्रा जैसी माता का मिलना कठिन है। सुमित्रा कहती है—'हे पुत्र। तेरे भाग्य से ही राम वन में जा रहे हैं। अतएव तू भी जा, विलम्ब मत कर। अन्यथा राम वन चल देंगे और तू यहीं रह जायगा।'

माता का यह कथन सुनकर लक्ष्मण को कितनी प्रसन्नता हुई होगी? भूखे को भोजन और प्यासे को पानी मिलने से जो आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द लक्ष्मण को हुआ। वह राम के साथ वन में गये और अनन्य भाव से राम एवं सीता की सेवा करते रहे।

मुनि कहते हैं—मेरे भाई स्वार्थी नहीं थे, किन्तु मुझे रोग मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। वे सदैव मेरे विषय में चिन्ता करते रहते थे कि मेरे भाई का दु:ख कैसे दूर हो? यह रोगमुक्त किस प्रकार हो? हमें तभी आनन्द होगा, जब हमारे भाई का रोग दूर होगा। भले कोई यह सारी सम्पत्ति ले ले किन्तु हमारे भाई को स्वस्थ कर दे। इस प्रकार मेरे भाई मुझे रोगमुक्त करने

के लिए यत्नशील थे, फिर भी वह रोगमुक्त करने में समर्थ न हो सके। यही मेरी अनाथता थी।

अनाथी मुनि जो कुछ कह रहे है, उस पर आप लोग भी विचार करो। जब अनाथी मुनि के भाई उन्हे नीरोग न कर सके तो क्या तुम अपने भाई का दुःख दूर कर सकते हो ? नहीं, तो फिर जैसे श्रेणिक अपने आपको अनाथ मानने लगा, उसी प्रकार तुम भी अपने को अनाथ क्यों नहीं मानते ? माता, पिता, भाई आदि के तुम नाथ नहीं हो, उसी प्रकार वे भी तुम्हारे नाथ नहीं है। अतएव तुम स्वय अपने नाथ बनो। तुम अपनी आत्मा के नाथ आप बन जाओगे तो अखिल ससार तुम्हारे पैरों मे पडेगा। अनाथ मुनि अपने नाथ बने तो राजा श्रेणिक भी उनके चरणों मे गिरा। राजा श्रेणिक किसी के भय से पैरों मे गिरने वाला नहीं था, परन्तु जो अपनी आत्मा के नाथ बने थे, उन सनाथ बने हुए अनाथ मुनि के पैरों मे गिरते श्रेणिक को तनिक भी सकोच नहीं हुआ।

तुम अपनी आत्मा के नाथ बनो। मै यह नहीं कहता कि आज ही घर-द्वार छोड दो, परन्तु 'मुझे अनाथता त्याग कर नाथ बनना है' ऐसी भावना तो आपके अन्त करण मे होनी ही चाहिए। इस प्रकार सनाथ बनने की भावना होगी तो किसी दिन सनाथ बन भी जाओगे।

ससार मे, जो लोग दुर्बल होते है, उन्हीं के सिर दुःख पडते है। बलवानों से दुःख दूर रहते है। देखो, माताजी को बेचारे बकरे का ही बलिदान दिया जाता है, सिह की बलि कोई नहीं

देता। कारण यही कि बकरी तो कान पकड कर बलिवेदी पर ले जाई जाती है, पर सिंह तो पकडने वाले को ही खा जाता है। अतएव अनाथ मुनि का कथन ध्यान मे रक्खो और अपने आपको सबल एव सनाथ बनाओ।

भइणिओ मे महाराय, सगा जिट्ठकणिट्ठगा।

न य दुक्खा विमोयन्ति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २७ ॥

अर्थ — महाराज। मेरी छोटी और बडी सगी बहिनें भी थीं, किन्तु वे भी मुझे दु ख से मुक्त करने मे समर्थ नहीं हो सकीं। यह मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान —अनाथ मुनि आगे कहते हैं— राजन्। मेरी छोटी और बडी सहोदर भगिनियाँ भी थीं। साधारणतया ससार की किसी भी स्त्री को बहिन कहा जा सकता है, परन्तु वह धर्म के संबन्ध से बहिन कहलाती हैं। उन्हें सगी बहिन नहीं कह सकते। मेरी सगी बहिनों ने भी मेरे रोग को दूर करने के सभी शक्य प्रयत्न किये, किन्तु वे भी सफल न हो सकीं।

यहाँ एक प्रश्न खडा हो सकता है कि जब माता, पिता और भाई भी दु ख से न बचा सके तो फिर बेचारी बहिनों की क्या चलाई ? जहाँ सूर्य का प्रकाश भी काम न दे सकता हो, वहाँ दीपक का प्रकाश क्या काम देगा ? फिर बहिनों का अलग उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ससार में ऐसी विचित्रता देखी जाती है कि कभी कभी जो काम बडों से नहीं होता, वह छोटों से हो जाता है। जहाँ सूर्य का प्रकाश

काम नहीं देता, वहां दीपक का प्रकाश भी उपयोगी सिद्ध होता है। मेरे खयाल से ससार की यही विचित्रता बतलाने के लिए बहिनों का वर्णन किया गया है।

भाई का भाई के साथ जैसा संबन्ध है, वैसा ही बहिन के साथ भी है। ऐसी स्थिति होने पर भी कुछ लोग पुत्र के जन्म से तो प्रसन्न होते हैं, किन्तु पुत्री के जन्म से दु ख अनुभव करते हैं। इससे भी अधिक दु ख की बात यह है कि कतिपय श्राविका कहलाने वाली बहिनें भी पुत्र का जन्म होने पर जापे मे उसकी पूरी-पूरी सभाल करती है, किन्तु पुत्री का जन्म हो तो उपेक्षा का भाव धारण करती है। पुत्र और पुत्री मे इस प्रकार का भेद करना क्या उचित कहा जा सकता है ? अनार्य कहलाने वाले यूरोपवासी भी इस प्रकार का भेदभाव नहीं रखते। और तुम आर्य तथा श्रावक-श्राविका कहलाते हुए भी यह जघन्य भेदभाव रखते हो। यह उचित नहीं है। माता या पिता होने के नाते तुम्हें पुत्र और पुत्री पर समभाव रखना चाहिए, लेश मात्र भी पक्षपात नहीं करना चाहिए। पुत्र और पुत्री दोनों के सहकार से ही यह ससार चल रहा है। ससार रूपी गाडी के यह दोनों दो चक्र हैं। इन्हीं दो चक्रों के आधार पर ससार की गाडी चल रही है।

ससार की इस विचित्रता को बतलाने के लिए ही शास्त्रकारों ने बहिनों का पक्ष लिया है। इसके अतिरिक्त बहिनों के उल्लेख करने का एक कारण यह दिखलाना भी हो सकता है कि उनका घर भरा पूरा था। उसमे खटकने वाला किसी प्रकार का अभाव नहीं था।

अनाथ मुनि ने भाई-वहिनों के सम्बन्ध का परित्याग कर दिया था, फिर भी वह उस सम्बन्ध को पूर्वभाव से स्वीकार करके कहते है--जितना प्रयत्न माता, पिता और भाइयों ने किया था, उतना ही प्रयत्न वहिनों ने भी किया था।

आजकल कई लोग कहने लगे है--हमे न पुत्रकी आवश्यकता है और न पुत्री की ही। जनसख्या वहुत वढ गई है, अतएव हम तो सन्ततिनियमन का प्रयत्न करते है। किन्तु विचारणीय वात तो यह है कि सन्तान की वृद्धि हुई क्यों ? तुम्हारी विपय-वासना की वृद्धि के कारण ही सन्तति की वृद्धि हुई है। अव अगर आपको सन्तान की आवश्यकता नहीं है तो विपयवासना का त्याग क्यों नहीं करते ? विपय सेवन का त्याग न करना और कृत्रिम उपायों द्वारा सन्ततिनियमन करना अनुचित है। यह घोर दुष्कर्म है और इसके परिणाम का विचार करने से वडा दु'ख होता है। भारत की जनता में कृत्रिम उपायों से सततिनिरोध का भूत कहां से घुस पडा ? सयम का आदर्श कैसे भुला दिया गया ? सततिनिरोध का सच्चा उपाय सयम ही है। इस आदर्श उपाय को छोड कर स्वच्छदता के मार्ग पर जाने से विपयवासना घटने के वदले वढेगी। स्त्री पुरुपों का मन काम वासना से रग जाएगा और वीर्य का पानी की तरह दुरुपयोग होने के परिणाम स्वरूप निर्वलता आ जायगी।

वीर्य मनुष्य का जीवन-सत्व है। वीर्य का ह्रास होने से मनुष्य-जीवन का ह्रास होता है। जो वीर्य मानवजीवन का सत्व गिना जाता है, उसका पानी की ताईं दुरुपयोग करने से बढ कर दु ख की बात और क्या हो सकती है ? अतएव सन्तान की वृद्धि

विषय-भोग की वृद्धि का परिणाम है, यह स्वीकार करो और उसका नियत्रण करने के लिए सयम के मार्ग को ग्रहण करो। सयम के मार्ग को ग्रहण करने से सन्तति का निरोध भी होगा और मनुष्य सबल हो कर अपना कल्याण भी कर सकेगा। तीर्थङ्कर देव स्वय कह गये है कि यद्यपि हमारा जन्म माता पिता के रज-वीर्य से हुआ है, फिर भी आत्मा का कल्याण तो ब्रह्मचर्य से ही होता है।

तीर्थङ्कर देव के इस कथन पर गभीर विचार करो और ब्रह्मचर्य को आदर्श मानकर सन्ततिनिरोध के लिए सयम का मार्ग ग्रहण करो। कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तति का निरोध करना सच्चा उपाय नहीं है। यह उपाय तो आत्मा को पतन के मार्ग पर ले जाने वाला और आत्मा का अहित करने वाला है। जैन समाज और भारतीय जनता इस उन्मार्ग पर न चले तो अच्छा है, अन्यथा इसका परिणाम भयकर है।

अभिप्राय यह है कि सन्तति के रूप मे पुत्र और पुत्री दोनों ही हैं। दोनों के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। परिवार मे दोनों का स्थान समान है। यह प्रकट करने के लिए मुनि ने अपनी बहिनों का भी उल्लेख किया है।

मुनि कहते है—राजन्, मेरी बहिनें भी थीं। उन्होंने भी माता-पिता तथा भाइयों की तरह मेरे रोगनिवारण के लिए अनेक प्रयत्न किये, परन्तु वे सफल न हो सकीं। ऐसी मेरी अनाथता थी।

राजन्, बहिनों से कुछ न लेकर उन्हे देना चाहिए। यह भाई का धर्म है। परन्तु मेरी बहिनें मेरे दु ख से दुखी रहती थीं। मैं अपनी बहिनों को कुछ देकर सुखी बनाऊँ, यह मेरा कर्त्तव्य था,

किन्तु मै स्वय दुखी था। इस कारण मैं उसे सुखी न बना सका। अपने शरीर की इतनी अधिक विवशता देखकर मुझे भान हुआ कि वास्तव मे यह शरीर ही दु ख का कारण है। इस शरीर से मुक्त हो कर ही मै सुखी हो सकता हूँ। मेरे दु'ख को दूसरा कोई भी नही मिटा सकता। मैं स्वय ही अपना दु ख दूर कर सकूंगा।

मुनि के इस कथन पर जरा विचार करो। तुम्हारे दु ख को भी दूसरा कोई दूर नहीं कर सकता। तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारे दु ख को दूर करने मे समर्थ हो सकती है। अतएव अपनी आत्मा की शक्तियों की ओर ही देखो और आत्मा को समर्थ तथा सावधान बनाओ।

आत्मा दूसरो की शरण मे जाने के कारण ही अनाथ बन गया है। अगर वह अपनी चित्‌शक्ति और ज्ञानशक्ति का विकास करे तो अनाथता को दूर करके सनाथ बन सकता है। आत्मिक शक्ति का विकास करने के लिए हृदयमन्थन की आवश्यकया है।

भारिया मे महाराय ! अणुरत्तमणुव्वया।
अंसु पुण्णेहिं नयणेहिं, उरं मे परिसिंचइ ॥ २८ ॥
अन्नं पाणं च ण्हाणं च, गंधमल्लविलेवणं।
मए नायमणायं वा, सा बाला नोवभुञ्जइ ॥ २९ ॥
खणं पि मे महाराय ! पासाओ मे न फिट्टइ।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ ३० ॥

अर्थ—महाराजा, मेरी पत्नी पतिव्रता थी और मुझ पर अनुरक्त थी। वह मेरी दशा देखकर अपनी आँखों के आँसुओं से

मेरे हृदय का सिंचन किया करती थी। अर्थात् रोती रहती थी।

उस नवयुवती ने अन्न खाना, पानी पीना, केसर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेपन करना एव शृगार करना छोड दिया। मुझे दिखलाने के लिए ही उसने ऐसा नहीं किया, वरन् मेरे परोक्ष मे—अनजान से भी वह इन सब का सेवन नही करती थी।

मेरी पत्नी क्षण भर के लिए भी मेरे पास से अलग नहीं होती थी। फिर भी वह मुझे दुखमुक्त न कर सकी। यह मेरी अनाथता थी।

व्याख्यान —ससार मे स्त्री का सबध बहुत निकट का माना जाता है। और स्त्री सुख का साधन समझी जाती है, परन्तु अनाथ मुनि कहते है—मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। यह कोई सुनी-सुनाई बात नहीं, अ ाने ही जोवन की अनुभव की हुई है।

महाराज, आप कहते है कि मेरे राज्य मे चलो। मै सुन्दरियों के साथ तुम्हारा विवाह करा दूँगा, और जिस अनाथता के कारण सयम लेना पडा, वह अनाथता दूर हो जायगी। किन्तु इस कथन के उत्तर मे मेरी बात सुनिए —

मेरी पत्नी पतिव्रता थी। वह मेरे सुख मे सुखी और दुख मे दुखी रहती थी। मेरा दुख देखकर वह सदा रोया करती और अपने आसुओं से मेरे हृदय को आर्द्र िया करती थी। मुझे दुख मे देखकर उसने खाना-पीना त्याग दिया था, स्नान और सुगंधित द्रव्यों का लेप करना भी छोड दिया था। वह सिंगार भी नहीं करती थी। यह बात नहीं थी कि मुझे प्रसन्न करने के लिए या कुलटाओं की तरह ऊपर से पतिभक्ति का प्रदर्शन करने के लिए

मेरे सामने वह खान पान आदि का उपभोग न करती हो और परोक्ष मे मौज उडाती हो, किन्तु वास्तव मे ही वह मेरे दुख से दुखित थी और प्रत्यक्ष या परोक्ष मे इन वस्तुओं का उपभोग नहीं करती थी। इसके अतिरिक्त मेरी पत्नी एक क्षण के लिए भी मुझसे विलग नहीं होती थी। फिर भी वह मुझे दुख मुक्त न कर सकी। यह मेरी अनाथता थी।

जैसे तीव्र वेदना के कारण मुझे निद्रा नहीं आती थी, उसी प्रकार मेरे दुख के कारण मेरी पत्नी को निद्रा नहीं आती थी। वह मन ही मन सोचती थी कि मै पति की अर्धांगना हूँ। पति कष्ट भोग रहे हैं तो उनका अर्धांग सुखी कैसे रह सकता है ? इस प्रकार के विचार से वह दुखी रहती थी। जैसे काच के सामने कोई वस्तु रक्खी जाय तो उसका प्रतिविम्ब काच मे ज्यों का त्यों दिखलाई पडता है, उसी प्रकार मेरे दुख की छाया उसके चेहरे पर प्रति-विम्बित हो रही थी। ऐसी सुशीला और पतिव्रता पत्नी भी मुझे दुख से मुक्त करने मे समर्थ न हो सकी। यह मेरी अनाथता थी।

एक प्रश्न उपस्थित होता है—माता पिता, भाई बहिन और पत्नी आदि के द्वारा समस्त शक्य प्रयत्न करने पर भी अनाथ मुनि का रोग शान्त नहीं हुआ, यह अच्छा हुआ या खराब ? ऊपरी दृष्टि से देखने वाले लोग तो यही कहेंगे कि अनाथ मुनि को तीव्र असाता-वेदनीय कर्म का उदय होने से रोग उपशान्त नहीं हुआ होगा; परन्तु मुनि के कथन पर विचार करने से प्रतीत होगा कि उनका रोग शान्त न होना भी एक दृष्टि से अच्छा ही हुआ। मुनि कहते है—कदाचित् पत्नी के प्रयत्न से मेरा रोग मिट गया होता तो मैं उसका

गुलाम हो गया होता। मैं उसी को अपनी स्वामिनी मान लेता। किन्तु दुःख, सुख के लिए ही होता है। इस कारण मेरा रोग शान्त न हुआ, यह अच्छा ही हुआ। सब लोग दुःख को अनिष्ट समझते हैं पर मेरे लिए तो दुःख भी इष्ट मित्र के समान सहायक सिद्ध हुआ।

ज्ञानी जन कहते है —

सुख के माथे शिला पड़ो, जो प्रभु से दूर ले जाय।
बलिहारी उस दुःख की, जो प्रभु से देत मिलाय॥

वह सुख किस काम का जो परमात्मा से दूर रखता है ? दुःख को ही बलिहारी है जो प्रभु के पास ले जाता है। मनुष्य के सिर पर दुःख का भार न होता तो वह न जाने क्या क्या करता। कितना ऊधम मचाता, कितनी उछल-कूद करता।

आज ससार मे जो बुराइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनके मूल कारण पर विचार किया जाय तो विदित होगा कि उत्पादक और प्रचारक सुखी लोग ही है। सुखी लोग जितना प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करते है, उतना पशु-पक्षी भी नहीं करते। सुखी लोग ही प्रायः दुर्व्यसनों के शिकार होते है और मर्यादा का उल्लघन करते हैं और हानिकारक वस्तुओं को अपनाते है। उदाहरण के लिए बीड़ी ही को लीजिए। बीड़ी पीना क्या लाभदायक है ? वह धर्म-कर्म की भी हानि करती है और शरीर-स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचाती है। इसी प्रकार खान-पान और पोशाक के विषय मे विचार किया जाय तो अनेक बुराइयों के उत्पादक और प्रचारक सुखी लोग ही मिलेंगे। इस दृष्टि से विचार करने पर कथित सुख बुराइयों

को उत्पन्न करने का कारण प्रतीत होता है।

इसी हेतु अनाथ मुनि कहते हैं—मेरे रोग का शान्त न होना अच्छा ही रहा। हे राजन्! अपनी पत्नी की ओर से मैं तो अनाथ था ही, परन्तु वह भी मेरी ओर से अनाथ थी। मैं अपनी पत्नी का दुःख दूर नहीं कर सकता था और पत्नी मेरा दुःख दूर नहीं कर सकती थी। वह भी अनाथ थी और मैं भी अनाथ था।

अनाथी मुनि के इस कथन से स्पष्ट है कि भले किसी को पतिपरायणा, पतिव्रता एवं सुशीला पत्नी मिली हो, किन्तु वह उसे सनाथ नहीं बना सकती। इसी प्रकार वह भी अपनी पत्नी को सनाथ नहीं बना सकता। भक्त जन इस बात को भलीभांति जानते हैं और कहते हैं—

> मैं प्रभु पतितपावन सुने।
>
> हौं पतित तुम पतितपावन, उभय बानक बने॥

भक्त जन अपनी अनाथावस्था को पतितावस्था का नाम देकर कहते हैं—मुझे पावन कौन करेगा? सनाथ कौन बनाएगा? धन-सम्पत्ति, भाई-बहिन और पत्नी पुत्र आदि मुझे पावन नहीं बना सकते और न सनाथ ही बना सकते हैं। संसार में कपट का जाल बिछा है। उस कपट-जाल में से मुक्त करने के लिए और सनाथ बनाने के लिए सच्चा भक्त तो यही कहेगा कि—हे प्रभो! तू ही पतितपावन है। तू ही आत्मा को सनाथ बना सकता है। भगवन्! तेरे समान पतितपावन दूसरा कोई नहीं है। मुझ जैसे पतित को पावन करने वाला तू ही है।

आप लोग यहाँ आये हैं, पर क्या लेने आये हैं? हम साधु

लोग आशीर्वाद के सिवाय आपको और क्या दे सकते हैं ? परन्तु साधु का आशीर्वाद मँहगा होता है। साधु तो धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दे सकते हैं। इसके सिवाय फकीरों-साधुओं के पास देने को और क्या है ?

फकीर का नाम सुन कर आप सोचते होंगे—फकीर और साधु मे तो बहुत अन्तर है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। दोनों मे शाब्दिक अन्तर ही है, तात्विक भेद कुछ भी नहीं। फकीर किसे कहते हैं ? इस विषय मे एक कवि ने कहा है—

फे से फख काफ से कुदरत, र से रहीम और ये से याद,
चार हरफ हैं फकीर के, जो पढे तो हो दिल शाद,
फकीर होना बहुत ही कठिन है, जिसमें फिकर की हो न बू,
और कुदरत भी न हो तो, ऐसी फकीरी पर है थू,
रहम न हो दिल माहे तो, दुनिया वाड न होना फकीर तू,
याद इलाही जो कोई करे तो, तू उसके चरणों को छू,

इस कविता मे फकीर या साधु का लक्षण बतलाया गया है। फकीर शब्द तीन-चार अक्षरों से बना है, परन्तु उसमे भाव की व्यापकता है।

फकीर शब्द उर्दू के चार अक्षरों से बना है और इन अक्षरों का अर्थ जुदा-जुदा बतलाया गया है। इस प्रकार एक-एक अक्षर का अर्थ बतलाने को सस्कृत मे निरुक्ति कहते हैं।

'फकीर' शब्द मे पहला अक्षर 'फ' है। इसका अर्थ है—साधु को फिक्र नहीं होनी चाहिए।

कहा भी है—

फिक्र सभी को खात है, फिक्र सभी का पीर।
फिक्र का जो फाका करे, ताको नाम फकीर॥

जिसके अन्त करण मे दुनियादारी की फिक्र नहीं होती—जो अपनी आत्मा और परमात्मा मे ही मग्न रहता है, वही साधु या फकीर है।

फकीर शब्द मे दूसरा अक्षर 'क' है, जिसका अर्थ है कुदरत। कुदरत या प्रकृति का आश्रय लिये विना जीवन नहीं निभ सकता। जब राम वन मे गये तो क्या ले गये थे? फिर भी वे क्या भूखे रहे थे? जब साधु गृहससार का त्याग करते है तो साथ मे क्या लेकर निकलते है? राम प्रकृति के भरोसे रहे थे तो वे दुखी नही हुए और साधु प्रकृति के भरोसे रहते है तो वे भी दुखी नहीं होते। कुदरत पर निर्भर रहते लोग दुखी नहीं होते। परन्तु आजकल तो लोग कुदरत से लडाई कर रहे है। इसका कटुक फल उन्हें भोगना पड रहा है। मगर फकीर लोग कुदरत के ही भरोसे रहते है और रहना चाहिए भी।

फकीर शब्द मे तीसरा अक्षर 'र' है। उसका अर्थ यहाँ रहम या दया है। जो दूसरों पर रहम-दया करता है और दूसरों को जरा भी कष्ट नहीं पहुँचाता, वही फकीर है। 'मैं दुखिया जनों का दु ख जितना दूर करता हूँ, उतना ही परमात्मा के सन्निकट पहुचता हूँ' ऐसा विचार करने वाला ही सच्चा फकीर है। आप यह बात एक कान से सुन कर दूसरे कान से न निकाल दें, किन्तु इस विषय मे गभीर विचार करके जीवन मे दया को उतारने का प्रयत्न करें।

फकीर शब्द मे चौथा अक्षर 'य' है, जिसका अर्थ है—परमात्मा

का नाम और स्वरूप सदैव याद रहे। जो एकाग्र चित्त से सदैव ईश्वर को याद करता है, वह स्वय ईश्वर बन जाता है। अनुयोगद्वार सूत्र मे कहा है—जो ईश्वर मे तन्मय रहता है—ईश्वर का ही ध्यान धरता है, वह ईश्वरमय बन जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सच्चे फकीर और साधु मे शाब्दिक अन्तर भले हो, परन्तु फकीर की जो व्याख्या ऊपर की गई है, उसके अनुसार साधु और फकीर मे कोई अन्तर नहीं है।

राजा श्रेणिक आज मस्त फकीर अनाथी मुनि से वार्त्तालाप कर रहा है। मुनि राजा से कहते है—राजन्। तुम कहते हो कि मेरे यहा हाथी, घोडा, रथ, ग्राम और नगर आदि है। सब मेरे अधिकार मे है। सब मेरी आज्ञा शिरोधार्य करते है, परन्तु मैं पूछता हूॅ कि तुम्हारी आज्ञा तुम्हारे शरीर पर भी चलती है या नहीं ? अगर नहीं चलती तो हाथियों और घोडों के कारण सनाथ होने का अभिमान त्याग दो। मेरा उदाहरण तुम्हारे सामने है। मेरे यहा सभी प्रकार का वैभव विद्यमान था, फिर भी मैं उससे सनाथ न बन सका।

अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक से जो बात कही है, उस पर तुम भी विचार करो। तुम भी ससार के वैभव पर अभिमान करते होगे, परन्तु क्या इन पदार्थों को छोड कर तुम्हे जाना नहीं पडेगा ? क्या इन पदार्थों पर तुम्हारा हुक्म चलता है ? सासारिक पदार्थों को छोडिए तुम्हारे शरीर पर भी तुम्हारी आज्ञा नहीं चलती। आज्ञा चलती होती तो तुम्हारे काले बाल सफेद क्यों हो गये ? दांत क्यों गिर गये ? इस प्रकार जब तुम्हारे शरीर पर भी तुम्हारा अधिकार

नहीं चलता तो फिर बाह्य पदार्थों पर तुम्हारा अधिकार कैसे हो सकता है ? अतएव तुम इस अहकार का परिहार कर दो कि—मैं सब का नाथ हूँ। राजन् ! तुम जिन पदार्थों के कारण अपने को सनाथ समझते हो उन्हीं पदार्थों के बधन मे पडकर अनाथ बन रहे हो।

बाह्य पदार्थों के फदे मे पड कर आत्मा किस प्रकार अनाथ बन रहा है, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हूँ—

मान लीजिए, सिपाही कुछ कैदियों को पकड कर ले जा रहे हैं। सिपाही मन मे समझते होंगे कि हम कैदियों को पकड कर ले जा रहे है, परन्तु विचार करने से जान पडेगा कि सिपाही भी कैदियों के साथ कैदी बन कर जा रहे है। सिपाहियों से कोई कहे कि कैदियों को वहीं खडा रख कर यहा आओ, तो क्या वे उन्हे छोड कर जा सकते है ? इस प्रकार उन कैदियों के साथ सिपाही भी कैदी बने है या नहीं ? इसी तरह आप समझते है—'हम सांसारिक पदार्थों के स्वामी है, किन्तु वास्तव मे ससार के पदार्थ आपके स्वामी बने है और उन्होंने तुम्हे अपने काबू मे कर रक्खा है।'

अनाथी मुनि राजा श्रेणिक से कहते है—इस प्रकार तुम स्वयं ही अनाथ हो तो मेरे या दूसरों के नाथ कैसे बन सकते हो ? तुम जिन पदार्थों को अपना मान बैठे हो, उन्हीं पर-पदार्थों की परवशता के कारण तुम अनाथ हो।

मुनि का कथन सुनकर राजा कहने लगा—यह तो मै समझ गया कि ससार के पदार्थों के कारण अनाथता आती है, किन्तु यह जानना चाहता हूँ कि सनाथ बनने का क्या उपाय है ?

मुनि ने उत्तर दिया—राजन्, अनाथता को दूर करके सनाथ किस प्रकार बना जा सकता है और सनाथ मे कितनी अधिक शक्ति होती है, यह मै बतलाता हूँ। सावधान होकर सुनो —

तओऽहं एवमाहंसु, दुक्खमाहु पुणो पुणो।
वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्मि अणंतए॥ ३१॥

सइं च जइ मुच्चेज्जा, वेयणा विउला इतो।
खन्तो दन्तो निरारम्भो, पव्वइए अणगारियं॥ ३२॥

एवं च चिन्तइत्ताणं, पसुत्तो मि नराहिवा।
परियत्तन्तीइ राईए, वेयणा मे खयं गया॥ ३३॥

अर्थ—रोग न मिटने पर, विचार करने से मुझे विश्वास हुआ कि इस अनन्त ससार मे मैंने इस प्रकार की वेदना बार-बार भोगी है।

यदि एक बार मै इस विपुल वेदना से छुटकारा पा लूँ तो क्षमावान्, इन्द्रियों का दमन करने वाला और निरारभी बनकर अनगारधर्म को स्वीकार कर लूँगा।

हे नराधिप। इस प्रकार चिन्तन करते-करते मुझे नींद आ गई। मैं सो गया। रात्रि व्यतीत होने पर मैंने अनुभव किया कि मेरी शारीरिक वेदना नष्ट हो गई है—मेरा शरीर नीरोग हो गया है।

व्याख्यान—इन गाथाओं मे ससार का बडा गभीर रहस्य बताया गया है। आत्मा किस प्रकार सुखी और किस प्रकार दुखी

होता है, यह यहाँ निरूपण किया गया है।

मुनि कहते है—राजन। जब मेरे माता पिता, भाई बहिन, पत्नी और वैद्य वगैरह सब मिल कर भी मेरे रोग को दूर करने मे समर्थ न हो सके, तब मुझे लगा कि यह मेरे नाथ नहीं है। ये रक्षा नहीं कर सकते और मैं इनकी रक्षा नहीं कर सकता। यह सोचकर मैंने मन ही मन कहा—हे आत्मन्। तू इस प्रकार का दुःख पहली बार नही भोग रहा है। इससे पहले अनन्त बार भोग चुका है। अत अब दु ख से मुक्त होने के लिए जागृत हो जा।

साधारण लोग दु ख से घबराते है, किन्तु महापुरुष दु ख मे से भी सुख की खोज करते है। वे समझते है कि समस्त दु ख तो समाप्त हो जाते है, किन्तु मेरे आत्मा की कभी समाप्ति होने वाली नहीं है, आत्मा अनादि से है और अनन्त काल तक बना रहेगा। जब से ससार है तभी से मैं हूँ तभी से ससार है। मैं और ससार दोनों अनादि कालीन है मुझ मे और ससार मे से कौन पहले और कौन पश्चात है, ऐसा कोई क्रम या भेद नही है। जैसे दो आखों मे और दो कानों मे कौन पहले और कौन पीछे है, यह नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार आत्मा और ससार मे कौन पहले और कौन पीछे, यह भी नहीं कहा जा सकता। दोनों ही अनादि हैं।

ससार मे मैने अनेक बार दु ख भोगे है। यह दुख कहां से आते है ? इस प्रश्न पर विचार करके मैं इस निश्चय पर आया हूँ। दु ख मात्र का उद्भव अपने ही सकल्प से होता है। जैसा मैंने सकल्प किया, उसी प्रकार के सुख या दु.ख मुझे भोगने पड़े।

यह एक दार्शनिक चर्चा है। कोई-कोई दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा अज्ञानी होने के कारण स्वय अपना नियामक नहीं हो सकता। अज्ञान के अधीन होकर जीव कर्म तो कर डालता है, किन्तु फल स्वय नही भोग सकता। फल का नियामक ईश्वर ही है। इस प्रकार जीव कर्म करने मे स्वतत्र है, फल भोगने मे परतत्र है। कहा है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयम्, आत्मन' सुखदु'खयो' ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥

इस प्रकार जीव को कर्म करने मे स्वतन्त्र और फल भोगने मे ईश्वर के अधीन बतलाया जाता है। परन्तु विचार पर यह कथन तर्कसगत नहीं प्रतीत होता।

कुरान मे एक जगह कहा है--हे मुहम्मद। जो स्वय नहीं बिगडता उसे मैं नहीं बिगाडता और जो स्वय नहीं सुधरता, उसे मैं नहीं सुधारता। इस प्रकार इस्लाम धर्म भी खुदा को नियामक नहीं मानता।

परमात्मा अगर फल का नियामक नहीं है, तो जीव अपने कार्य के फल को किस प्रकार भोगता है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका उत्तर यह है कि जीव अपने सकल्प के अनुसार सुख या दु ख रूप फल को स्वय भोगता है। परमात्मा को फल का नियामक मानने मे अनेक आपत्तियाँ हैं। कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य ने चोरी की। तो चोरी करने वाले ने तथा धनी ने पूर्वकृत कर्म का फल भोगा या नया पाप किया? अगर कहा जाय कि पूर्व-पाप का फल भोगा है तो जिसके घर चोरी की गई है, उसने तथा चोरी

करने वाले ने तो पूर्वोपार्जित कर्म का फल भोगा, परन्तु चोरी कराने वाला कौन है ? वह चोरी तो परमात्मा ने ही कराई है। अतएव परमात्मा ने चोरी करवा कर उसे पूर्वकृत पाप का फल प्रदान किया, इस प्रकार मानना ठीक नहीं कहा जा सकता। ज्ञानी जन कहते है--चोर चोरी करके पूर्व कर्म को भोगता है और नवीन कर्मों का वध करता है। अगर सवर द्वारा नवीन कर्मों को न वाधे तो ही वह पाप कर्म से मुक्त हो सकता है।

मुनि कहते है--राजन्। अपनी अनाथता के सवध मे विचार करने पर ज्ञात हुआ कि अपने सकल्प के कारण ही मुझे दु ख भोगने पड रहे है।

प्रश्न होता है—आत्मा सुख का सकल्प तो करता है, परन्तु दु:ख का सकल्प कौन करता है ? इसके अतिरिक्त आत्मा अगर अज्ञान है तो वह नियामक कैसे वन सकता है ? अगर कहा जाय कि प्रकृति व्यवस्था करती है, तो वह जड है। वह अपने आपको भी नहीं जान सकती तो दूसरे की व्यवस्था कैसे कर सकती है ? ऐसी स्थिति मे आत्मा का नियामक तो कोई ज्ञानी होना ही चाहिए।

इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि-दूध को यह ज्ञान नहीं होता कि मुझमे कितना रसभाग है और कितना खलभाग है ? उसे यह भी मालूम नहीं होता कि पेट मे जाकर मैं किस रूप मे परिणत होता हूँ ? इसी प्रकार आपको भी ज्ञान नही है कि दूध हमारे पेट मे जाकर किस प्रकार रसभाग और खलभाग मे परिणित होता है ? ऐसी स्थिति मे भी दूध जब पेट में जाता है तो उसका रसभाग और खलभाग अलग अलग हो जाता है। रसभाग

में से भी जितना भाग आंख को मिलना चाहिए उतना आंख को, जितना भाग कान को मिलना चाहिए उतना कान को और इसी प्रकार प्रत्येक अग को मिल ही जाता है। इस प्रकार प्रकृति ही ऐसी बनी है कि सब काम अपने आप ही नियमित रूप से होते रहते हैं।

अगर आप प्रकृति द्वारा होने वाले सब खेलों को भलीभांति देखो और समझो तो आप पूर्ण ही बन जाएँ पर आपको मालूम नहीं है कि यह सब कैसे हो रहा है। आप जानें या न जानें, प्रकृति तो अपना सारा खेल बराबर खेल रही है और आत्मा प्रकृति के इस खेल के कारण ही अपने कर्म का फल आप ही भोगने के लिए विवश हो जाता है।

इस प्रकार कर्म का फल भोगने के लिए परमात्मा या किसी अन्य नियामक की आवश्यकता ही नहीं रहती।

मुनि कहते है—राजन्! अपनी आत्मा की स्थिति देखते हुए मैं इस निश्चय पर आया कि मेरा यह रोग मेरे अपने ही सकल्प से उत्पन्न हुआ है। अतएव यह हाय-हाय करने से दूर नहीं हो सकता। मैं अनन्त बार वेदना सहन कर चुका हूँ। अगर वेदना शान्त न हुआ करती होती तो पहले की वेदना कैसे शान्त हो गई? इससे तो यही जान पडता है कि वेदना उत्पन्न भी होती है और उपशान्त भी होती है। तो फिर मेरी यह वेदना क्यों नहीं दूर होती? इस प्रश्न पर विचार करते-करते मैं इसी परिणाम पर आया कि यह उग्र वेदना मैंने अपने सकल्प से ही बुलाई है और अपने ही सकल्प से यह दूर की जा सकती है।

आत्मा कितने ही संकल्प स्वय करता है और कितने ही संकल्प उसे पूर्वजों की विरासत के रूप मे प्राप्त होते हैं। यथा—किसी के पूर्वज मांसभक्षी नहीं होते तो उसमे भी मासभक्षण के सस्कार नहीं आते। इसी प्रकार कुछ सस्कार पूर्वजन्म के भी जागृत हो जाते हैं। जैसे—मांस न खाने वाले पुरुष को कभी मास खाने का स्वप्न भी नहीं आता। इसका कारण यही है कि उसमें मास खाने का संस्कार ही नहीं है।

इस प्रकार जो होता है, अपने ही सस्कार से होता है, फिर चाहे वह सस्कार इस भव के हों या पूर्वभव के हों। जैसे सकल्प दृढ़ होने से माता के साथ दुराचार सेवन करने का स्वप्न भी नहीं आता, उसी प्रकार यदि समस्त परस्त्रियों या स्त्री मात्र के साथ भोग न करने का अथवा त्याज्य वस्तुओं को न अपनाने का सकल्प दृढ़ हो तो आत्मा की बहुत उन्नति हो सकती है।

आत्मा की अधोदशा का कारण आत्मा और परमात्मा की एकरूपता को विस्मृत कर देना है। अगर आत्मा परमात्मा के साथ एकता साधन करके भिन्नता को दूर करने का सकल्प-निश्चय करे तो आत्मा की अधोगति न हो।

जब तक सत्सकल्प नहीं किया जाता, तब तक अनाथता दूर नहीं की जा सकती। अनाथ मुनि ने कैसा सत्सकल्प करके अपनी अनाथता को दूर किया, इस पर गभीर भाव से विचार करो।

मुनि ने विचार किया—अनेक प्रयत्न करने पर भी जब मेरा रोग दूर नहीं हुआ तो स्पष्ट है कि रोग का मूल बाहर नहीं, भीतर ही है। कोई दूसरा मुझे दुःख नहीं दे रहा है। मैं स्वय अपने

दुःख का कारण हूँ। इस अवस्था मे दूसरा मेरे दर्द को कैसे दूर कर सकता है ? हां, दूसरा कोई मुझे दुःख देता होता हो, मेरे माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री आदि उसे दूर कर सकते थे। मगर यहां तो मेरी आत्मा स्वय ही दुःख दे रही है तो दूसरा उसका निवारण किस प्रकार कर सकता है ? इस दुःख को तो मेरी ही आत्मा मिटा सकती है। इस प्रकार अपने दुःख को दूर करने का और सनाथ बनने का मैने दृढ़ सकल्प कर लिया।

प्रश्न खड़ा होता है—क्या सकल्प करने से दुःख दूर हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे ज्ञानी जन कहते है कि—हां, सकल्प से दुःख का निवारण हो सकता है। सकल्प करने का अर्थ है—आत्मा को जागृत करना। जो जागृत होता है, उसे कोई दुःख नहीं दे सकता। जो मनुष्य गाढ़ निद्रा मे सोया हो और डरपोक हो, उसके घर मे घुस कर चोर भले चोरी कर ले जाय, किन्तु जो मनुष्य जागता होता है और साहसी होता है, क्या उसके घर मे चोर घसने का साहस कर सकते है ? आप जागृत है तो चोर क्या कर सकता है ?

बाह्य विपय मे आपको ऐसा विश्वास रहता है, परन्तु आध्यात्मिक विपय मे यह विश्वास निश्चल नही रह सकता। आपका आत्मा जागृत हो तो कर्म-चोर की क्या ताकत है कि तुम्हारी शक्ति का अपहरण कर सके ? सत्य यह है कि आपने अपनी असावधानी से ही कर्म रूपी चोर को आत्मा गृह मे घुसने दिया है। अगर आप निरन्तर जागरूक रहें और अपने आप की चौकसी करते रहें तो चोर कदापि प्रवेश नहीं कर सकते।

कहा जा सकता है—चोर की बात तो प्रत्यक्ष अनुभव मे आती है। चोर आँखों से दिखाई दे जाय और जोर की चिल्लाहट मचाई जाय तो वह भाग जाता है, परन्तु कर्म कहां भाग जाता है ? इसके अतिरिक्त जब शरीर मे रोग जनित पीडा होती है तो हाय हाय मचाई जाती है, रोगी चीखता है, चिल्लाता है; फिर भी रोग जाता नहीं। ऐसी स्थिति मे किस प्रकार विश्वास किया जाय कि सकल्प करने मात्र से कर्म या रोग चला जाता है ? इसके सिवाय शास्त्र मे भी तो कहा है कि—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्—कृत कर्मों से तब तक छुटकारा नहीं मिल सकता, जब तक उनका फल न भोग लिया जाय।

शास्त्र तो ऐसा कहते है और आप यह कहते हैं कि जागृत रहने से कर्म भी भाग जाते है। यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध है। तो कैसे माना जाय कि जागृत रहने से अथवा सकल्प करने से कर्म अथक रोग दूर हो जाते है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भिन्न भिन्न दृष्टियों से दोनों बातें सत्य हैं। कर्म का फल भोगे विना छुटकारा नहीं, यह बात भी सत्य है और सकल्प करने से कर्म तथा रोग दूर हो जाते है, यह बात भी सत्य है।

कहा जा सकता है रोग की पीडा से व्याकुल होकर जब रोगी तडफता है और चीखता चिल्लाता है, तब रोग दूर क्यों नहीं हो जाता ? परन्तु रोग के समय हाय-तोबा मचाना, चीखना, चिल्लाना जागृति का लक्षण नहीं है, प्रत्युत निद्रा का लक्षण है जैसे निद्रा में

वडवडाना जागृति का स्वरूप नहीं, निद्रा का ही द्योतक है, उसी प्रकार रुग्णावस्था की चीख और चिल्लाहट भी भाव-निद्रा की सूचक है।

मुनि कहते है—बीमारी के समय में भी चिल्लाहट मचा रहा था, परन्तु उसे रोग की अधिकता का परिणाम समझकर कोई सुनता नहीं था। इसी प्रकार तुम भी रोग को चले जाने को कहते हो अथवा उसके लिए चीखते हो, किन्तु जब तक अधिकारी बन-कर न कहा जाय, तब तक कैसे रोग जा सकता है ?

जिस प्रकार अनाथ मुनि ने अधिकारी बन कर अपनी अना-थता दूर की, उसी प्रकार आप भी अधिकारी बनकर संकल्प करो तो रोग भी दूर हो सकता है।

मुनि कहते है—राजन्। अब मुझे पता लगा है कि मैंने अपने सकल्प से ही रोग को पकड़ रक्खा है और सकल्प के द्वारा ही उसे दूर किया जा सकता है। इस प्रकार दृढ़ सकल्प करके मैंने रोगों से कहा—'रोगों। तुम हट जाओ।' अब मुझे शान्त, दान्त और निरारभी होना है। एक बार मेरी वेदना शान्त हो कि मैं दुनिया के सारे बखेडे छोड दूँगा।'

अनाथ मुनि ने यह भावना तो की कि मेरा रोग चला जाय तो मैं शान्त, दान्त और निरारम्भी बनूॅ, किन्तु यह भावना नहीं कि मैं नीरोग हो जाऊँ तो मौज-मजा करूॅ। उनकी हृदयभावना ऐसी ही थी कि अगर एक बार रोगमुक्त हो जाऊॅ तो जिस अनाथता के कारण दुःख भोगना पड़ता है, उसे सदा के लिए दूर कर दूॅ। मुनि की इस भावना का आशय यही है कि यह आत्मा अनन्त काल से अपनी भूल के कारण दुःख भोग रहा है। इसे दुःख

कहा जा सकता है—चोर की बात तो प्रत्यक्ष अनुभव में आती है। चोर आँखों से दिखाई दे जाय और जोर की चिल्लाहट मचाई जाय तो वह भाग जाता है, परन्तु कर्म कहां भाग जाता है ? इसके अतिरिक्त जब शरीर मे रोग जनित पीडा होती है तो हाय हाय मचाई जाती है, रोगी चीखता है, चिल्लाता है, फिर भी रोग जाता नहीं। ऐसी स्थिति मे किस प्रकार विश्वास किया जाय कि सकल्प करने मात्र से कर्म या रोग चला जाता है ? इसके सिवाय शास्त्र मे भी तो कहा है कि—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

अर्थात्—कृत कर्मों से तब तक छुटकारा नहीं मिल सकता, जब तक उनका फल न भोग लिया जाय।

शास्त्र तो ऐसा कहते हैं और आप यह कहते हैं कि जागृत रहने से कर्म भी भाग जाते हैं। यह दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। तो कैसे माना जाय कि जागृत रहने से अथवा सकल्प करने से कर्म अथवा रोग दूर हो जाते है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भिन्न भिन्न दृष्टियों से दोनों बातें सत्य हैं। कर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं, यह बात भी सत्य है और सकल्प करने से कर्म तथा रोग दूर हो जाते हैं, यह बात भी सत्य है।

कहा जा सकता है रोग की पीड़ा से व्याकुल होकर जब रोगी तड़फता है और चीखता चिल्लाता है, तब रोग दूर क्यों नहीं हो जाता ? परन्तु रोग के समय हाय-तोबा मचाना, चीखना, चिल्लाना जागृति का लक्षण नहीं है, प्रत्युत निद्रा का लक्षण है जैसे निद्रा में

वडवडाना जागृति का स्वरूप नहीं, निद्रा का ही द्योतक है, उसी प्रकार रुग्णावस्था की चीख और चिल्लाहट भी भाव-निद्रा की सूचक है।

मुनि कहते हैं—बीमारी के समय मैं भी चिल्लाहट मचा रहा था, परन्तु उसे रोग की अधिकता का परिणाम समझकर कोई सुनता नहीं था। इसी प्रकार तुम भी रोग को चले जाने को कहते हो अथवा उसके लिए चीखते हो, किन्तु जब तक अधिकारी बनकर न कहा जाय, तब तक कैसे रोग जा सकता है ?

जिस प्रकार अनाथ मुनि ने अधिकारी बन कर अपनी अनाथता दूर की, उसी प्रकार आप भी अधिकारी बनकर संकल्प करो तो रोग भी दूर हो सकता है।

मुनि कहते हैं—राजन्! अब मुझे पता लगा है कि मैंने अपने सकल्प से ही रोग को पकड़ रक्खा है और सकल्प के द्वारा ही उसे दूर किया जा सकता है। इस प्रकार दृढ़ सकल्प करके मैंने रोगों से कहा—'रोगों! तुम हट जाओ।' अब मुझे शान्त, दान्त और निरारभी होना है। एक बार मेरी वेदना शान्त हो कि मैं दुनिया के सारे बखेडे छोड दूँगा।'

अनाथ मुनि ने यह भावना तो की कि मेरा रोग चला जाय तो मैं शान्त, दान्त और निरारम्भी बनूँ, किन्तु यह भावना नही कि मैं नीरोग हो जाऊँ तो मौज-मजा करूँ। उनकी हृदयभावना ऐसी ही थी कि अगर एक बार रोगमुक्त हो जाऊँ तो जिस अनाथता के कारण दु ख भोगना पड़ता है, उसे सदा के लिए दूर कर दूँ। मुनि की इस भावना का आशय यही है कि यह आत्मा अनन्त काल से अपनी भूल के कारण दु ख भोग रहा है। इसे दुःख

पहुँचाने वाला कोई दूसरा नहीं है।

मुनि के इस कथन पर विचार करके आप अपने कर्त्तव्य का निश्चय कीजिए। मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि आप सब इन मुनि की तरह आज ही दीक्षा ले लें। ऐसा करना तो अपनी-अपनी शक्ति पर निर्भर है, किन्तु मुनि के कथन मे जो तत्त्व निहित है, उसे अपने अन्त करण में स्थान दो। भक्त लोग तत्त्व को समझते हैं और इसीलिए वह कहते हैं—

जलचर वृन्द जाल अन्तर्गत होत सिमट एक पासा,
एकहिं एक खात परस्पर, नहिं देखत निज नाशा।
माधव जू। मों सम मन्द न कोऊ ॥
यद्यपि मीन पतग हीनमति मोहि न पूजै ओऊ,
महामोह सरिता अपार में स्तत फिरत बह्योऊ,
श्रीप्रभु चरण-कमल-नौका तजि, फरी फरी फेन गह्यो,
माधव जू। सो सम मन्द न कोऊ ॥

भक्त कहते है—प्रभो। मैं व्यर्थ ही दूसरों को दोष देता हूँ। मेरा यह सोचना व्यर्थ है कि रोग, दु'ख, नरक, कर्म आदि मुझे सताते है। ऐसा विचार करना मेरी मूर्खता है। वस्तुत ऐसा विचार करने वाले के समान और कोई मूर्ख नहीं है। जिस प्रकार मछली जाल मे पडकर अपने प्राण गँवा देती है और पतग दीपक के मोह मे पडकर मर जाता है, यह उनकी मूर्खता है, परन्तु मैं तो उनसे भी अधिक मूर्ख हूँ। क्यों कि—

रुचिर रूप आहार वस्य उन्ह पावक लोह न जान्यो।
देखत विपति विषय न तजत हों तातें अधिक अयान्यो ॥

मछली जाल को जाल समझ कर उसमें नहीं फँसती । वह आहार की खोज मे जाती है और फँस जाती है। उसे विदित होता कि यह आहार नही, बल्कि उसे पकडने का जाल है तो वह उस आहार को भी न खाती। इसी प्रकार पतंग भी आग को आग नहीं समझता। वह अग्नि का सुन्दर रूप देखकर उसमें गिरता है। कदाचित उसे आग का वास्तविक ज्ञान होता तो वह उससे न पडता। किन्तु मै तो विषय को विपत्ति समझ कर भी विषय वासना मे पडा हुआ हूँ। इस कारण मैं मछली और पतग से भी अधिक मूर्ख हूँ।

मुनि कहते है—मै अपनी ही भूल के कारण अनादि काल से दुःख भोग रहा हूँ। विषयभोग के कारण ही मुझे दुःखों का पात्र बनना पड रहा है। यह जान करके भी मै विषयों का त्याग नहीं करता था। किन्तु राजन्। जब मुझे अपनी भूल का भान हुआ, तभी मैंने दुःखों से कह दिया—'तुम सब यहाँ से चले जाओ। मैं क्षमावान्, दान्त और निरारम्भी बनूँगा।' मेरे इस सकल्प के सामने क्या दुःख टिक सकते थे ?

मुनि के इस कथन के प्रकाश मे विचार करो कि आप ससार से बाहर निकलने के काम करते हो अथवा और अधिक ससार मे फँसने के ? भक्त जनों का कहना तो यह है कि—हे प्रभो। इस ससार-सागर मे हम अपनी भूल के कारण ही गोते खा रहे है। ससार-सागर से पार होने के लिए महापुरुषों ने हमारे सामने नौका भी खडी रक्खी है, किन्तु हम उस नौका को छोड देते है और फेन जैसी निस्सार वस्तु का सहारा लेने का प्रयत्न करते है।

मुनि कहते हैं—राजन्। मै प्रभु रूपी नौका का सहारा न लेकर माता-पिता रूपी संसार-सागर के फेन को पकड रहा था। मैं मानता था कि मेरे माता पिता मेरे रोग को मिटा देंगे, परन्तु जो फेन के समान है वह क्या सागर मे डूबते प्राणियों को बचाने मे सहायता कर सकता है ? आखिर जब मैंने प्रभु रूपी नौका पकड़ी, तभी मेरा दु:ख दूर हुआ। राजन्। तुम मेरे इस अनुभव के आधार पर विचार कर देखो कि तुमने जिन वस्तुओं को अपनी समझा है, वह क्या तुम्हें दुःख से मुक्त कर सकेंगी ?

राजा श्रेणिक अनाथ मुनि के कथन को मान गया। वह समझ गया कि मै वास्तव मे अनाथ हूँ और मुझे अनाथ बनाने वाले ससार के यह पदार्थ ही हैं। उसने अनाथता का स्वरूप समझ लिया था। आप लोग भी समझो और अनाथता का निवारण करने का प्रयत्न करो।

यद्यपि राजा श्रेणिक सयम को धारण नहीं कर सका था, किन्तु सीढ़ी-सीढ़ी चढकर उसने जो बात स्वीकार की थी, उससे तनिक भी विचलित नहीं हुआ था। ग्रन्थकारों के कथनानुसार मुनि का उपदेश सुनकर वह क्षायिक सम्यक्त्व का अधिकारी बन गया था। एक ग्रथ मे तो यहाँ तक कहा है कि सनाथ अनाथ का भेद समझने के बाद उसे धर्म पर दृढ विश्वास हो गया था। उसका सम्यक्त्व दृढ़ था। एक बार इन्द्र ने भी उसकी प्रशसा की थी। इन्द्र द्वारा की हुई राजा श्रेणिक की प्रशसा एक देव सहन न कर सका। नरेश की प्रशसा सुनकर वह देव मन ही मन कहने लगा—हमारे सामने मनुष्य की क्या प्रशसा हो सकती है। हम वैक्रियशरीर के धारक

है और मनुष्य पार्थिव-औदारिक शरीरवाले। किन्तु उस समय देव ने इन्द्र से कुछ न कह कर पहले राजा को समकित से च्युत करके फिर इन्द्र से कहने का विचार किया। इस प्रकार विचार करके उस देव ने राजा को सम्यक्त्वच्युत करने के अनेक प्रयास किये। मगर राजा सभी परीक्षाओं मे उत्तीर्ण हुआ। अन्त मे देव को कहना पड़ा–इन्द्र महाराज ने जैसी आपकी प्रशसा की थी, वास्तव मे ही आप वैसे है। आप सचमुच प्रशसनीय और श्लाघनीय है। मैंने इन्द्र महाराज के कथन पर तो विश्वास नहीं किया मगर आपकी दृढ़ता देखकर विश्वास करना पडा।

अभिप्राय यह है कि जैन धर्म निर्ग्रन्थप्रवचन है। अतएव निर्ग्रन्थप्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा रक्खो। सत्सकल्प–दृढ़ श्रद्धा रखने से तुम्हारा श्रेय होगा। सुख और दु ख या सद्गुण और दुर्गुण–सब तुम्हारे प्रशस्त या अप्रशस्त सँकल्प पर निर्भर है। अतएव निरतर सत्सकल्प ही करना चाहिए।

सकल्प की शक्ति कितनी अद्भुत है, यह देखो। मैंने विचार किया–इस प्रकार का दु ख मै अनन्त वार भुगत चुका हूँ। दु ख उत्पन्न हुआ और नष्ट भी हो गया, पर मै जैसा का जैसा ही रहा। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि वेदना का जनक स्वय मैं हूँ और मैं ही उसका नाश कर सकता हूँ। इस प्रकार विचार करके मैं इस निश्चय पर आया कि आत्म साधना मे बाधक यह वेदना अगर दूर हो जाय तो मैं क्षमाशील, इन्द्रियों को दमन करने वाला और आरभ त्यागी बन जाऊँगा।

क्षमा, इन्द्रियदमन, निरारभता और प्रव्रज्या, यह सब क्या

है ? इनका परस्पर क्या संबंध है ? इस विषय पर थोडा विचार कर लेना चाहिये ।

क्षमाशीलता का अर्थ है-सहनशीलता। चाहे कैसी भी स्थिति क्यों न हो और कितने ही जुल्म सिर पर क्यों न आवें, पर अपने स्वरूप का त्याग न करना और धैर्य एव शान्ति के साथ उनका सामना करना क्षमा है। शास्त्र मे कहा है—

पुढवी समे मुणी हविज्जा ।

अर्थात्—मुनि को पृथ्वी के समान क्षमाशील होना चाहिए।

पृथ्वी को कोई लात मारता है, कोई सींचता है तो कोई खोदता है, किन्तु यह सब कुछ सहन करके भी पृथ्वी अपना गुण ही प्रकट करती है। वह सदैव स्थिर रहती है। पृथ्वी की स्थिरता और सहायता से ही यह ससार चल रहा है। पृथ्वी की सहायता प्राप्त न हो तो यह ससार टिक ही नहीं सकता। तुम पृथ्वी के उपकारों को भूल रहे हो परन्तु गनीमत यही है कि पृथ्वी तुम्हें नहीं भूली है। कोई पृथ्वी की पूजा करे या लातें मारे वह किसी पर अप्रसन्न नहीं होती, किसी पर प्रसन्न भी नहीं होती। पृथ्वी प्रसन्नता या अप्रसन्नता के द्वन्द्व मे पडती ही नहीं।

भगवान् का कथन है कि—हे मुनियो ! अगर तुम क्षमावान् बनना चाहते हो तो पृथ्वी के समान सहनशील बनो। पृथ्वी की भांति सहनशील बनोगे तो ।—

लाहालाहे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ।।

लाभ और अलाभ या सुख और दुख का प्रश्न ही तुम्हारे सामने

नहीं रहेगा। साधु के समक्ष धन के लाभ और अलाभ का तो प्रश्न ही नहीं होता, शरीर निर्वाह के लिए जो भोजन चाहिये, उसमें भी लाभ अलाभ का प्रश्न नहीं रह जाएगा। भोजन मिल गया तो भी आनन्द मानोगे और न मिला तो भी आनन्द मानोगे। व्यापारी लाभ हानि का विचार करते हैं, परन्तु हे साधुओ! व्यापारियों की तरह तुम लाभ हानि के प्रश्न में न पड़ो। तुम तो अपने कर्त्तव्यपालन का ही ध्यान रक्खो। लाभ-हानि के द्वन्द्व में न पड़ना ही सयम का मूल लक्षण है। इस प्रकार यतिधर्म में क्षमा का स्थान पहला है। अतएव लाभ-अलाभ में समान भाव रखना मुनि का पहला धर्म है।

हे मुनियो, क्षमाभाव धारण करने के साथ तुम सुख दुःख में भी समान रहो। जिस प्रकार पृथ्वी पूजने से प्रसन्न नहीं होती और खोदने से नाराज नहीं होती, उसी प्रकार तुम भी सुख-दुःख में समभाव धारण करो। सुख-दुःख में यहां तक मध्यस्थ बन जाओ कि —

जीवियासमरणभय विप्पमुक्का।

जीवित रहने की लालसा और मरने का भय भी तुम्हारे अन्तःकरण में न रह जाय, तुम्हारे लिए जीवन और मरण भी एकाकार हो उठे। दोनों में किसी प्रकार की भिन्नता न रहे।

हे मुनियो, कोई तुम्हें वन्दना करेगा और कोई यह कह कर निन्दा करेगा कि—कमा कर खाने में मुहताज होने के कारण ढोंगी साधु बन गया है, इस प्रकार प्रशंसक और निन्दक दोनों प्रकार के लोग तुम्हें मिलेंगे। पर किसी के मुख से प्रशंसा सुन कर तुम्हें सुख

का अनुभव नहीं करना है और निन्दा सुन कर दुःख का अनुभव नहीं करना है। तुम निन्दा और प्रशसा के सबध मे विचार ही न करो। जैसे पृथ्वी खोदने वाले और गालिया देने वाले को—दोनों को—समान रूप से आधार देती है, उसी प्रकार हे मुनियों, जो तुम्हें गालिया दे, उसका भी तुम कल्याण करो। गालिया देने वाला तुम्हें निर्मल बना रहा है, ऐसा मान कर उसके भी कल्याण की कामना करो।

कोई धोबी मुफ्त मे तुम्हारे कपड़े धो दे तो तुम्हें प्रसन्नता होगी या अप्रसन्नता ? इसी प्रकार ज्ञानी जन मानते हैं कि गालियाँ देने वाला अपने को मुफ्त निर्मल बना रहा है। इस प्रकार जो अपकारी को भी उपकारी मानते है, वास्तव मे उन महात्माओं की बलिहारी है।

तुम श्रमणोपासक हो और बहिनें श्रमणोपासिका हैं। भगवान् ने तुम्हें श्रमणोपासक कहा है, अरिहन्तोपासक नहीं कहा। अत· विचार करो कि तुम्हारा जीवन-व्यवहार कैसा होना चाहिए ? जो अपने तप पर दृढ़ रहता है, वह श्रमण कहलाता है और तुम श्रमण के उपासक हो। जिस प्रकार साधु लाभ हानि के प्रसग पर समभावी रहते हैं, उसी प्रकार ससार के प्रलोभनों मे न पड़कर, लाभ-हानि के प्रसग पर श्रमण का आंशिक अनुसरण करके, समभावी बनने से ही तुम सच्चे श्रमणोपासक बन सकते हो। क्या प्रलोभन मे पडकर असत्य भाषण करना श्रमणोपासक का कर्त्तव्य है ? अगर नहीं, तो श्रमणोपासक होकर क्यों मिथ्या भाषण करते हो ? क्यों गालियाँ देते हो ? क्यों किसी को कटुक

वाणी कहते हो ?

मदनरेखा ने अपने पति को दो घडी मे ही नरक से बचाकर स्वर्ग मे पहुँचा दिया था। जब तक उसके पति के कठ मे प्राण रहे, तब तक वह धर्म का ही उपदेश देती रही। उसने रोना और छाती पीटना उचित नहीं समझा। यह विचार नहीं किया कि—'मेरा क्या होगा ? मैं क्या करूँगी ?' पति का अन्तिम श्वास निकल जाने के पश्चात् ही उसने अपनी रक्षा के सबध मे विचार किया।

मदनरेखा के मस्तक पर उस समय कितना बडा सकट था। सगे जेठ ने उसके पति के प्राण लिये थे। मदनरेखा गर्भवती थी, :सी समय जेठ उसके शील को नष्ट करने के लिए तैयार था। जेठ राजा था, सत्ता और ऐश्वर्य उसकी मुट्ठी मे थे। मदनरेखा के लिए कितना विकराल प्रसग था वह। फिर भी वह रोई नहीं। उसने शील की रक्षा की। इसी कारण आज भी उसका गुणगान किया जाता है। तुम भी रोने का रिवाज त्यागो और आर्त्तध्यान त्यागकर धर्मध्यान करो।

तात्पर्य यह है कि क्षमाशील बनने से अपना भी कल्याण होता है और जगत का भी कल्याण होता है।

अनाथी मुनि कहते है—मैंने निश्चय कर लिया कि एक बार मै स्वस्थ हो जाऊँ तो क्ष ील बन जाऊँगा।

जड़ सृष्टि पर भी त्सकल्प का प्रभाव पडता है। शास्त्र में कहा है—

सच्चं खु भयवं।

सत्य के प्रभाव से क्या नहींहो सकता ? सत्य से तो भगवान् भी

बना जा सकता है। सत्य ही भगवान् है। सत्सकल्प के प्रताप से विष भी अमृत हो जाता है और अग्नि शीतल हो जाती है। सत्‌सकल्प के महान् प्रभाव को अनुभव करके मुनि कहते है कि—मैने ऐसा सकल्प किया कि एक बार मेरी यह वेदना शान्त हो जाय तो मैं क्षमावान्, इन्द्रियों का दमन करने वाला और निरारभी बन जाऊँगा।

मुनि कहते हैं—मैने ज्यों ही यह सकल्प किया, त्यों ही कौन जाने क्या अद्‌भुत परिवर्त्तन हो गया? बहुत दिनों से मुझे नींद नहीं आ रही थी। इस सकल्प के पश्चात् गहरी निद्रा आ गई। मेरी निद्रा से कुटुम्बी जनों को जो प्रसन्नता हुई होगी, उसके पीछे उनकी भावना और ही रही होगी। शायद पिताजी सोचते होंगे-'मेरा पुत्र स्वस्थ हो जाय तो मेरे काम मे सहायता पहुचावे।' माता सोचती होगी—'मेरा बेटा नीरोग हो जाय तो मेरा दुःख दूर हो जाय।' भाई विचारते होंगे—'मेरा भाई तन्दुरस्त हो जाय तो हमे इसकी चिन्ता न करनी पडे।' इसी प्रकार भगिनी और भार्या भी कदाचित् अपने स्वार्थ की बात सोचती होगी। परन्तु मेरे मन मे कुछ और ही भावना थी। मैं यही सोच रहा था कि अपने उपार्जित कर्मों को मैं आप ही दूर करूँगा।

जीव किसके किये कर्मों को या दुःख को भोगता है, शास्त्र मे इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। भगवतीसूत्र मे गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया है—भगवन्! जीव स्वयकृत कर्म भोगता है या परकृत कर्म भोगता है?

उत्तर मे भगवान् ने कहा—गौतम! जीव अपना किया दुःख

ही भोगता है; दूसरों का किया दु ख नहीं भोगता।

इस कथन से स्पष्ट है कि ससार के सभी सुख दु'ख अपने ही किये है। हम कर्म को दोप देते है, परन्तु कर्म क्या करे ? कर्मों को तो मैंने ही पकड रक्खा है। तभी वे रुके है, अन्यथा वे रुक ही कैसे सकते थे ? अगर मै चाहूँ तो थोडी ही देर मे कर्मों को भाग जाना पडेगा।

मुनि कहते है—जब मुझे यह भान हुआ कि दु खों का जनक मैं स्वय ही हूँ, तब मैंने उन्हे नष्ट कर डालने का सकल्प कर लिया।

मुनि को यह ज्ञान स्वय उत्पन्न हो गया अथवा किसी महात्मा के उपदेश से हुआ ? इस विपय मे शास्त्र मे कोई उल्लेख नहीं है, अतएव निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। ज्ञान दो प्रकार से होता है—एक तो अपने विचार से या किसी घटना को देखने से और दूसरे किसी का उपदेश सुनने से। अनाथी मुनि को इन दो तरीकों मे से किस तरीके से ज्ञान हुआ था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तुम्हें स्वय ज्ञान न हो तो यह उपदेश तुम्हारे सामने है। इस उपदेश को सुन कर अपने दु ख को दूर करने का सकल्प करो।

अनाथ मुनि ने जैसे ही सुदृढ़ सकल्प किया कि गहरी निद्रा आ गई। वह सो गये। वह सो क्या रहे थे, मानो सदा के लिए दु खों को दूर कर रहे थे। मुनि कहते है—मेरे दु खों की वह अन्तिम रात्रि थी।

अगर तुम्हारे सकल्प मे सचाई और दृढ़ता है तो तुम्हें दुःख हो ही नहीं सकता। सुदृढ़ सत्सकल्प से ही दु.खों से छुटकारा पाया

जा सकता है। ढीले सकल्प से कुछ बनता नहीं।

आप कह सकते हैं—सकल्प मात्र से दुःख का दूर हो जाना कैसे संभव हो सकता है ? किंतु मानसशास्त्री के सामने यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। जो मानसशास्त्र से अनभिज्ञ हैं, उन्हीं को ऐसा सन्देह होता है। ऐसे लोगों से कहना है कि क्या केवल अपने सकल्प के कारण ससार मे दु ख की उत्पत्ति नहीं देखी जाती ? डाकिन लग गई या भूत लग गया, यह अपने ही मन के सकल्प का फल है या और कुछ ? डाकिन और भूत की बात सुन कर लोग भय का सकल्प करते है और भय के सकल्प के कारण ही वे दुखी होते है। कोई तुमसे कहे कि अमुक मकान मे भूत है। तो उस मकान मे जाते तुम्हें भय लगेगा या नहीं ? उस मकान में प्रवेश करते ही तुम्हारे पैर कांपने लगेंगे। भूत के भय के कारण तुम्हारा सकल्प ही ऐसा बन जाता है कि उसके कारण मकान मे पॉव रखते ही तुम्हारे पैर कॉपने लगते हैं।

भय के कारण मेरे मन मे भी एक बार ऐसा संकल्प उत्पन्न हो गया था और उससे मुझे पॉच महीने तक कष्ट भोगना पड़ा था। मैं दीक्षित हो चुका था। मगर दीक्षा लेने से पहले भूत डाकिन सबन्धी जो बातें सुन रक्खी थीं, उनके भय का सस्कार दूर नहीं हुआ था। इस सस्कार के कारण मैं यही समझता था कि अमुक मनुष्य मेरे ऊपर जादू कर रहा है। रात्रि के समय पहरा देने वाले मनुष्य आवाज करते थे तो उस आवाज को सुन कर मैं सोचता था—यह लोग मेरे ऊपर जादू कर रहे हैं। मैं इसके लिए ससार को दोषी समझता था, परन्तु वास्तव में कौन दोषी था ? मझे जो भय लगता

था, वह मेरे ही भ्रममय विचारों के कारण लगता था। अपने ही दूषित सकल्प की वदौलत मुझे दु ख हो रहा था। किन्तु जब मेरे अन्तःकरण मे से इस प्रकार के मिथ्या विचार निकल गये तो मेरा दु.ख भी चला गया।

सारांश यह है कि, संकल्प से दु ख उत्पन्न होता है, यह बात तो तुम भी अनुभव करते हो। अतएव स्पष्ट है कि मनुष्य अपने ही सकल्प से दु खों को उत्पन्न करता है। स्त्रियों मे तो भय का सकल्प करने की पद्धति विशेष रूप से देखी जाती है। कई स्त्रिया तो साधुओं से कहती हैं कि इसके ऊपर ओगा फेर दीजिए। इसके ऊपर यत्र-मत्र कर दीजिए। पर यदि साधु यत्र-मत्र करने लगें तो कितने लोग आने लगें ? वास्तव मे गृहस्थों की इस पद्धति ने ही साधुओं को साधुत्व से नीचा गिराया है और उनके लिए दु.ख उत्पन्न किया है। कई साधु भी तुम्हें प्रसन्न करने के लिए यत्र-मत्र के चक्कर मे पड़ गये है। परन्तु वास्तव मे साधुओं के पास परमात्मा के नाम के सिवाय और कुछ भी देने को नहीं होना चाहिए। किन्तु तुम सकल्प से पतित हो गये हो और साधु भी पतित हो रहे हैं।

तो इस प्रकार के सकल्प से दु.ख की उत्पति होती है, यह बात तो तुम्हारे अनुभव मे भी आती है और जब सकल्प से दु ख उत्पन्न होता है तो क्या सकल्प से दु ख का नाश नहीं हो सकता ? और यदि सकल्प से दु ख उत्पन्न हो सकता है तो क्या सुख उत्पन्न नहीं हो सकता ? वास्तव मे अपने सकल्प के कारण ही सुख-दु ख उत्पन्न होता है। आज के लोगों को सकल्प की शक्ति के

विषय में सन्देह रहता है, परन्तु सकल्प में अनन्त बल सन्निहित है। संकल्प की महिमा बतलाते हुए उपनिषद् मे भी कहा है.—

'स य संकल्प ब्रह्मेत्युपासते क्लृप्तान् वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः।'

अर्थात्—आत्मा जब अपने सकल्प को ईश्वरीय स्वरूप प्रदान करता है और दृढ़तापूर्वक उसकी उपासना करता है, तब उस सकल्प के आधार पर ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होते हैं। देवगति, नरकगति, मनुष्यगति और तिर्यञ्चगति संकल्प द्वारा ही प्राप्त होती है। मोक्ष भी अपने सकल्प से ही मिलता है।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब सकल्प से ही मनुष्य-गति मिलती है तो फिर मनुष्यलोक की रचना किसने की है ? मनुष्य लोक की रचना आत्मा ने अपने संकल्प से ही की है। यह मकान और यह नगर, जिसमें तुम निवास कर रहे हो, आत्मा के संकल्प से ही बना है।

इस प्रकार यह आत्मा अगर संकल्प करता ही रहता है, किन्तु यदि उसका सकल्प सत्सकल्प हो तो उसके द्वारा उसे ध्रुवत्व अर्थात् मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। सत्सकल्प ही ईश्वर है, यह मान कर संकल्प पर दृढ़ रहो और उस पर दृढ विश्वास रक्खो। भक्त तुकाराम कहते हैं —

निश्चयाचा वल तुका म्हणे तोच फल।

अर्थात्—सकल्प मे बहुत बल है। अतएव तुम भी सत्सकल्प करो और उस पर दृढ आस्था रक्खो।

मुनि कहते है—राजन्! अनाथता को दूर करने के लिए

आत्मतत्त्व को जानने की आवश्यकता है और जब तक राग-द्वेष विद्यमान रहते हैं तब तक आत्मतत्त्व नहीं जाना जा सकता। जब राग द्वेष का त्याग करके आत्मतत्त्व की जिज्ञासा करोगे, तब उसको जानने मे विलम्ब नहीं लगेगा। राजन्! ज्यों ही मुझे ज्ञात हुआ कि इस दु ख का कारण स्वय मै ही हूँ, तब मैंने उसे दूर करने का सकल्प किया और सकल्प करते ही मुझे निद्रा आ गई।

कोई कह सकता है—मुनि ने सत्सकल्प किया और उनका रोग चला गया। इसमे बडी बात क्या है? रोग तो दवा दारू और तत्र-मत्र से भी चला जाता है। भले आत्मभाव का दृढ़ सकल्प करने से भी रोग चला जा सकता है, इसमे आश्चर्य की क्या बात है? मूल बात तो रोग दूर करने की है। वह किसी भी उपाय से मिटे, मिटना चाहिए। दवा खाने-पीने मे तो पथ्य परहेज पालना पडता है, परन्तु यत्र-मत्र मे तो पथ्य भी नहीं पालना पडता। ऐसी स्थिति मे यदि मत्र, तत्र, मेस्मेरिज्म या हिप्नोटिज्म से भी रोग दूर हो तो भी क्या हर्ज है? आज बात की बात मे मेस्मेरिज्म या हिप्नोटिज्म द्वारा रोग चला जाता है, तो फिर इन्हीं प्रयोगों द्वारा रोग—निवारण करके नीरोग क्यों न बना जाय?

हमारे कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि डाक्टर के उपचार से रोग मिटता ही नहीं है। डाक्टर अथवा मत्र-यत्र आदि द्वारा भी रोग मिट जाता होगा, परन्तु इन उपायों का अवलम्बन करने से तुम सनाथ हुए हो या अनाथ? मुनि का उद्देश्य सिर्फ रोग मिटाना नहीं था, वह तो अनाथता को भी मिटाना चाहते थे। उन्होंने दृढ़ संकल्प के प्रभाव से रोग ही नहीं मिटाया, अपनी अनाथता भी

मिटाई। डॉक्टर आदि का शरण लेने से रोग मिट सकता है, अनाथता नहीं मिट सकती।

सत्सकल्प से आत्मबल की वृद्धि होती है। इस अध्ययन का उद्देश्य यह बतलाना है कि डॉक्टर आदि की सहायता से या सातावेदनीय कर्म के उदय से रोग मिट सकता है, किन्तु आत्मा की अनाथता नहीं मिट सकती। इसी प्रकार मंत्र, तत्र, मेस्मेरिज्म या हिप्नोटिज्म से कदाचित् रोग मिट सकता है, पर अनाथता नहीं मिटेगी। यही नहीं, बल्कि अनाथता बढ़ेगी। स्वय तुम्हारे भीतर मेस्मेरिज्म और हिप्नोटिज्म से भी अधिक शक्ति विद्यमान है। तुम अनेक बार देवयोनि भोग चुके हो फिर भी तुम्हारी आत्मा अनाथ ही बनी रही, सनाथ नही हुई। इसलिए मुनि कहते है कि सब के प्रयत्नों से मेरा रोग दूर नहीं हुआ, यह भी अच्छा ही हुआ। मेरा रोग मेरे ही सकल्प से मिटा और साथ ही मेरी अनाथता भी मिट गई।

आज के लोगों की श्रद्धा लॅगडी बन गई है। उसमे उत्साह या सत्सकल्प नहीं रहा है। लोग समझते हैं कि हम सत्सकल्प के चक्कर मे पड़ जाएँगे तो हमारा काम ही अटक जायगा। अतएव सत्-सकल्प की बात केवल सुनने भर के लिए है, अमल के लिए नहीं।

लोग इस प्रकार की बातें बनाकर निकल भागते हैं। पर इस प्रकार की निर्बलता धारण करने से किसी भी प्रकार की स्वतत्रता नहीं मिल सकती। सच्ची स्वतत्रता तो क्षमा, जितेन्द्रियता, निरारभता और प्रव्रज्या से ही प्राप्त हो सकती है। इसके सिवाय और सब बातें तो परतत्रता मे डालने वाली है। यह सही है कि आत्मा

एकदम अपने आप परतत्रता से मुक्त नहीं हो सकता, परन्तु परतन्त्रता से छूटने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए। ससार मे अनाथी मुनि जैसे और राजा श्रेणिक जैसे—अर्थात् तत्काल आचरण करने वाले और तत्काल आचरण न करने वाले—दोनों प्रकार के पात्र रहेंगे, फिर भी जो तत्काल आचरण नहीं कर सकता, उसे राजा श्रेणिक की तरह श्रद्धा तो रखनी ही चाहिए। आपमे बलवती श्रद्धा होना चाहिए कि – मैं अनाथ हूँ और मुझे अनाथता दूर करके सनाथ बनना है।

जो सकल्प प्रशस्त हो, जिसमे विकार न हो और जिसका प्रत्येक परिस्थिति मे पालन किया जाय, वह सत्सकल्प कहलाता है। अस्वस्थ अवस्था मे किये सकल्प को स्वस्थ अवस्था मे पालन करना सत्सकल्प है। एक बार सकल्प किया और जब उसको पूर्ण करने का समय आया तो सकल्प के अनुसार कर्त्तव्यपालन न किया, तो उसे दृढ़ सकल्प नहीं कह सकते। जो सकल्प प्रत्येक परिस्थिति मे कर्त्तव्यपालन की ओर ही प्रेरित करता है वही सत्सकल्प है। राजा दशरथ से उनकी रानी कैकेयी ने कहा था–आप अपना वचन वापिस ले लो तो राम को वन मे नहीं जाना पडेगा। तब दशरथ ने कहा—

रघुकुल रीति सदा चल आई,
प्राण जॉय पर वचन न जाई।

दशरथ राजा ने कैकेयी से कहा—प्रिये। प्राण त्याग देने के लिए भले कहो, परन्तु दिये वचन से मुकरने के लिए न कहो। दशरथ राजा थे और चाहते तो कैकेयी को दिये वचन का अनादर भी कर सकते थे, परन्तु दृढ़ सकल्पी पुरुष ऐसा नहीं करते। दृढ़

संकल्पी तो प्रत्येक परिस्थिति मे अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते है, चाहे उसका पालन करते कितने ही सकट सिर पर क्यों न आ पडे ।

तओ काले पभायंमि, आपुच्छित्ताण बंधवे ।
खंतो दंतो निरारंभो, पव्वइओ अणगारियं ॥ ३४ ॥

अर्थ—सवेरे वेदना मिटने पर मैने अपने बान्धवों से स्वीकृति ली और क्षमावान्, इन्द्रियदान्ता और निरारभ बनकर अनगार-धर्म स्वीकार कर लिया ।

व्याख्यान—इन गाथाओं मे गणधर महाराज ने इतना तत्त्व भर दिया है, मानो गागर मे सागर भर दिया हो । इन गाथाओं के रहस्य को मैं पूरी तरह वर्णन नहीं कर सकता, तथापि इस सबध मे अपने हृदय के भावों का वर्णन करता हूँ ।

मुनि कहते है—राजन् । सकल्प करते ही मुझे निद्रा आ गई । मैं सो गया । मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह रात अपने दु खों को दूर करने मे ही बीत गई । रात्रि व्यतीत होने पर जो प्रभात हुआ वह मेरे लिए अपूर्व था ।

ग्रन्थकारों ने प्रात काल का वर्णन अत्यन्त सुन्दर रूप मे किया है उन्होंने प्रभातकाल की बहुत-सी विशेषताएँ बतलाई हैं । उन सब को कहने का अभी समय नहीं है । अतएव आपसे यही पूछता हूँ कि आपको प्रात काल मे कोई अपूर्वता दिखाई देती है या नहीं ? आपको प्रात काल हमेशा जैसा ही तो नहीं नजर आता ? जिनकी आत्मा सुषुप्त है, उन्हे प्रभातकाल मे उदीयमान सूर्य पुराना

ही दिखाई देता है, किन्तु जिनकी आत्मा जागृत है, उन्हें प्रत्येक प्रभात मे सूर्य नूतन ही प्रतीत होता है। प्रकृति की रचना पर दृष्टिपात करने से यह बात आपको दीपक की तरह स्पष्ट जान पड़ने लगेगी। सूर्योदय होते ही कमल विकसित हो जाते है। इसी प्रकार सूर्यमुखी के फूल तथा कितने ही अन्य वृक्षों के पुष्प बिना खिले नही रहते। वनस्पति की अपेक्षा विशिष्ट चेतना वाले जन्तुओं को देखो तो उनमे भी सूर्योदय होने पर जागृति देखी जाती है। प्रात:काल होते ही पक्षीगण अपने कल-कल नाद से सृष्टि को अपूर्व आनन्द प्रदान करने लगते है, भ्रमर कैसी मधुर गुंजार करते है और मधु-मक्खियां किस प्रकार अमृत घोलती है, मानों उन्हें ध्यान ही नहीं है कि सूर्य प्राचीन है, वे तो उसे नित्य नूतन ही अनुभव करते है।

इस प्रकार वनस्पति और पशु-पक्षियों मे भी, प्रातः काल सूर्योदय होते ही अपूर्वता एव जागृति आ जाती है और वे सब अपने-अपने कार्य मे लग जाते है। ऐसी स्थिति मे आप लोग मनुष्य होकर भी सूर्योदय के बाद तक सोते रहें, यह कहा तक ठीक है?

कदाचित् आपसे कोई कहे कि सूर्योदय होने से पहले आप अमुक स्थान पर पहुच जाएगे तो आपको एक लाख रुपया प्राप्त होगा। तो क्या आप सूर्योदय के पश्चात् तक पड़े सोते रहेगे? लाख रुपया की बात जाने दीजिये, सूर्योदय से पहले आने वाली रेलगाडी मे आपको जाना होता है तब भी क्या आप पडे रहते हैं?

इस प्रकार आप लाख रुपया का मूल्य समझते हैं और रेल-

गाडी के समय की भी कीमत समझते हैं, किन्तु क्या मनुष्यजीवन की कीमत रेल के समय जितनी भी नहीं है ? जो काम आप भय या लोभ से करते हैं, वही काम अगर धर्म के अभिप्राय से करो तो आपकी आत्मा कितनी सुखमय बन जाय ? अगर आप प्रातःकाल उठ कर सामायिक करना चाहो तो क्या नहीं कर सकते ? आप सामायिक का मूल्य रेल के समय से भी कम न समझते होते तो क्या प्रातःकाल होने पर भी सोये पडे रह सकते थे ? स्टेशन पर जाने के लिए जल्दी उठ बैठते हो तो फिर सामायिक करने के लिए क्यों नहीं उठते ? रेल मे बैठने से तो पाप का बध भी होता है, किन्तु सामायिक करने से तो उलटा आत्म लाभ होता है। ऐसा होने पर भी, प्रात काल होने के पश्चात् भी क्यों पडे सोते रहते हो ? और जब आप सोते रहते हैं तो कैसे कहा जाय कि आपकी आत्मा मे जागृति है।

मुनि के शरीर में दुस्सह वेदना का उद्भव हुआ था। उस वेदना के मिट जाने पर उन्हें कितनी अधिक शान्ति हुई होगी ? कहावत है—

पहला सौख्य निरोगी काया,

इस कहावत के अनुसार रोगमुक्त होने से और शरीर स्वस्थ होने से अनाथ मुनि को बडा आनन्द हुआ होगा। कदाचित् इस प्रकार की बीमारी भोगने के पश्चात् आपको स्वास्थ्यलाभ हुआ हो तो आप यही सोचेंगे कि—अब मैं खूब खा-पी सकूंगा, आमोद-प्रमोद कर सकूंगा और गुलछर्रे उडा सकूंगा। किन्तु अनाथ मुनि रोगमुक्त होने पर किस प्रकार का विचार करते हैं, उस पर ध्यान

दो । वह सोचते हैं—मैं अब रोगमुक्त हो गया हूँ, अतएव मुझे अपने सकल्प की पूर्ति करनी चाहिए। सकल्प मे असीम सामर्थ्य है। मेरे शरीर मे जो दारुण व्यथा उत्पन्न हुई थी, वह सकल्प के ही माहात्म्य से दूर हुई है। अतएव इस शुभ प्रभात मे मुझे अपने सकल्प को क्रियान्वित करना चाहिए।

अनाथ मुनि तो प्रभात होने पर सकल्प को पूरा करने का विचार करते हैं, परन्तु ससार विचित्र है। दूसरे लोग दूसरा ही विचार करते हैं। वैद्य, यांत्रिक आदि कहने लगे—आज का सूर्य कितना शुभ और मगलमय उगा है। हमारा बहुत कष्टसाध्य प्रयत्न सफल हुआ है। हमारे उपचार से आज रोगी सर्वथा रोगमुक्त हो गया है।

माता-पिता, बन्धु बान्धव प्रसन्न होकर कहते होंगे—अहा, आज का प्रभात कितना प्रशस्त है। हमारा पुत्र, हमारा भाई, हमारा पति, नीरोग हो गया। उसे शान्ति हुई और उसकी शान्ति को देखकर हम सबको भी शान्ति हो गई। '

मुनि कहते है—राजन्। प्रात काल होते और सूर्योदय होते ही मैं नीरोग होकर उठ बैठा। स्वस्थ होकर उठा देख मेरे माता-पिता, बन्धु आदि कुटुम्बी जन मेरे पास दौडे आये और अपना हर्ष प्रकट करने लगे। सब कुटुम्बी अत्यन्त प्रसन्न थे। मैंने उनसे कहा—'कल तक मैं बीमार था परन्तु आज मेरा रोग और दुख किस प्रकार सहसा विलीन हो गया।' मेरी बात सुनकर सब कहने लगे—अब उस दुख को स्मरण ही मत करो। दुख के वे दिन चले गये। अब आनन्द के दिन आये हैं, अतएव आनन्द करो।

राजन् । मैंने अपने कुटुम्बियों से कहा—आप सब लोगों ने मेरे लिए इतने अधिक कष्ट सहन किये हैं। मैं आप सब का आभार मानता हूँ। परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ—क्या आप सब के इतने कष्ट सहन करने के कारण मेरा दु ख दूर हुआ है ?

प्राचीन काल के लोग आज के लोगों की तरह कुटिल नहीं थे। वे सरल और सीधे-सादे थे। उन्होंने उत्तर मे यही कहा—नहीं, हमारे प्रयत्न से दु ख दूर नहीं हुआ।

वैद्य और तांत्रिक-मांत्रिक कहने लगे—हमारे उपचार से ही आप रोग-मुक्त हुए हैं, यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह कहा जा सकता है कि दवा मे भी शक्ति है।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन् । मैंने उनसे कहा—यह आपकी नम्रता है कि आप लोग यह अभिमान नहीं करते कि हमारे प्रयत्न से तुम्हारा रोग दूर हो गया। यह आपकी महत्ता है। किन्तु वास्तव में रोग किसी और कारण से नहीं गया है, एक महाशक्ति की आराधना से ही गया है।

मेरा यह कथन सुनकर सब के सब कह उठे—वह महाशक्ति क्या है ? उस महाशक्ति के हमें दर्शन कराओ तो हम भी उसकी पूजा करें।

राजन् । मैंने उन लोगों के प्रश्न के उत्तर में कहा—वह महाशक्ति कहीं अन्यत्र नहीं रहती, हृदय मे ही विराजमान है। आह्वान करने से उस शक्ति का विकास होता है और प्रमाद का सेवन करने से उसका ह्रास होता है।

मेरी बात सुनकर लोग कहने लगे—यह तो ठीक है, परन्तु यह

शक्ति क्या है, यह तो बतलाओ।

यह मै आप सब को बतलाऊँगा, परन्तु पहले मै आपसे पूछता हूँ कि जिस महाशक्ति की कृपा से मेरा रोग दूर हुआ, उसकी मुझे आराधना करनी चाहिए या नहीं ? अगर मैं उसकी आराधना करूँ तो आप मेरे कार्य मे बाधा तो नहीं डालेंगे ?

मेरे प्रश्न के उत्तर मे कुटुम्बी जनों ने कहा—अवश्य उस महाशक्ति की आराधना करनी चाहिए। हम प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि आपकी आराधना मे हम विघ्नबाधा उपस्थित नहीं करेंगे।

उनका यह आश्वासन सुनकर मैंने उनसे कहा—मेरा रोग सत्सकल्प से दूर हुआ है। मैने सयम धारण करने का सकल्प किया है। मैंने निश्चय किया था कि रोग शान्त होने पर मैं क्षमावान्, जितेन्द्रिय, निरारभी और प्रव्रजित बनूँगा। मेरे इस सकल्प बल से ही मेरा रोग नष्ट हुआ है। अतएव अब सकल्प के अनुसार कार्य करना चाहिए और ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा को पूर्ण करना चाहिए।

राजन्! मेरा यह कथन सुनकर, मेरे परिवार के सदस्यों को मेरे वियोग का दु ख होना स्वाभाविक था। विरह का दु ख सांसारिक जनों को होता ही है। अतएव माता-पिता को भी दु ख होना स्वाभाविक था। मगर मेरे माता-पिता सीधे-साधे और सच्चे हृदय के थे, अतएव वे पवित्र कार्य मे बाधा नहीं डाल सकते थे। सच्चे माता पिता अपनी सन्तति को सन्मार्ग मे जाने से नहीं रोकते।

गजसुकुमार जब दीक्षा लेने को तैयार हुए थे, तब उनकी माता देवकी को भी दु,ख हुआ था। गजसुकुमार का लालन-पालन बड़े

ही लाड-प्यार से हुआ था, अतएव उनके विरह से माता-पिता को दुःख होना स्वाभाविक था। किन्तु जब गजसुकुमार ने माता से पूछा—माताजी, अगर कोई शत्रु आक्रमण कर बैठे तो उस समय तुम मुझे छिपाओगी या रणभूमि मे भेजोगी ? तब महारानी देवकी ने उत्तर दिया था—पुत्र, ऐसे प्रसग पर तो मैं यही अभिलाषा रक्खूँगी कि अगर मेरा पुत्र गर्भ मे हो तो गर्भ से बाहर निकल कर लड़े।

गजसुकुमार बोले—तो माता, जब मैं कर्म शत्रुओं के साथ लडने जाता हूँ तो वीरमाता होकर क्यों मुझे रोकना चाहती हो ? और क्यों दुखी हो रही हो ?

इस प्रकार गजसुकुमार ने जब माता के सामने कर्मों द्वारा उत्पन्न होने वाले दुःख का वर्णन किया और कर्म-बन्धन से मुक्त होने का उपाय पूछा तब माता ने यही कहा—हे पुत्र ! कर्म को नष्ट करने का और कर्म पर विजय प्राप्त करने का मार्ग सयम ही है। आखिर माता देवकी तथा अन्य कुटुम्बी जन उन्हें भगवान् के समीप ले गये। भगवान् के चरणों में समर्पित करके कहने लगे—भते ! मेरा यह पुत्र कर्मों को नष्ट करना चाहता है। यह संसार के दुःखों से सन्त्रस्त है। इसे अपने चरण शरण मे लेकर इसका उद्धार कीजिए।

राजन् ! देवकी माता की तरह मेरी माता भी दुखित हुई, किन्तु जब मैंने उसे समझाया तब उसने भी संयम ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी।

कहा जा सकता है कि सयम धारण करना यदि श्रेष्ठ कार्य है

तो फिर उसके लिए माता-पिता आदि की स्वीकृति लेने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु ज्ञानियों ने ऐसी मर्यादा बाँधी है। इस मर्यादा के पीछे उनका क्या अभिप्राय है ? और इस मर्यादा का पालन करने से किस व्यवहार की रक्षा होती है, इत्यादि विवेचन करने का अभी समय नहीं है। किसी दूसरे प्रसग पर उसका विवेचन किया जा सकेगा।

सकल्प का निर्वाह करना तो वीरों का ही कार्य है। कहने वालों की कमी नहीं है, किन्तु कहने के अनुसार कार्य कर दिखलाने वाले ही प्रशसा के पात्र होते हैं। सुभद्रा ने धन्ना सेठ से कहा था—मेरा भाई (शालिभद्र) प्रतिदिन एक-एक पत्नी का परित्याग करता है। इसमे कायरता की क्या बात है ? कहना आसान है, कर दिखलाना बहुत कठिन है। जो त्याग करता है उसी को पता चलता है।

सुभद्रा का उत्तर सुनकर धन्नाजी बोले—ठीक है, कुलीन स्त्री इसी प्रकार उपदेश दिया करती है। तुमने मुझे उपदेश दिया है, परन्तु कहना जितना कठिन है, कर दिखलाना उतना कठिन नहीं है। देखो, अब मैं करके दिखलाता हूँ। इस प्रकार कह कर उन्होंने उसी समय गृहत्याग करके सयम धारण किया।

आशय यह है कि जो कहने के अनुसार कर बतलाता है, वही वीर है। सकल्प का पालन करने के लिए वीरता की आवश्यकता है।

अनाथी मुनि निश्चय से तो सकल्प करते ही साधु हो गये थे, किन्तु जैसे हीरा और उसकी कान्ति—इन दोनों की आवश्यकता है,

उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार—दोनों की आवश्यकता है। हम लोग एकदम व्यवहार का त्याग करके निश्चय मे नहीं आ सकते। इसीलिए शास्त्र मे कहा है—'हे राजन्। मैंने अपने बन्धु-बांधवों से अनुमति लेकर सयम धारण किया।' अनाथी मुनि ने निश्चय से तो सयम धारण कर लिया था, फिर भी व्यवहार को प्रकट करने के लिए यह बात कही है। शास्त्र के सिद्धान्त मौलिक हैं और यह मौलिक सिद्धान्त निश्चय और व्यवहार-दोनों का आश्रय लेकर ही हैं, यह बात सिद्ध करने के लिए मैं तैयार हूँ।

शास्त्र मे दोनों—निश्चय और व्यवहार का प्रतिपादन किया गया है। यही बतलाने के लिए यहाँ यह कहा गया है कि मैंने भाई-बंदों से पूछ कर दीक्षा ली। निश्चय मे सयम की भी आवश्यकता है और व्यवहार से भी सयमी होने की आवश्यकता है। निश्चय मे व्रत होना चाहिए और व्यवहार मे सयमी का लिग भी होना चाहिए। यही जिनेन्द्रदेव का मार्ग है।

यों तो किसी-किसी को गृहस्थलिग मे ही केवल ज्ञान हो जाता है और कोई-कोई अन्यलिग मे भी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, फिर भी सिद्धि प्राप्त करने के लिए लिंग की आवश्यकता है। जैसे किसी-किसी जीव को उपदेश के बिना ही, स्वाभाविक रूप से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है और किसी-किसी को उपदेश श्रवण से सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, किन्तु सम्यक्त्व प्राप्त करने का राजमार्ग तो उपदेश ही है। इसी प्रकार निश्चय की आवश्यकता तो है ही, परन्तु एकान्त निश्चय का अवलम्बन करके व्यवहार का त्याग कर देना राजमार्ग नहीं है। राजमार्ग तो निश्चय के साथ व्यवहार रखना

ही है। मुनि निश्चय मे तो संकल्प द्वारा पूर्ण रूप से साधु हो गये थे। उनकी साधुता मे कुछ कमी होती अर्थात् उनका संकल्प अधूरा या डगमगाता हुआ होता तो ऐसी अवस्था मे कदाचित् रोग का समूल नाश ही न होता। किन्तु उन्होंने दृढ़ सकल्प किया था, निश्चय से वह साधु बन गये थे, फिर भी व्यवहार की रक्षा करने के लिए उन्होंने अपने भाइयों से पूछकर दीक्षा ली। भाइयों की अनुमति लेने मे उनका आशय निश्चय के साथ व्यवहार की रक्षा करना था।

अनाथी मुनि ने जब अपने कुटुम्बी जनों से दीक्षा लेने के लिए पूछा होगा, तब उनके कुटुम्बियों को कितना दु ख हुआ होगा। वे मन मे क्या सोचते होंगे, वे सोचते होंगे—'इनका रोग चला गया है तो अब ससार के सुख भोगेंगे, किन्तु यह तो स्वस्थ होते ही संयम लेने के लिए उद्यत हो गये।'

अनाथी मुनि सयम लेने के लिए तैयार हुए, फिर भी क्या कोई कुटुम्बी ऐसी भावना कर सकता है कि—यह रोगी होकर पडे रहते तो ठीक था। नहीं, ऐसा कोई कुटुम्बी विचार नहीं कर सकता। उन्होंने तो यही सोचा होगा कि जिनकी कृपा से रोग दूर हुआ है, उनकी शरण मे जाना ही उचित है। ऐसा सोचने पर भी कुटुम्बीजनों को विरह की वेदना होना स्वाभाविक है। इसी कारण माता-पिता की वेदना प्रकट भी हुई होगी।

अनाथी मुनि कहते हैं—जब मैंने सयम ग्रहण करने की अपनी मनो-भावना प्रकट की, तो मेरे घर वालों को बहुत दुःख हुआ। सब एक दूसरे की ओर देखने लगे और अपने-अपने नेत्रों

से आसू टपकाने लगे। मैं उन्हें अत्यन्त प्रिय था, इसी कारण मेरी बात सुन कर उन्हें बहुत दुःख हुआ। मैंने उन्हे दुखी देखकर कहा–आप क्यों व्यर्थ दुखी हो रहे हैं? हर्ष के प्रसग पर विषाद की लहरें क्यों उठनी चाहिए? मैं वेदना का अनुभव कर रहा था, वैद्य आदि की चिकित्सा कारगर नहीं हो रही थी। उसी वेदना में मेरी मृत्यु हो जाती तो आपको धैर्य धारण करना पडता या नहीं? फिर जिस संयम की महाशक्ति से मैं स्वस्थ हुआ हूँ, उसकी शरण में जाने के समय आप धैर्य रखकर, प्रसन्नता के साथ, स्वीकृति देने मे क्यों सकोच करते हैं? इस प्रकार वहुत समझाने-बुझाने पर उन्होंने मुझे सयम ग्रहण करने की स्वीकृति दी।

कुटुम्बी जनों की स्वीकृति प्राप्त होने पर मैंने गृह त्याग कर साधु धर्म अङ्गीकार कर लिया।

> तओऽहं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य।
> सव्वेसि चेव भूयाणं, तसाणं थावराण य॥ ३५॥

अर्थ—सयम ग्रहण करने के पश्चात् मैं अपना नाथ बन गया और साथ ही पर का भी नाथ वन गया। मैं समस्त त्रस और स्थावर भूतों का नाथ वन गया।

व्याख्या—राजन्। जब तक मैंने संयम धारण नहीं किया था, मैं अनाथ था, किन्तु सयम धारण करते ही मैं सनाथ हो गया। अब मैं अपना भी नाथ हूँ और दूसरों का भी नाथ हूँ। मै प्राणी मात्र का नाथ बन गया हूँ। जगत् के दृश्य और अदृश्य–सब त्रस, स्थावर जीवों का नाथ बन गया हूँ।

नाथ का अर्थ 'रक्षा करने वाला' होता है। इस अर्थ के अनुसार अगर अनाथी मुनि नाथ बन गये थे तो, प्रश्न उपस्थित होता है कि वे उन्होंने अपने माता-पिता की रक्षा क्यों नहीं की ? उन सब को विरह की वेदना व्याकुल बना रही थी तो फिर यह दूर क्यों नहीं की ? उनकी पत्नी सनाथा रही या अनाथा ? इस प्रकार यदि मुनि प्राणी मात्र के नाथ हुए थे तो उनके माता पिता वगैरह अनाथ कैसे रह गये ? ऐसी स्थिति मे किस प्रकार कहा जा सकता है कि मुनि सब के नाथ हो गये थे ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ससार मे नाथ उन्हीं को कहा जाता है, जिन्हे सब प्रकार की सुखसामग्री प्राप्त हो, भोग-विलास एवं खाने पीने के साधन उपलब्ध हों। जिन्हे यह साधन उपलब्ध नहीं होते वे अनाथ कहलाते हैं। परन्तु सनाथ-अनाथ का यह अर्थ व्यावहारिक है। आध्यात्मिक अर्थ दूसरा है। सनाथ का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि जो अपनी आत्मा का नाथ बन जाता है, वही दूसरों का भी बन जाता है।

प्रत्येक कार्य तीन प्रकार से होता है। सर्वप्रथम विचार होता है, फिर वचनोच्चार होता है और अन्त मे आचार होता है। सबसे पहले अन्त करण मे प्रत्येक कार्य के लिए सकल्प होता है। सकल्प के पश्चात् उसके सबध मे नि सकोच उच्चार-कथन—किया जाता है और फिर कथन के अनुसार आचरण किया जाता है। इस तरह प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति विचार से ही होती है, किन्तु कार्य की सिद्धि तो आचार से ही होती है।

अनाथ मुनि के कुटुम्बी जन दीक्षा लेने के लिए समर्थ हो सके

हों या न हो सके हों, किन्तु उनके हृदय में यह विचार अवश्य हुआ होगा कि जिसके सङ्कल्प मात्र से रोग चला जाता है, वह संयम अवश्य ग्राह्य है। उन्होंने यह भी सोचा होगा कि—'हमें इसके विरह का दुःख अवश्य है, पर हमे यह कह रहा है कि तुम अपनी आत्मा को सनाथ बनाओ।' क्या इस विचार से माता-पिता को प्रसन्नता नहीं हुई होगी ?

इस दृष्टि से मुनि अपने माता-पिता के भी नाथ हुए या नहीं ? वह मुनि तो सभी को सनाथ बनने की शिक्षा देकर सनाथ बनाते हैं। फिर भी अगर कोई मुनि की शिक्षा को शिरोधार्य न करे तो इसमे मुनि का क्या दोष है ?

मान लीजिए, किसी ने एक पाठशाला की स्थापना की और यह घोषणा की कि पाठशाला मे प्रत्येक प्रकार की शिक्षा दी जाती है। जिसकी इच्छा हो, पाठशाला मे आकर शिक्षा ले सकता है। इस प्रकार का विज्ञापन करने पर भी अगर कोई उस पाठशाला मे प्रविष्ट नहीं होता और शिक्षा नहीं लेता तो पाठशाला खोलने वाले का क्या दोष है ? इसी प्रकार मुनि अनाथता दूर करके, सनाथ होकर सब को सनाथता प्रदान करते हैं—सनाथ होने का मार्ग प्रदर्शित करते हैं, फिर भी अगर कोई सनाथता ग्रहण नहीं करता तो मुनि का क्या दोष है ? मुनि तो सब के नाथ हैं और सब को सनाथ बनाने वाले हैं।

परम कठिन व्याल ग्रसत है,

त्रसित भयो भय भारी।

चाहत अभय भैरव शरणगति,
खगपति नाथ।

एक मनुष्य को एक भयकर साँप काटने दौड़ा। वह मनुष्य साँप से अपनी रक्षा करने के लिए मेढक की शरण मे भागा गया। उसने यह भी विचार नहीं किया कि मेढक की शरण मे जाने से क्या बचाव हो सकेगा ? मेढक तो खुद ही साँप का आहार है। वह स्वय साँप से डरता है तो दूसरे की साँप से कैसे रक्षा कर सकेगा ?

और गरुड उसे बुला रहा है। वह कहता है—साँप से रक्षा करने वाला तो मै हूँ। तू मेरी शरण मे आ जा। मेरी शरण मे आने के पश्चात् साँप तेरे पास भी नहीं फटक सकता।

गरुड के इस प्रकार कहने पर भी वह मनुष्य गरुड के पास तो जाता नहीं और मेढक की शरण मे जाता है। तो क्या उस मनुष्य की मूर्खता के कारण गरुड का महत्त्व घट जाएगा ? और क्या मेढक का महत्त्व बढ़ जायगा ?

ससारी जीवों की भी यही हालत है। लोग कहते है—ससार खराब है, दु:खमय है, हेय है। मगर इस खराब ससार से बचने के लिए वे किस की शरण लेते है ? कोई स्त्री की शरण लेते है, कोई पुत्र की शरण ग्रहण करते है और किसी को धन की शरण मे ही कल्याण दिखाई देता है। मगर वे यह नहीं सोचते कि जब वही लोग ससार के भय से मुक्त नहीं हुए है तो हमारी क्या रक्षा कर सकेंगे ? इसके विपरीत, दूसरी ओर गरुड के समान परमात्मा अपने पास लोगों को बुला रहे हैं, परन्तु लोग उनकी

शरण में नहीं जाते ।

हिरदे राखीजे हो भवियन, मगलिक शरणा चार,
अरिहन्त सिद्ध साधु तणा हो, भवियन केवली भाषित धर्म,
ये चारो जपता थका हो भवियन टूटे आठा कर्म ॥

अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलप्ररूपित धर्म—यह चार संसार रूपी साँप से बचने के लिए गरुड के समान है। ससार-सर्प से बचना हो तो इन चार की शरण गहो। तुम्हारी रक्षा अवश्य होगी। भय या लोभ मे पडकर इस शरण का त्याग न करो। जो पुरुष इन चारों शरणों को स्वीकार करता है, वह सकट के समय भी नहीं घबराता है। वह स्वय नाथ बन जाता है।

अनाथी मुनि ने राजा से कहा – पर वस्तु पर अपना अधिकार जमाना अनाथता है और परवस्तु के स्वामित्व को त्याग कर आत्म-स्वरूप को समझना ही सनाथता है।

कोई अनाथ नहीं बनना चाहता। सभी की इच्छा सनाथ बनने की ही होती है, किन्तु सनाथ बनने के लिए योग्यता प्राप्त करनी चाहिए।

अभिप्राय यह है कि तुम सनाथ तो बनना चाहते हो, परन्तु इस बात पर विचार करो कि सनाथ बनने का उपाय क्या है? जो पुरुष किसी भी पर-पदार्थ का गुलाम नहीं बनना चाहता अथवा उस पर अधिकार नहीं जमाना चाहता, वही सनाथ है। अगर आप सनाथता की इस व्याख्या को अपने हृदय मे स्थान दोगे तो आपका सांसारिक जीवन व्यर्थ न जाकर सुखप्रद बन जायगा।

राजा श्रेणिक ने अनाथी मुनि को अपनी विशाल ऋद्धि बतला

कर कहा था—मेरे पास इतनी वडी ऋद्धि है । मै हाथी, घोडे तथा राज्य का स्वामी हूँ । फिर आप मुझे अनाथ क्यों कहते हैं ? परन्तु मुनि ने अपनी अनाथता का परिचय देकर राजा से कहा-- राजन् । तुम जिन वस्तुओं के कारण अपने आपको सनाथ समझते हो, उन्हों के कारण वास्तव मे अनाथ हो। इस तथ्य पर भली-भांति विचार करो ।

राजन् । तुम्हारे पास घोडे होने के कारण अपने को सनाथ समझते हो, किन्तु वह तो तुम्हारी निर्वलता का सूचक है। जो स्वय निर्वल है, वही घोडों की सहायता लेता है। अतएव घोडों की वदौलत तुम सनाथ नही, बल्कि अनाथ वने हो ।

और राजन् । तुम कहते हो कि मेरे पास घोड़ों के अतिरिक्त हाथी भी है। अतएव मैं अनाथ नहीं हूँ । पर जरा विचार तो करो कि अगर घोडे अनाथता दूर नहीं कर सकते तो हाथी सनाथ कैसे वना सकते है ? घोडों की अपेक्षा हाथियों ने तुम्हे अधिक अनाथ बनाया है । ऐसी स्थिति मे क्यों यह अभिमान करते हो कि हाथी-घोडे होने से मैं सनाथ हूँ ।

और हे राजन् । तुम कहते हो कि मेरे अधिकार मे इतना वडा साम्राज्य है, इतने बहुत गाव है, फिर मै अनाथ कैसे रहा ? परन्तु तुम जिस राज्य की वदौलत अपने को सनाथ समझते हो, वही राज्य तो तुम्हें अनाथ बनाने वाला है । इस प्रकार तुम जिन पर-पदार्थों के कारण अपने को सनाथ मान कर फूलते हो, उन्हीं के कारण वास्तव मे अनाथ बन रहे हो ।

राजन् । विचार करो कि संसार के पदार्थ मनुष्य को वस्तुतः

अनाथ बनाते हैं या सनाथ ? तुम कहते हो कि समग्र राज्य में मेरी आज्ञा चलती है, फिर मैं नाथ क्यों नहीं हूँ ? परन्तु मैं पूछता हूँ—तुम्हारी आज्ञा तुम्हारे शरीर पर चलती है या नहीं, यह तो देखो। अगर तुम्हारा शरीर ही तुम्हारी आज्ञा नहीं मानता और तुम्हारी आज्ञा के बिना ही तुम्हारे काले बाल सफेद हो गये हैं, दांत गिर गये है, नेत्रों की ज्योति मन्द हो गई है और शरीर की शक्ति क्षीण हो गई है अथवा हो सकती है, तो कैसे माना जाय कि तुम्हारी आज्ञा सर्वत्र चलती है ? तुम यह अभिमान किस प्रकार कर सकते हो कि तुम्हारा राज्य तुम्हारी इच्छा पर चल रहा है। जो अपने शरीर को भी इच्छानुसार नहीं चला सकता, वह राज्य को कैसे इच्छानुसार चला सकेगा ?

मित्रो ! मुनि के इस कथन पर आप भी विचार करो। यह शरीर और ससार के पदार्थ अलग है और आत्मा उन सब से अलग है। इस प्रकार तुम शरीर और आत्मा को भिन्न मानकर कार्य करोगे तो ससार के व्यवहार को न भी छोड़ सकोगे तो भी, तुम्हें बहुत आनन्द प्राप्त होगा।

अनाथी मुनि ने जब सम्पूर्ण हिंसा का त्याग किया था, तभी वह प्राणी मात्र के नाथ बन सके थे। इस आधार पर प्रश्न उपस्थित होता है कि- अनाथ मुनि की तरह सम्पूर्ण का त्याग करने वाले तो सनाथ बन सकते हैं, किन्तु जो ऐसा करने मे समर्थ नहीं हैं, ऐसे श्रावकों और सम्यग्दृष्टियों को क्या कहना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रावक और सम्यग्दृष्टि—दोनों ही आत्मा और शरीर को भिन्न मानकर आत्मभाव मे रमण करते हैं

और सासारिक पदार्थों के कारण अपने को सनाथ नहीं मानते। अतएव वे भी अनाथता से मुक्त हैं। राजा श्रेणिक साधु नहीं बन सके थे। सम्यग्दृष्टि ही रहे थे, फिर भी वह अनाथ नहीं रह गये थे। क्योंकि उन्होंने अनाथ मुनि का उपदेश सुनकर, सासारिक पदार्थों के कारण अपने आपको सनाथ मानने का अभिमान त्याग दिया था। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सासारिक पदार्थों को अनाथता का कारण समझने के कारण अनाथता से मुक्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है:—

भेद विज्ञान जग्यो जिनके घट,
शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन।
केलि करे शिव-मारग में,
जग माहि जिनेश्वर के लघु नंदन।
सत्य स्वरूप सदा जिनके प्रकट्यो,
अवदात मिथ्यात्व-निकन्दन।
शान्त दशा जिनकी पहिचानि,
करे कर जोरि बनारसी वन्दन॥

× × × ×

स्वारथ के साचे परमारथ के साचे चित्त,
साचे साचे बैन कहैं साचे जैन यती हैं।
काहू के विरुद्ध नाहि परजाय बुद्धि नाहिं,
आतमगवेषी न गृहस्थ है न जती है।
रिद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घट में प्रकट रूप,
अंतर की लच्छी सौं अजाचि लखपती है।

दास भगवन्त के उदास रहे जगत् से ।
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती है ॥

सम्यग्दृष्टि की भावना यही रहती है कि मेरा लक्ष्य जन्म जरा-मरण से अतीत होकर शाश्वत सिद्धि प्राप्त करना और आत्म-स्वरूप को प्रकट करता है। जैसे पनिहारी हँसती और बातें करती हुई, मस्तक पर घडा उठा कर चली जाती है, परन्तु उसका लक्ष्य घडे की ओर ही होता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रावक सांसारिक अनिवार्य कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ भी संसार के प्रपञ्चों से छुटकारा पाना ही अपना लक्ष्य मानता है। अतएव सम्यग्दृष्टि और श्रावक अनाथ नहीं वरन् सनाथ ही हैं।

अनाथी मुनि ने श्रेणिक को सनाथ अनाथ की जो व्याख्या समझाई, उसे समझ कर राजा विचार करने लगा—

मैंने इन महात्मा का नाथ बनने की बात कह कर गम्भीर भूल की है। वास्तव मे इन महात्मा का नाथ होने का विचार करना भी एक प्रकार की हिमाकत है। जब मैं स्वय ही अनाथ हूँ तो इनका या दूसरों का नाथ कैसे बन सकता हूँ ?

इस प्रकार आप भी स्वीकार करें कि परपदार्थों के कारण अनाथता आती है। जितना भी परावलम्बन है, सब अनाथता का हेतु है। ऐसा समझ कर अनाथता को दूर करने का प्रयत्न करो। इसी प्रयत्न मे आपका कल्याण निहित है।

जो अपना नाथ बन जाता है, वही दूसरों का नाथ बन सकता है। परन्तु आज इससे विपरीत ही प्रवृत्ति देखी जाती है। लोग नाथ तो बनते नहीं, दूसरों के नाथ बनने को तैयार हो जाते

हैं। परन्तु ज्ञानियों का कथन है कि पर पदार्थों पर अवलम्बित होने के कारण तुम स्वय ही अनाथ बन रहे हो तो दूसरों के नाथ किस प्रकार बन सकते हो ?

अनाथ मुनि ने मगधसम्राट् से स्पष्ट कह दिया-राजन्। तुम मेरे नाथ बनने को चले हो, मगर पहले अपने नाथ तो बनलो।

अनाथ मुनि की यह बात सभी को ध्यान मे रखनी चाहिए। जो एकदम अपने नाथ नहीं बन सकते, उन्हें भी कम से कम इतना तो स्वीकार करना ही चाहिए कि हम ससार की वस्तुओं की ममता में फँसे हुए हैं, अतएव अनाथ है।

मुनि ने राजा श्रेणिक को आपबीती सुनाकर बतलाया—मैं पहले अनाथ था और अब सनाथ हो गया हूँ। अब मै अपने आपको अपना भी नाथ मानता हूँ और दूसरों का भी नाथ मानता हूँ। अब मै समस्त त्रस और स्थावर जीवों का नाथ हूँ।

कहा जा सकता है कि कदाचित् त्रस जीवों का नाथ होना तो ठीक है, परन्तु स्थावर जीवों के नाथ किस प्रकार हो सकते हैं ? जो किसी को अपना नाथ ही नहीं मानते, उनके नाथ मुनि कैसे हो गये ?

गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर जिसने अगार रख दिये थे, मुनि उस सोमल ब्राह्मण के नाथ थे अथवा नहीं ? अगर आप इस सबध मे गभीर विचार करें तो गजसुकुमार मुनि के चरित्र में आपको अपूर्व और अद्भुत बात दृष्टिगोचर होने लगेगी।

गजसुकुमार मुनि की हत्या के समाचार सुनकर कृष्णजी क्रोध से सतप्त हो उठे। उन्होंने अरिष्टनेमि भगवान् से पूछा-मेरे ही

राज्य में मेरे भाई की हत्या करने वाला कौन है ?

कृष्ण को कुपित देखकर भगवान् ने अपने मुख-सुधाकर से सुधास्राविणी वाणी से कहा- वासुदेव ! 'क्रोध न करो । उस मनुष्य ने गजसुकुमार का वध नहीं किया, उनकी सहायता की है ।'

क्या सोमल ने सहायता करने की इच्छा से गजसुकुमार के मस्तक पर अंगार रक्खे थे ? क्या सोमल मुनि का सहायक था ? परन्तु जो महात्मा सबके नाथ बन जाते हैं, वे किसी को अपना शत्रु नहीं समझते । वे सबको अपना सहायक समझते हैं । वही सब के नाथ हैं ।

निर्ग्रन्थ प्रवचन की यह एक बड़ी विशेपता है कि यह प्राणी मात्र को अपना मित्र ही मानने का उपदेश देता है । हम लोग तो छद्मस्थ हैं, हममे आज कुछ है तो कल कुछ है । तुम निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा रक्खो और यदि हम निर्ग्रन्थप्रवचन के अनुसार सयम का पालन करके तुम्हें निर्ग्रन्थवचन सुनाएँ तो हमारी बात मानो, अन्यथा मत मानो । कोई बात निर्ग्रन्थप्रवचन के विरुद्ध हो और तुम हॉ- हॉ करो, यह बहुत बुरी बात है ।

हॉ तो भगवान् अरिष्टनेमि ने कहा—उस पुरुप ने गजसुकुमार मुनि को सहायता दी है । यद्यपि उसने मुनि के मस्तक पर उनका अपमान करने के लिए ही अंगार रक्खे थे, किन्तु जब आत्मा संसार के सब प्राणियों को आत्मवत् समझने लगता है, तब उसे शत्रु भी मित्र ही प्रतीत होते हैं । उनकी दृष्टि मे कोई शत्रु ही नहीं रह जाता । इस अपेक्षा से वह सब का नाथ ही है ।

ऊधमी बालक अपने पिता की दाढी भी खींच लेता है और

उसे थप्पड भी जमा देता है फिर भी पिता उस बालक को नहीं मारता, वरन् प्रेम के साथ थप्पड खा लेता है तो क्या उस पिता को कायर कहा जा सकता है ? और यदि पिता उस बालक को पीटे तो वीर कहा जायगा ? सच्चा बाप तो वही कहलाएगा जो अबोध बालक द्वारा दिये गये कष्ट को सहन कर ले, पर बदला लेने की भावना से बालक को न मारे। इसी प्रकार नाथ भी वही है जो दूसरों द्वारा दिये गये दुःखों को शान्ति पूर्वक सहन कर लेता है, परन्तु स्वय किसी को लेश मात्र भी कष्ट नहीं देता।

साधुओं के सबध मे भी इस बात को देखो कि उनमे यह गुण है या नहीं ? उन्हे कोई कितना ही कष्ट क्यो न दे, फिर भी वे किसी को कष्ट नही पहुँचाते। वे स्वय घोर से घोर कष्ट सह लेंगे, पर किसी और को कष्ट न देंगे। मुनि प्यास से पीडित और भूख से व्याकुल होने पर भी सचित्त पानी या सचित्त वनस्पति का उपयोग नहीं करेंगे। इस प्रकार स्वय कष्ट सहन करके भी दूसरों को—त्रस या स्थावर जीवों को—कष्ट न पहुँचाने के कारण वे उनके नाथ कहलाते हैं।

साधु मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि उपकरण किस उद्देश्य से रखते हैं ? और भिक्षा के लिए घर-घर क्यों भटकते हैं ? क्या कोई भक्त उनके निवास स्थान पर लाकर उन्हे भोजन नहीं दे सकता ? कोई न कोई ऐसा भक्त भी मिल ही सकता है। मगर, वे ऐसा भोजन नहीं लेते और घर-घर जाकर भिक्षाचर्या करते हैं। जो दुत्कारते हैं, उनके घर भी भिक्षा के लिए जाते हैं। वे जाएँ क्यों नहीं, आखिर तो सब के नाथ ठहरे न ? वह सब के नाथ है

या नहीं, इस बात की परीक्षा तो घर-घर भिक्षा माँगते समय ही हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं—बाह्य क्रिया में क्या रक्खा है ? किन्तु बाह्य क्रिया मे अगर कुछ नहीं रक्खा है तो उनमे भी क्या रक्खा है ? स्वय से क्रिया न पल सकती हो तो अपनी निर्बलता स्वीकार करनी चाहिए, किन्तु निर्ग्रन्थप्रवचन को तो दूषित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

अनाथी मुनि ने अपनी अनाथता बतलाकर राजा को यह भी बतलाया कि वे किस प्रकार सनाथ बने ? अब मुनि द्वारा दिये गये उपदेश पर विचार करना है, जो साधु और गृहस्थ सब के लिए समान रूप से उपयोगी है। सत्य तो यह है कि यही उपदेश इस कथा का मूल प्राण है। जहाँ मूल होता है, वहीं फल की आशा रक्खी जा सकती है। मूल के अभाव मे फल की आशा दुराशा मात्र है। अनाथी मुनि द्वारा प्रदत्त उपदेश ही इस कथा का, बल्कि कहना चाहिए, द्वादशागी वाणी का मूल है। मुनिराज कहते है—

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा काम दुहा धेणू अप्पा मे नन्दण वणं ॥३६॥

अर्थ—मेरा आत्मा ही वैतरणी नदी है, मेरा आत्मा ही कूट-शाल्मली वृक्ष है, मेरा आत्मा ही इच्छित वस्तु देने वाली कामधेनु है, और मेरा आत्मा ही नन्दनवन है।

व्याख्यान.—शास्त्रकारों ने, पुण्य और पाप के फल के लिए, सुख और दुःख ये दो पक्ष दिखाये हैं। यानी यह बताया है, कि पुण्य से सुख प्राप्त होता है और पाप से दुःख। इस सुख दुःख से,

धर्म का फल भिन्न है, क्योंकि धर्म का फल मोक्ष है। मोक्ष होने पर न तो कर्मजनित सुख ही है, न दु ख ही। यदि मोक्ष मे कर्मजनित सुख माना जावेगा तो फिर वहाँ दु ख का भी अस्तित्व मानना पडेगा। क्योंकि जहाँ एक पक्ष होगा वहाँ दूसरा पक्ष भी होगा ही। लेकिन मोक्ष मे, कर्मजनित दु ख का नाम भी नहीं है, इसलिए कर्मजनित सुख भी नहीं है। दु ख और सुख तो तभी तक हैं, जब तक मोक्ष प्राप्त नही हुआ है। इसलिए धर्म का फल—मोक्ष—सुख दु ख रहित है।

शास्त्रकारों ने, पाप का फल दु ख बताया है। दु ख मे भी वैतरणी नदी एव कूटशाल्मली वृक्ष के दु ख विशेष हैं। शास्त्रकारों का कथन है, कि नैरयिक को वैतरणी नदी द्वारा बडे बडे कष्ट भोगने पड़ते है। वह उसमे डूबता तथा उतराता है उसके अन्दर रहनेवाले अनेक जीव उसे काटते खाते है। इस प्रकार वैतरणी नदी द्वारा, नैरयिक को बहुत कष्ट भोगने पड़ते हैं।

नैरयिकों को नरक मे कूटशाल्मली वृक्ष से भी बहुत दु ख होता है। कूटशाल्मली वृक्ष के पत्ते तलवार की धार के समान पैने होते हैं। वे पत्ते नैरयिकों के शरीर पर गिरकर, उनके शरीर को क्षत-विक्षत करते रहते है, जिससे नैरयिकों को अपार कष्ट होता है। शास्त्रकारों के कथनानुसार, नरक मे विशेषत इन्हीं के द्वारा कष्ट होता है।

शास्त्रकारो ने पुण्य का फल, सुख बताया है। पुण्य से प्राप्त होने वाला सुख, विशेषत इच्छित वस्तु देनेवाली कामधेनु और नन्दनवन के द्वारा प्राप्त होता है। कामधेनु एक ऐसी गाय होती है, कि उससे

चाही गई समस्त वस्तुएँ प्राप्त होती है। उसका अग-प्रत्यंग विशेपता युक्त है। उसका दूध तो लाभप्रद है ही, लेकिन गोवर और मूत्र मे भी अन्धे की आंखें खोल देने का गुण होता है। इसी प्रकार नन्दन वन एक ऐसा वाग है, जिससे स्वर्गीय देवों को बहुत आनन्द मिलता है। उस वाग मे पहुँचने पर वे लोग, चिन्ता शोक-रहित हो जाते हैं।

यहाँ मुनि, सुख और दु ख दोनों पक्ष लेकर कह रहे हैं अधिक से अधिक सुखदात्री कामधेनु गाय, तथा सुखदाता नन्दनवन माना जाता है और अधिक से अधिक दु खदात्री वैतरणी नदी और दु खदाता कूटशाल्मली वृक्ष माना जाता है। लेकिन कामधेनु, नन्दनवन, वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष कोई दूसरा नही है, किन्तु हमारा आत्मा ही है।

सनाथी मुनि, सुख और दु ख की अन्तिम सीमा को लेकर कह रहे हैं कि ससार मे सुख और दु ख का दाता दूसरे को माना जाता है। कोई कहता है, कि मुझे धन सुख देता है। कोई कहता है, स्त्री सुख देती है। कोई कहता है, कि पुत्र या मित्र सुख देता है। 'कोई कहता है हाथी, घोडे, राजपाट या कामधेनु सुख देता है। कोई कहता है, कि सुख तो स्वर्ग मे ही मिल सकता है, और प्रधानत नन्दनवन ही सुखप्रद है। इसी प्रकार कोई कहता है, कि शरीर दु ख देता है। कोई कहता है कि शत्रु दु ख देता है। कोई कहता है, कि दु ख तो नरक मे है और नरक मे भी विशेपत' वैतरणी नदी एव कूटशाल्मली वृक्ष दु'खदाता है। इस प्रकार लोगों ने दूसरों को सुख या दु ख का देनेवाला मान रखा है। कोई-कोई इससे आगे

बढ़कर कहते हैं, कि सुख-दु ख देनेवाले कर्म है। शुभकर्म सुख देते है, और अशुभकर्म दु ख देते है। शुभ कर्म, सुखप्रद कामधेनु वा नन्दनवन से भेंट कराते है, और अशुभ कर्म नरक से भेंट कराते है, जहा दु ख देनेवाली वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष है। कोई कोई लोग, सुख-दु ख का दाता, काल को बताते है, कोई स्वभाव को बताते है और कोई ईश्वर को बताते है, लेकिन वास्तव मे सुख-दु ख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है, किन्तु हमारा आत्मा ही अपने आपको सुख या दु ख का देने वाला है।

जो लोग, दूसरे को सुख-दु ख देनेवाला मानते है, वे उसी प्रकार की भूल करते है, जैसी भूल कुत्ता करता है। कुत्ते को, यदि कोई लकडी से मारता है, तो वह उस लकडी से मारनेवाले को तो नहीं पकडता, और लकडी को पकड़ता है। वह समझता है, कि मारने वाली यह लकडी ही है। यद्यपि यह लकडी तो निमित्त मात्र है, मारनेवाला तो दूसरा ही है लेकिन कुत्ता, अज्ञान के वश यह नहीं समझता है। इसी प्रकार, सुख-दु ख का दाता दूसरे को मानने वाले लोग भी भूल करते है। दूसरा तो निमित्त मात्र है, सुख दु ख का देनेवाला, दूसरा कदापि नहीं हो सकता। सुख या दु ख का दाता कौन है, इस बात को सिह की तरह देखने की आवश्यकता है। सिह पर जब कोई आदमी, गोली या तीर चलाता है, तब सिह, उस गोली या तीर को नही पकड़ता, किन्तु, गोली या तीर चलाने वाले पर झपटता है। वह समझता है, कि यह गोली या तीर अपने आप नहीं आया है, किन्तु दूसरे के चलाने से आया है। इसी प्रकार दुख सुख देनेवाले—वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और

चाही गई समस्त वस्तुएँ प्राप्त होती है। उसका अग-प्रत्यंग विशेषता युक्त है। उसका दूध तो लाभप्रद है ही, लेकिन गोबर और मूत्र मे भी अन्धे की आंखें खोल देने का गुण होता है। इसी प्रकार नन्दन वन एक ऐसा बाग है, जिससे स्वर्गीय देवों को बहुत आनन्द मिलता है। उस बाग मे पहुँचने पर वे लोग, चिन्ता शोक-रहित हो जाते है।

यहाँ मुनि, सुख और दु ख दोनों पक्ष लेकर कह रहे हैं अधिक से अधिक सुखदात्री कामधेनु गाय, तथा सुखदाता नन्दनवन माना जाता है और अधिक से अधिक दु खदात्री वैतरणी नदी और दु खदाता कूटशाल्मली वृक्ष माना जाता है। लेकिन कामधेनु, नन्दनवन, वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष कोई दूसरा नही है, किन्तु हमारा आत्मा ही है।

सनाथी मुनि, सुख और दु ख की अन्तिम सीमा को लेकर कह रहे है कि ससार में सुख और दु ख का दाता दूसरे को माना जाता है। कोई कहता है, कि मुझे धन सुख देता है। कोई कहता है, स्त्री सुख देती है। कोई कहता है, कि पुत्र या मित्र सुख देता है। कोई कहता है हाथी, घोडे, राजपाट या कामधेनु सुख देता है। कोई कहता है, कि सुख तो स्वर्ग मे ही मिल सकता है, और प्रधानत· नन्दनवन ही सुखप्रद है। इसी प्रकार कोई कहता है, कि शरीर दु ख देता है। कोई कहता है कि शत्रु दु ख देता है। कोई कहता है, कि दु ख तो नरक मे है और नरक मे भी विशेषतः वैतरणी नदी एव कूटशाल्मली वृक्ष दु खदाता है। इस प्रकार लोगों ने दूसरों को सुख या दु ख का देनेवाला मान रखा है। कोई-कोई इससे आगे

बढकर कहते हैं, कि सुख-दुःख देनेवाले कर्म हैं। शुभकर्म सुख देते हैं, और अशुभकर्म दुःख देते हैं। शुभकर्म, सुखप्रद कामधेनु वा नन्दनवन से भेंट कराते हैं, और अशुभ कर्म नरक से भेंट कराते हैं, जहां दुःख देनेवाली वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष है। कोई कोई लोग, सुख-दुःख का दाता, काल को बताते हैं, कोई स्वभाव को बताते हैं और कोई ईश्वर को बताते हैं, लेकिन वास्तव मे सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नही है. किन्तु हमारा आत्मा ही अपने आपको सुख या दुःख का देने वाला है।

जो लोग, दूसरे को सुख-दुःख देनेवाला मानते हैं, वे उसी प्रकार की भूल करते हैं, जैसी भूल कुत्ता करता है। कुत्ते को, यदि कोई लकडी से मारता है, तो वह उस लकडी से मारनेवाले को तो नहीं पकडता, और लकडी को पकडता है। वह समझता है, कि मारने वाली यह लकडी ही है। यद्यपि यह लकडी तो निमित्त मात्र है, मारनेवाला तो दूसरा ही है लेकिन कुत्ता, अज्ञान के वश यह नहीं समझता है। इसी प्रकार, सुख-दुःख का दाता दूसरे को मानने वाले लोग भी भूल करते हैं। दूसरा तो निमित्त मात्र है, सुख दुःख का देनेवाला, दूसरा कदापि नहीं हो सकता। सुख या दुःख का दाता कौन है, इस बात को सिंह की तरह देखने की आवश्यकता है। सिंह पर जब कोई आदमी, गोली या तीर चलाता है, तब सिंह, उस गोली या तीर को नहीं पकड़ता, किन्तु, गोली या तीर चलाने वाले पर झपटता है। वह समझता है, कि यह गोली या तीर अपने आप नहीं आया है, किन्तु दूसरे के चलाने से आया है। इसी प्रकार दुख सुख देनेवाले—वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और

नन्दनवन आदि-किसी और को मत मानो, किन्तु यह देखो कि दु ख सुख बनाया किसने है ? इन्हें प्राप्त करने वाला कौन है ? ये सुख-दु ख आते कहाँ से हैं और किसके भेजे हुए आते हैं ? इस बात का, शेर की तरह अनुसन्धान करने पर, अन्त में यही ठहरता है कि हमारा आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन है। इसी प्रकार शत्रु, मित्र, अनुकूल, प्रतिकूल, स्वपक्षी, आदि भी हमारे आत्मा से ही बनते हैं।

मुनि जो बात कह रहे हैं, वही बात गीता में भी इस प्रकार से कही है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मनं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

—अध्याय ६ ठा

अर्थात्—अपने आत्मा से ही अपने आत्मा का उद्धार करो, गिरने मत दो। आत्मा का शत्रु या मित्र, स्वय आत्मा ही है। दूसरा कोई उत्थान या पतन करने वाला नहीं है।

सनाथी मुनि कहते है—

अप्पा कत्ता विकत्तां य दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३७ ॥

अर्थ—सुख और दु ख का उत्पादक एव विनाशक (कर्त्ता-हर्त्ता) आत्मा ही है। आत्मा ही मित्र, शत्रु, दुष्प्रतिष्ठ (दुख'पात्र) एव सुप्रतिष्ठ (सुख-पात्र) है।

व्याख्यान —मुनि कहते है, कि छोटे से लेकर वैतरणी नदी

और कूटशाल्मली वृक्ष तक के महान् दुःख आत्मा के ही पैदा किये हुए हैं, और आत्मा ही इन्हें नष्ट भी कर सकता है। इसी प्रकार, छोटे से लेकर कामधेनु एव नन्दनवन तक के महान् सुख भी आत्मा के ही पैदा किये हुए हैं, और आत्मा इन सुखों को भी नष्ट कर सकता है। समस्त दुःख-सुख का कर्त्ता आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं है।

भ्रमवश आत्मा, अपने लिए दु ख-सुख का देने और करने वाला किसी दूसरे को ही मानता है। इस वात को तो भूल ही जाता है कि सुख-दु ख मेरे ही किये हुए है, इसी से मै इन्हें भोग भी रहा हूँ, और यदि मैं चाहूँ तो इनसे निकल भी सकता हूँ। इस वात को, आत्मा किस प्रकार भूला हुआ है, यह वात एक दृष्टान्त द्वारा समझाई जाती है।

एक महल मे एक कुत्ता घुस गया। उस महल मे, चारों ओर प्रतिबिम्ब-दर्शक कॉच लगे हुए थे। कुत्ते को उन चारों तरफ लगे हुए कॉचों मे अपना प्रतिविम्व दिखाई देने लगा। अपने प्रतिबिम्ब को देखकर, कुत्ता समझने लगा, कि ये दूसरे कुत्ते हैं। वह जिधर भी देखता है, उधर उसे अपने ही समान कुत्ता दिखाई पड़ता है। यद्यपि कॉच मे दिखाई देने वाला कुत्ता, दूसरा नहीं है, उसी कुत्ते का प्रतिविम्ब है, और कॉच मे के कुत्तों को इसी कुत्ते ने बनाया है, लेकिन कुत्ता इस वात को नहीं समझता और कॉच मे दूसरे बहुत से कुत्ते समझ कर भौंकता है। यह कुत्ता आप स्वय जिस प्रकार मुह बना कर भौंकता है, उसी प्रकार कॉच-स्थित कुत्ते भी मुँह बना कर भौंक रहे है, यह देख कर,

तथा अपनी ही प्रतिध्वनि सुन कर, कुत्ता हैरान होता है, और समझता है, कि इन सब कुत्तों ने, मुझे चारों ओर से घेर लिया है, तथा मुझ पर हमला करने के लिए भौंक रहे हैं। इस प्रकार, वह अपने भ्रम से ही आप दु खी हो रहा है। दु ख देने वाला दूसरा कोई नहीं है।

ठीक इसी तरह, आत्मा, अपने आपके पैदा किये हुए दु ख भोगता है, कोई दूसरा दुःख नहीं दे रहा है, फिर भी, आत्मा यही समझता है, कि मुझे दूसरों ने दुःख दे रखा है। यदि वह कुत्ता चाहे, तो उस कॉच जटित महल से बाहर निकल कर, अपने आपको सुखी बना सकता है, जो सर्वथा उसी के अधीन है, इसी तरह यदि आत्मा भी चाहे तो अपने आपको दुःख-मुक्त और सुखी बना सकता है।

चाहे स्वर्ग का सुख हो, या नरक का दु ख, उस सुख-दु ख का कर्त्ता आत्मा ही है। आत्मा ने ही, स्वर्ग या नरक मे जाने योग्य कार्य किये है। किसी दूसरे के किये हुए कार्यों के कारण, अपना आत्मा, स्वर्ग या नरक को नहीं जा सकता। आत्मा को अपने कर्तृत्व से ही स्वर्ग नरक प्राप्त होता है। सुख-दु ख का देने वाला दूसरे को माननेवाले लोग, उपादान और निमित्त को नहीं समझते, इसीसे उन्हें यह भ्रम रहता है, कि सुख-दु ख का देने वाला दूसरा है।

कारण के विना कार्य नहीं होता। चाहे स्वर्ग के सुख हों, या नरक के दु ख, प्राप्त होते हैं कारण से ही। उन कारणों का उत्पादक स्वय आत्मा ही है। आत्मा ही, स्वर्ग या नरक प्राप्त होने के कार्य

करता है। बिना कर्म किये, स्वर्ग या नरक नहीं जाता, न सुख-दु ख ही पाता है। नरक या स्वर्ग का आयुष्य बाधने मे, कर्म बन्ध की प्रधानता है। कर्म-बन्ध अध्यवसाय से होता है और अध्यवसाय, आत्मा के अधीन है। इसलिए आत्मा ही सुख-दु ख का कर्त्ता, भोक्ता, एव हर्त्ता है।

कुछ लोग काल को नरक-स्वर्ग या सुख-दु ख का देने वाला कहते है। कुछ का कहना है, कि स्वाभाव से ही नरक या स्वर्ग प्राप्त होता है। कोई, सुख-दु ख का देनेवाला होनहार को मानते हैं, और कुछ लोग कहते हैं, कि सब कुछ ईश्वर के अधीन है वह जैसा चाहता है, वैसा हो जाता है।

कालवादी कहते है कि कर्त्ता-हर्त्ता काल ही है। वे लोग अपने कथन की पुष्टि मे कहते हैं, 'काल होने पर ही, जवानी आती है और काल होने पर ही, बुढ़ापा आता है। काल होने पर ही, स्त्रिया बालक प्रसव करती है और वृक्ष फूलते फलते है। काल होने पर ही गर्मी सर्दी और वर्षा भी होती है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य, काल से ही होता है, बिना काल, कुछ नहीं होता। इसी के अनुसार, काल होने पर, नरक जाना पड़ता है। काल होने पर, सुख मिलता है, और काल होने पर दु ख मिलता है। तात्पर्य यह कि सब कुछ काल ही करता है और काल ही सब कुछ होता भी है।'

स्वभाववादी कहता है, 'काल कर्त्ता नहीं है, किन्तु स्वभाव कर्त्ता है। जो कुछ होता है, स्वभाव से ही होता है, काल आदि किसी के किये कुछ भी नहीं होता। यदि काल ही कर्त्ता है, काल से ही सब कुछ होता है, तो काल तो सब पर बर्तता है। फिर एक का

काम होता है, और दूसरे का काम क्यों नहीं होता ? काल होने पर भी एक स्त्री के तो बालक होता है और दूसरी स्त्री के क्यों नहीं होता ? एक ही बाग के कुछ वृक्ष तो फलते हैं और कुछ वृक्ष काल होने पर भी क्यों नही फलते ? एक वृक्ष मे आम लगते हैं, दूसरे मे नींबू क्यों लगते हैं ? सब मे आम क्यों नहीं लगते ? काल तो सब पर समानता से वर्तता है, फिर इस प्रकार की विषमता क्यों ? इन बातों पर दृष्टि देने से काल, कर्त्ता नहीं ठहरता, किन्तु स्वभाव कर्त्ता ठहरता है। जो कुछ होता है, स्वभाव से ही होता है। स्वभाव होने पर ही स्त्री के बालक होते है और वृक्ष मे, फल लगते हैं। इसी प्रकार जिस वृक्ष मे, आम का फल लगने का स्वभाव होता है, उसमे, आम का फल लगता है और जिसमे नींबू का फल लगने का स्वभाव होता है उसमे, नींबू का फल लगता है। जिसमे नरक का स्वभाव होता है, वह नरक जाता है और जिसमे स्वर्ग का स्वभाव होता है, वह स्वर्ग जाता है। जिसमे सुख का स्वभाव होता है, वह सुख पाता है, और जिसमे दुःख का स्वभाव होता है, वह दुःख पाता है। इस प्रकार, सब कुछ स्वभाव से ही होता है। स्वभाव ही, प्रत्येक बात का कर्त्ता है, काल आदि कोई भी कर्त्ता नहीं है।'

होनहारवादी, काल तथा स्वभाव आदि को न कुछ बताकर कहता है, 'जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है। होनहार ही कर्त्ता है, दूसरा कोई भी कर्त्ता नहीं है। स्वभाववादी ने कालवादी को झूठा ठहरा कर, स्वभाव को कर्त्ता बताया है, लेकिन स्वभाव भी कर्त्ता नहीं है, कर्त्ता तो होनहार ही है। यदि स्वभाव

ही कर्त्ता हो, तो दो स्त्रियों में से, एक के तो पहले बालक हुआ और दूसरी के बहुत समय पश्चात बालक क्यों हुआ ? बालक उत्पन्न करने का स्वभाव तो इस दूसरी मे भी था, फिर इतने विलम्ब का क्या कारण ? स्वभाव होने पर भी पहले बालक नहीं हुआ और फिर बालक हुआ, इससे सिद्ध है, कि जो कुछ होता है, होनहार से ही होता है।'

ईश्वर को कर्त्ता मानने वाले लोग कहते हैं, 'जो कुछ होता है, वह सब ईश्वर के करने से ही होता है। काल, स्वभाव या होनहार कर्त्ता नहीं है, किन्तु ईश्वर ही कर्त्ता है। प्रत्येक बात, ईश्वर के करने से ही होती है। वह चाहता है, तो स्वर्ग भेज देता है और वह चाहता है, तो नरक भेज देता है। वह चाहता है, तो दु ख देता है और वह चाहता है तो सुख देता है। वह चाहता है तो स्त्री बालक प्रसव करती है, और वह नहीं चाहता है, तो प्रसव नहीं करती है। इस प्रकार सब कुछ ईश्वर के ही करने से होता है, किसी और के किये कुछ भी नहीं होता।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत के लोगों ने, ससार को चक्कर में डाल रखा है, लेकिन सनाथी मुनि कहते है, कि आत्मा ही कर्त्ता-हर्त्ता और भोक्ता है। दूसरा कोई न तो कर्त्ता है, न हर्त्ता है, न करानेवाला या भोगनेवाला ही है।

यद्यपि जैन-शास्त्र आत्मा को ही कर्त्ता बताते हैं, लेकिन ऊपर कहे हुए मतवादियों की युक्ति का, युक्तियुक्त उत्तर दिये बिना, साधारण लोगों की समझ मे यह बात नहीं आ सकती कि आत्मा कर्त्ता-हर्त्ता कैसे है ? इसलिए युक्ति द्वारा मतवादियों की युक्तियों का

खण्डन किया जाता है।

सबसे पहले, हम, कालवादी से पूछते है, कि काल जड़ है, या चैतन्य ? काल, चैतन्य तो हो नहीं सकता—क्योंकि, समय का नाम 'काल' है—इसलिए काल, जड़ ही ठहरता है। काल, जड है और आत्मा चैतन्य है। जड़ काल, जब अपने आपकोही नहीं समझता है, तब वह, चैतन्य आत्मा के विषय मे कुछ करने के लिए समर्थ कैसे हो सकता है ? चैतन्य आत्मा को, जड़-काल के अधीन समझना, चैतन्य आत्मा के लिए, जड काल को कर्त्ता मानना कौनसी बुद्धिमानी है ? जड काल के अधीन, चैतन्य आत्मा को मानना, चैतन्य को जड़ बनाना है। इस कारण, काल, कदापि कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

काल की ही तरह, स्वभाव के लिए भी यही प्रश्न होता है, कि 'स्वभाव' जड़ है, या चैतन्य ? यदि कहें कि जड़ है, तो फिर काल की ही तरह स्वभाव भी, चैतन्य आत्मा का कर्त्ता कैसे हो सकता है और चैतन्य आत्मा को, जड़ स्वभाव के अधीन कैसे माना जा सकता है ? यदि कहो, कि स्वभाव चैतन्य है, तो आत्मा से भिन्न है, या अभिन्न ? यदि अभिन्न है, तब तो फिर आत्मा ही कर्त्ता ठहरता है, स्वभाव, कर्त्ता कहाँ रहा ? स्वभाव, आत्मा के अधीन है। आत्मा, अपने स्वभाव को अपनी इच्छानुसार बना सकता है। क्षमावान् से क्रोधी, क्रोधी से क्षमावान्, चोर से साहूकार और साहूकार से चोर होते देखे जाते हैं। इस प्रकार, स्वभाव में परिवर्तन होता है, जो सर्वथा आत्मा के अधीन है। इसलिए, स्वभाव कर्त्ता नहीं हो सकता। यह बात दूसरी है, कि आत्मा के अधीन

रह कर, स्वभाव, कर्तृत्व मे भी भाग लेता हो, लेकिन इस कारण, स्वभाव कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। कर्त्ता तो वही कहा जावेगा, जिसकी कर्तृत्व मे प्रधानता है।

रही होनहार की बात, लेकिन होनहार तो कुछ है ही नहीं। होनहार को कर्त्ता मानना, असत् को सत् मानना है। हम होनहार-वादी से पूछते है कि एक रसोई बनानेवाला, रसोई बनाने की सब सामग्री लेकर बैठा रहे, रसोई न बनावे, किन्तु यह मानता रहे या कहा करे, कि 'रसोई बननी होगी, तो बन जावेगी।' तो क्या इस प्रकार बैठे रहने पर, रसोई बन सकती है ? यदि बिना बनाये रसोई नहीं बन सकती, तो फिर होनहार को कर्त्ता मानना तथा उसके भरोसे बैठे रहना, कैसे उचित है ? यदि होनेवाले कार्य को ही होनहार कहा जावे, तो उस होनेवाले कार्य का कर्त्ता तो आत्मा ही रहा न ? जब आत्मा ही कर्त्ता है, तब फिर होनहार को कर्त्ता कैसे माना जा सकता है ?

अब ईश्वर को कर्त्ता माननेवाले लोगों से हम पूछते है, कि ईश्वर का अस्तित्व आत्मा के अन्तर्गत ही है, या आत्मा से भिन्न ? यदि आत्मा के अन्तर्गत ही ईश्वर का अस्तित्व है, तब तो चाहे ईश्वर को कर्त्ता कहो, या आत्मा को कर्त्ता कहो, एक ही बात है। फिर तो कोई मत भेद ही नहीं है। लेकिन यदि यह कहो, कि ईश्वर का अस्तित्व आत्मा से भिन्न है, ईश्वर एक व्यक्ति विशेष है और जो कुछ करता है, वही करता है, आत्मा के किये कुछ नहीं होता, तो इसका अर्थ तो यह हुआ, कि आत्मा एक मशीन है और ईश्वर उसका सचालक है। दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता

है कि आत्मा एक मिट्टी का ढेला है और ईश्वर उस मिट्टी के ढेले के बर्तन बनाने वाला कुम्हार है। या यों कहा जा सकता है कि आत्मा बन्दर है, और ईश्वर मदारी। ईश्वर-रूपी मदारी, आत्मा-रूपी बन्दर को जैसा सिखलाता और नचाता है, उसे उसी प्रकार नाचना होता है। ईश्वर को, इस प्रकार का कर्त्ता मानने पर तो बड़ी गडबड़ होती है। संसार अनावस्था दोष से परिपूर्ण हो जाता है। फिर तो धर्म करने की भी आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि, चाहे धर्म करो या पाप, होगा वही, जो ईश्वर चाहेगा। धर्म करने से कोई लाभ न होगा। इसी प्रकार, यह भी मानना होगा, कि आत्मा यदि धर्म करता है, तो ईश्वर की प्रेरणा से और पाप करता है, तो ईश्वर की प्रेरणा से। अच्छा-बुरा, ईश्वर की प्रेरणा से ही करता है। सब ईश्वर ही करता कराता है। लेकिन यदि ऐसा है, तो यह प्रश्न होता है, कि फिर आत्मा को, नरकादि के कष्ट क्यों भोगने पडते है ? आत्मा ने, स्वय तो कुछ किया नहीं, जो कुछ किया, वह ईश्वर के कराने से किया, फिर बिना किये का फल, आत्मा को क्यों भोगना पडे। ईश्वर के सम्मुख, आत्मा तो एक मिट्टी के ढेले के समान, या एक मदारी के बन्दर के समान निरधिकारी है। स्वय कुछ करने की शक्ति नहीं रखता है। फिर भी यदि ईश्वर उसे नरक भेजता है, तब तो ईश्वर अन्यायी ठहरा। उसने स्वय ही, आत्मा से बुरा काम कराया और फिर भी उसे नरक में भेज दिया, इससे अधिक अन्याय और क्या होगा ? ऐसा अन्याय तो मनुष्य भी नहीं करता। मनुष्य भी, अपने सेवक द्वारा कराये हुए अच्छे बुरे कार्य के परिणाम को, स्वयं

भोगता है, नौकर पर नहीं डालता। एक व्यापारी का मुनीम, यदि नुकसान का सौदा कर बैठता है, तो उस नुकसान को भी व्यापारी ही उठाता है, मुनीम को नहीं उठाना पड़ता। फिर जो ईश्वर स्वय ही आत्मा से पाप करावे, वही उस आत्मा को नरक भेज दे, यह न्यायोचित कैसे है? उचित तो यह है, कि ईश्वर, प्रत्येक आत्मा को कुछ न कुछ इनाम ही दे, फिर चाहे आत्मा द्वारा बुरा ही काम सम्पादन क्यों न हुआ हो। क्योंकि बुरा काम करके भी, आत्मा ने, ईश्वर की आज्ञा का पालन ही किया है, और आज्ञा का पालन करने के कारण, आत्मा तो पुरस्कार का ही अधिकारी है।

आत्मा से, ईश्वर ही सब कुछ कराता हो, आत्मा, कुछ भी अधिकार न रखता हो, तब तो फिर, ससार में, किसी प्रकार का सदुपदेश देने, या धर्म का प्रचार करने आदि की भी आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि आत्मा तो दूसरे के अधीन है, इसलिए उस पर उपदेश का कोई असर नहीं हो सकता और ईश्वर को उपदेश की आवश्यकता ही क्या है? यदि यह कहा जावे, कि ईश्वर की प्रेरणा से ही, एक आत्मा, दूसरे आत्मा को उपदेश देता है, तो यह बात ठीक नहीं जँचती। क्योंकि वही ईश्वर, चोरी त्यागने का उपदेश दिलावे और वही ईश्वर चोरी करने की प्रेरणा करे, यह कैसे सम्भव है?

ईश्वर को कर्त्ता मानने पर, इसी प्रकार के बहुत से ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते है जिनका समाधान होना कठिन है।

ईश्वर को कर्त्ता मानने वाले लोग ईश्वर-कर्तृत्व के विषय मे, एक यह दलील देते हैं, 'ईश्वर को कर्त्ता न मानने से, ससार मे

अन्याय फैल जावेगा। लोगों को, पुण्य-पाप का फल देनेवाला कोई न रहेगा। कोई भी अपराधी, स्वयं दण्ड नहीं भुगतना चाहता। स्वयं जेल जाना, किसी को भी पसन्द नहीं है। स्वेच्छापूर्वक, कोई भी दुःख नहीं सहना चाहता, सब सुख ही चाहते हैं। इसलिए, जिस प्रकार राजा के न होने पर अन्याय अपराध बढ़ जावेंगे, अपराधियों को दण्ड और अच्छे काम करनेवालों को पुरस्कार देनेवाला कोई न रहेगा, जिससे व्यवस्था मे गड़बड होगी और अशान्ति बढ़ जावेगी, इसी प्रकार, यदि ईश्वर न हो, तो पाप-पुण्य का फल कौन दे? ईश्वर कर्त्ता है, तभी तो पापियों को दण्ड और पुण्यात्माओं को सुख मिलता है। यदि ईश्वर कर्त्ता न हो, तो यह व्यवस्था न रहे।'

इस प्रकार, राजा का उदाहरण देकर, ईश्वर-कर्तृत्व सिद्ध करते हैं, लेकिन इस दलील पर भी कई प्रश्न होते हैं, सब से पहला प्रश्न तो यही होता है कि जब ईश्वर ही आत्मा से पुण्य-पाप कराता है, तब उसका फल आत्मा क्यों भोगे? दूसरा प्रश्न यह होता है कि बहुत स्थानों पर, राजा नहीं होता है, बिना राजा के ही काम चलता है, तो क्या इसी प्रकार, कहीं-कहीं बिना ईश्वर के भी काम चलता है? तीसरा प्रश्न यह है कि कहीं-कहीं राजा का अस्तित्व ही उठ गया है और सम्भव है कि सभी जगह से उठ जावे, तो क्या ऐसा ईश्वर के लिए भी हो सकता है? चौथा प्रश्न यह है कि राजा का परिवर्तन भी होता रहता है और उसके नियम भी बदलते रहते हैं, तो क्या ऐसे ही ईश्वर और उसके नियम परिवर्तनशील हैं? सबसे बड़ा प्रश्न यह होता है

कि एक आदमी, चोरी कर रहा है। यह चोरी का पाप, वह आदमी, पूर्व–पाप के दण्ड स्वरूप कर रहा है या नया पाप, कर रहा है ? यदि यह कहो, कि पूर्व पाप के दण्ड स्वरूप कर रहा है, तब तो यह अर्थ हुआ कि ईश्वर पाप का दण्ड देने के लिए, पाप कराता है। फिर तो किसी की 'चोरी मत करो' उपदेश, ईश्वरीय व्यवस्था मे हस्तक्षेप करना—अपराध होगा। यदि यह कहा जावे, कि वह चोरी करनेवाला, नया पाप कर रहा है, तो ईश्वर की प्रेरणा से कर रहा है, या स्वेच्छा से ? यदि ईश्वर की प्रेरणा से कर रहा है, तब तो यह हुआ कि ईश्वर पाप कराता है और स्वयं पाप करा कर भी, पाप का दण्ड देता है। यदि यह कहा जावे, कि पाप करने के लिए, आत्मा स्वतन्त्र है, इसीलिए वह स्वेच्छा से पाप कर रहा है, तब भी यह प्रश्न होता है, कि पाप हो जाने पर उसका दण्ड देने के बदले, ईश्वर, पाप करने वाले को पाप करने के समय ही क्यों नहीं रोक देता ? पाप करने देकर फिर दण्ड देने से, ईश्वर को क्या लाभ ? वह दयालु कहाता है, फिर किसी को दुःख मे पड़ने या किसी के पास दुःख रहने ही क्यों देता है ?

ईश्वर को कर्त्ता सिद्ध करने के लिए दी जाने वाली समस्त दलीलें, इसी प्रकार लचर ठहरती हैं। हॉ, ईश्वर को निमित्त रूप कर्त्ता तो जैन-शास्त्र भी मानते है, लेकिन ईश्वर को उपादान कर्त्ता मानने एव आत्मा को—जो प्रत्यक्ष ही कर्त्ता भोक्ता है—अकर्त्ता मानने का कोई कारण नहीं है। यदि आत्मा को ही शुद्ध-प्ररूपणा के अनुसार ईश्वर माना जावे, तब तो ईश्वर को

कर्त्ता मानने में कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन ईश्वर को व्यक्ति विशेष और आत्मा से भिन्न मान कर कर्त्ता मानना, ठीक नहीं है। गीता मे भी कहा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ॥

गीता अध्याय ५ वां।

अर्थात्—ईश्वर न तो ससार के कर्तृत्व मे है, न कर्मों की सृष्टि करने मे ही है।

इस प्रकार गीता के अनुसार भी, ईश्वर कर्त्ता नहीं है।

कर्म करने मे आत्मा स्वतत्र है, लेकिन कर्मबन्ध हो जाने पर आत्मा, कर्म के आधीन हो जाता है। फिर आत्मा को, कर्मों का अच्छा बुरा फल-विपाक या प्रदेश से-भोगना ही पडता है। कर्म का फल भुगताने वाला कोई दूसरा नहीं है, किन्तु कर्म स्वयं ही अपना फल उसी प्रकार भुगताते हैं, जिस प्रकार मिश्री और मिर्ची, अपना मीठापन और कड़ुआपन देती है। मिश्री को मुँह में रखने पर मीठापन और मिर्चे को मुँह मे रखने पर कड़ुआपन, आप ही मालूम होता है। इस मीठेपन या कड़ुएपन के देने मे, किसी और की सहायता-प्रेरणा या शक्ति नहीं होती। यदि किसी दूसरे की प्रेरणा या शक्ति से मिर्च और मिश्री, कड़ुआपन या मीठापन दे, तो इसका अर्थ यह होगा कि मिर्चे और मिश्री मे, स्वभावतः कड़ुआपन या मीठापन नहीं है। लेकिन वास्तव मे, मिर्च और मिश्री, किसी की प्रेरणा से कड़ुआपन या मीठापन नहीं देती है, किन्तु उनमे, मुँह मे रखने पर कड़ुआपन और मीठापन देने का स्वभाव ही है। ठीक इसी प्रकार, कर्म मे फल भुगताने की शक्ति स्वभावत.

है। शुभ कर्म का शुभ फल और अशुभ कर्म का अशुभ फल, कर्म अपने स्वभाव से ही भुगताते है। इसमे किसी तीसरे की आवश्यकता नहीं है। यदि कर्म का फल कोई तीसरा भुगताता हो, तो इसका अर्थ यह होगा कि कर्म अपना फल भुगताने की शक्ति नहीं रखते। लेकिन यह बात नहीं है। मिर्च और मिश्री की तरह, कर्म मे भी अच्छा-बुरा फल भुगताने की शक्ति है, इसलिए कर्म-फल भुगताने के लिए, ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती।

रही यह बात, कि फिर आत्मा, स्वर्ग या मोक्ष क्यों नहीं चला जाता? इसका उत्तर यह है, कि जैन-शास्त्र, स्वर्ग को भी कर्म-फल भोगने का वैसा ही एक स्थान मानते हैं, जैसा कि नरक को। हाँ, यह अन्तर अवश्य मानते है, कि स्वर्ग मे शुभ कर्मों का फल भुगता जाता है और नरक मे अशुभ कर्मों का फल भुगता जाता है। शुभ कर्म भोगने के लिए, आत्मा को स्वर्ग जाना पड़ता है, इसलिए यदि आत्मा स्वर्ग चला भी गया, तब भी कोई विशेषता की बात नहीं हुई। अब केवल मोक्ष जाने की बात रही, लेकिन जब तक आत्मा के साथ कर्म है, आत्मा, मोक्ष जा ही कैसे सकता है और कर्म-रहित होने पर आत्मा को मोक्ष से रोक ही कौन सकता है? कर्म रहित आत्मा का नाम ही 'मुक्तात्मा' है। आत्मा के साथ कर्म न होने को ही मोक्ष कहते हैं। यदि आत्मा अपने कर्मों को नष्ट कर दे, तो वह मुक्त ही है।

साराश यह, कि काल, स्वभाव, होनहार, या ईश्वर को कर्त्ता मानना, भयंकर भूल है। इस भूल से, आत्मा, अनाथता मे पड़ता है। कर्त्ता, कोई दूसरा नहीं है, किन्तु आत्मा ही है। इसी-

प्रकार, फल देने वाला भी कोई दूसरा नहीं है, किन्तु कर्म, अपना फल आप ही भुगता देते है। इसलिए आत्मा ही कर्त्ता, हर्त्ता और भोक्ता है।

कुछ लोग कहते हैं, कि जो कुछ होता हैं, कर्म से होता है। इस प्रकार, वे सब भलाई-बुराई कर्म पर ही डाल देते हैं, लेकिन यह नहीं विचारते कि ये कर्म, किये हुए किसके हैं? कर्म का करने वाला कर्त्ता कौन है? कर्म आत्मा के किये बिना आप ही आप नहीं आये हैं। आत्मा के करने से ही आये हैं। जब आत्मा के करने से ही कर्म आये हैं और अपना अच्छा बुरा फल देते हैं, तब कर्म के कर्त्ता—आत्मा छोड़कर, कर्म को दोष देने से क्या लाभ? यह तो वही कुत्ते की सी बात हुई, जो लकड़ी मारने वाले को न पकड़ कर, लकड़ी को पकड़ता है। कर्म तो आत्मा के किये हुए हैं और आत्मा उन्हें नष्ट करने की शक्ति भी रखता है। उन बेचारों की क्या शक्ति है, जो आत्मा के किये बिना ही, आत्मा को अच्छा बुरा फल भुगतावे। कोई आदमी अपने मुँह में मिर्च रख ले, और जब मुँह जलने लगे, तब मिर्च को दोष दे, तो ऐसे आदमी का मिर्च को दोप देना मूर्खता के सिवा और क्या कहा जावे? मिर्च की ही तरह कर्मों का तो शुभाशुभ फल देना, स्वभाव ही है। यदि आत्मा, कर्म मे लिप्त न हो तो वे कर्म, शुभाशुभ फल दे ही कैसे सकते हैं? इस प्रकार बेचारे कर्म, निर्दोष है।

तात्पर्य यह कि वैतरणी नदी एव कूटशाल्मली वृक्ष ऐसा दुःख देने वाला, तथा कामधेनु और नन्दनवन ऐसा सुख देने वाला

आत्मा ही है। यही बात अनाथता और सनाथता के लिए भी है। आत्मा, अनाथ भी अपने आप ही होता है और सनाथ भी अपने आप ही होता है। कोई दूसरा न तो रुष्ट होकर अनाथ बना सकता है न तुष्ट होकर सनाथ बना सकता है।

अब प्रश्न यह होता है, कि आत्मा, वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु या नन्दनवन बनता कैसे है ? अर्थात् कैसे कार्यों के करने से वैतरणी, कूटशाल्मली वृक्ष बनता है और कैसे कार्यों से कामधेनु, एवं नन्दनवन बनता है ? सनाथी मुनि के शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि सांसारिक गडबड मे फँस कर पाप एव निषिद्ध कार्य करना, यह तो अपने आत्मा को वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष बनाना है, तथा सांसारिक झंझटो से निकल कर, आत्मा को मोक्ष की ओर बढाना, सयम धारण करना, यह अपने आत्मा को कामधेनु एव नन्दनवन बनाना है। सनाथी मुनि कहते हैं, कि पहले मेरा आत्मा ही वैतरणी नदी और कूट-शाल्मली वृक्ष बना हुआ था, इसी से स्वय भी कष्ट भोग रहा था और दूसरों को भी कष्ट पहुचा रहा था, लेकिन अब वही मेरा आत्मा, कामधेनु और नन्दनवन बन गया है, इससे आप भी आनन्द मे है, तथा दूसरों को भी आनन्द पहुँचाता है।

राजा, जब मैं रोग-ग्रस्त था, तब कहता था कि मेरी आँखें, मेरा सिर और मेरा शरीर दुःख दे रहा है। यदि ये दु ख न दें, तो मुझे शांति हो जावे। उधर वैद्य कहते थे, कि वात-पित्त आदि मे विषमता आगई है, इससे दु ख हो रहा है। यदि वात-पित्त आदि सम हो जावें, तो दु'ख मिट जावे। उनकी समझ से, दवा,

वात पित्त को सम कर सकती थी, इसलिए, दवा ही शांति देने वाली थी। इस प्रकार मैं कुछ समझ रहा था और वैद्य कुछ कह रहे थे। अपनी समझ के अनुसार उन्होंने मेरा उपचार भी किया, लेकिन मुझे, शांति न हुई। वैद्य लोग पीडा का अवास्तविक निदान करते थे, वास्तविक निदान नहीं करते थे। यानी यह नहीं बतलाते थे, कि वास्तव में यह पीडा आई कहाँ से ? उनकी दृष्टि, अपने व्यवसाय तक ही सीमित थी, इसलिए वे, इन रोगों के होने का यह कारण न बता सके, कि ये रोग आत्मा की अनाथता से ही उत्पन्न हुए हैं। अन्त मे, उपचार की ओर से उत्पन्न निराशा एव अविश्वास ने, मेरे ही हृदय मे यह विचार पैदा किया, कि ये सब रोग, मेरे आत्मा मे से ही निकले हैं और उसकी अनाथता से उत्पन्न हुए हैं।

सनाथी मुनि ने, राजा श्रेणिक से यह कहा है कि हमारा आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन है। इस कथन पर से किसी के हृदय मे यह प्रश्न हो सकता है, कि वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष; नन्दनवन और कामधेनु का अस्तित्व है भी, या केवल कल्पना ही कल्पना है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि शास्त्रकारों को, किसी प्रकार का भय दिखाना या प्रलोभन देना अभीष्ट नहीं था, जो वे झूठी कल्पना करते। झूठी कल्पना तो तब की जाती है, जब कोई स्वार्थ हो। शास्त्रकारों ने, वैतरणी नदी एव नन्दनवन आदि बताकर यह नहीं कहा है, कि हमे कुछ दोगे, तो नन्दनवन तथा कामधेनु प्राप्त होगी और नहीं दोगे, तो वैतरणी नदी एवं कूटशाल्मली वृक्ष प्राप्त होगा। यदि उन्होंने, ऐसी

कोई योजना रखी होती, तब तो उक्त सन्देह होना स्वाभाविक था, लेकिन उन्होंने ऐसी कोई योजना नहीं रखी है—ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं किया है—इसलिए यह सन्देह नहीं किया जा सकता, कि शास्त्रकारों ने, वैतरणी नदी आदि की झूठी कल्पना की होगी। शास्त्रकारों ने, वैतरणी नदी आदि बताने के साथ ही यह भी कहा है कि तुम्हारा आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, नन्दनवन और कामधेनु है। तुम्हारी आत्मा ही, दुःख एव सुख का कर्त्ता है। इस प्रकार वैतरणी नदी तथा नन्दनवन आदि का अस्तित्व आत्मा में ही सिद्ध किया है और कहा है, कि तुम अपने आत्मा को, इनमें से चाहे जैसा बना सकते हो।

अब प्रश्न यह होता है कि वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन, हमारे आत्मा से दूर हैं और हमारा आत्मा इन से दूर है। ऐसी दशा मे, आत्मा से इन सब का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख, वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन आदि सबका विधायक आत्मा ही है। आत्मा ही विधायक है, इसलिए वैतरणी नदी तथा नन्दनवन आदि दूर होने पर भी, समीप किस प्रकार आजाते हैं और आत्मा उनके समीप किस प्रकार पहुंच जाता है, यह बात निम्न दृष्टान्त पर से समझ मे आजावेगी।

एक आदमी बीमार है। नीरोगता उससे दूर है। इसी प्रकार एक आदमी स्वस्थ है और रोग उससे दूर हैं। लेकिन रोगी आदमी ने पथ्य और स्वस्थ आदमी ने कुपथ्य का सेवन किया, इससे रोगी

आदमी स्वस्थ बन गया और स्वस्थ आदमी रोगी बन गया। यानी, बीमार आदमी से नीरोगता दूर थी फिर भी उसके पास आगई और वह बीमार नीरोगता के पास होगया। तथा स्वस्थ आदमी से रोग दूर थे, फिर भी रोग समीप आगये और वह रोगों के समीप हो गया।

ठीक इसी प्रकार, वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु एवं नन्दनवन से आत्मा और आत्मा से ये सब दूर हैं, फिर भी अच्छे या बुरे, पाप या पुण्य कार्य से, ये सब आत्मा के और आत्मा इनके समीप हो जाता है।

सनाथी मुनि ने, राजा श्रेणिक से कहा कि आत्मा ही सुख-दुःख का निर्माता एवं भोक्ता है और आत्मा ही अच्छा करने वाला मित्र, तथा बुरा करने वाला शत्रु है। सनाथी मुनि के इस कथन के प्रथमांश का विवेचन तो हो चुका, अब यह देखना है कि आत्मा अच्छा करने वाला मित्र एव बुरा करने वाला शत्रु कैसे बनता है।

सबसे पहले यह देखने की आवश्यकता है, मित्र तथा शत्रु कहते किसे हैं ? वैसे तो संसार में खाने पीने वाले बहुत से मित्र बन जाते हैं, लेकिन वे वास्तव में मित्र हैं या शत्रु, यह परीक्षा समय विशेष पर ही होती है। तुलसीदास ने कहा है:—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपत्ति काल परखिये चारी॥

अर्थात्—धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री की परीक्षा आपत्तिकाल में करो।

मित्र की परीक्षा, आपत्ति के समय में ही होती है। दुःख में

जो सहायता करे वही मित्र है। सकट के समय सहायता न करे, वह मित्र नहीं है किन्तु मित्र के रूप मे छिपा हुआ शत्रु है। श्री जम्बू महाराज ने अपनी रानियों से कहा था कि प्रिये, तुम प्रेम दिखाती हो, मित्रता बताती हो, लेकिन मित्र वही है जो सकट के समय काम आवे। केवल सुख के समय, मित्रता का प्रदर्शन करने वाला ही, मित्र नहीं है। इसके लिए मै एक दृष्टान्त देता हूॅ।

एक राजा का प्रधान था। प्रधान ने विचारा कि अपने समय असमय के लिए किसी को मित्र भी बना रखें। यह विचार कर उसने अपना एक नित्य मित्र बनाया। प्रधान, नित्य-मित्र की बहुत खातिर करता। उसे अपनी ही तरह खिलाता-पिलाता और पहनाता ओढ़ाता। नित्य-मित्र से वह किसी भी प्रकार का भेद-दुराव न रखता। नित्य-मित्र, प्रधान के और प्रधान नित्य-मित्र के साथ ही रहता। प्रधान ने, एक दूसरा पर्व-मित्र भी बनाया। वह पर्व-मित्र को आठवें, पन्द्रहवें दिन अपने यहा बुलाकर, उसकी खातिर करता, खिलाता-पिलाता और पहनाता ओढ़ाता। इन दोनों मित्रों का प्रधान को बहुत भरोसा था। प्रधान समझता था कि ये मित्र कष्ट के समय मे मेरी सब प्रकार की सहायता करेंगे। दोनों मित्रों के प्रकट व्यवहार से भी ऐसा ही प्रतीत होता था।

इन दो मित्रों के सिवा, प्रधान ने, एक सेठ को भी मित्र बना रखा था। प्रधान का, सेठ से कोई विशेष व्यवहार न था, केवल सैन जुहार का ही सम्बन्ध था। प्रधान और सेठ जब कभी इधर-उधर मिल जाते, तब परस्पर जुहार कर लेते और इशारे से एक दूसरे की कुशल पूछ लेते। इन दोनों में इतनी ही मित्रता थी।

कुछ दिनों तक मित्रों के साथ प्रधान का मित्रतापूर्ण व्यवहार चलता रहा। प्रधान के साथ नित्य-मित्र तो सदा और पर्व-मित्र यदा-कदा आनन्द उडाता रहा। इनकी परीक्षा का कोई समय न आया। एक बार राजा की प्रधान पर कोप-दृष्टि हो गई। राजा ने आज्ञा दी कि प्रधान को पकड कर कारागार मे डाल दो। राजा की आज्ञा का समाचार सुन कर प्रधान भयभीत हुआ। उसने विचारा, कि जो होना होगा सो तो होगा ही, लेकिन यदि इस समय मैं क्रुद्ध राजा के हाथ पड़ गया, तो मेरी बड़ी दुर्दशा होगी। इसलिए इस समय राजा के हाथ न पड़ना ही अच्छा है।

इस प्रकार विचार कर, प्रधान घर छोड़ कर भाग निकला। उसे सबसे अधिक अपने नित्य-मित्र का विश्वास था, इसलिए वह अपने नित्य-मित्र के पास गया। प्रधान ने नित्य-मित्र से राजा के कोप का वृत्तान्त कह कर कहा कि मेरे घर पर राजा ने पहरा लगा दिया है, मैं जैसे-तैसे निकल भागा हूँ, इस समय यदि मैं पकडा जाऊँगा, तो मेरी वडी दुर्दशा होगी, इज्जत मिट्टी मे मिल जावेगी, इसलिए तुम मुझे कहीं छिपने का स्थान दो और मुझे बचाने का प्रयत्न करो। प्रधान की बात के उत्तर मे, नित्य-मित्र ने कहा, कि जिस पर राजा का कोप है, उसे मैं अपने घर मे कदापि नहीं रख सकता। नित्य-मित्र की यह बात सुन कर, प्रधान को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह नित्य-मित्र से कहने लगा कि अरे! तू यह क्या कहता है। मैं तेरा और तू मेरा मित्र है न। आज तक अपने साथ-रहे, साथ और समान खाया पिया और आज समय पडने पर इस तरह उत्तर देता है। नित्य-मित्र ने, क्रुध हो कर प्रधानसे कहा कि,

बस । यहाँ से चला जा, नहीं तो अभी पत्थर से सिर फोड़ दूँगा या राजा को खबर देकर पकड़वा दूँगा। प्रधान अधिक क्या कहता। वह चुपचाप भाग चला।

नित्य मित्र के पास से रवाना होकर, प्रधान अपने पर्व-मित्र के यहा आया। पर्व-मित्र ने पहले तो प्रधान की खातिर की, लेकिन जब प्रधान ने अपना सकट सुना कर, पर्व-मित्र से सहायता एव रक्षा की याचना की, तब पर्व-मित्र ने हाथ जोड कर प्रधान से कहा कि मैं राजा के अपराधी को अपने यहाँ रखने मे असमर्थ हूँ। यदि राजा को खबर हो जावेगी, तो वह मेरा घर खुदवा कर फिंकवा देगा। इसलिए कृपा करके आप यहाँ से पधार जाइये। हाँ, यदि आप भूखे हों, तो मै आपको भोजन करादूँ और यदि द्रव्य की आवश्यकता हो, तो द्रव्य ले जाइये, लेकिन यहाँ मत ठहरिये।

नित्य-मित्र ने प्रधान के साथ जो व्यवहार किया था, उसके अनुभव ने, प्रधान मे यह साहस न होने दिया कि वह पर्व-मित्र से और कुछ कहता। वह, पर्व-मित्र के यहाँ से यह विचार कर चलता बना, कि इसके साथ तो मैने, नित्य-मित्र से कम ही मित्रता का व्यवहार किया था, फिर भी यह पत्थर मारने को तो तैयार नहीं हुआ।

—प्रधान, सैन जुहारी मित्र, सेठ के यहाँ गया। रात का समय था। सेठ के घर का द्वार बन्द हो चुका था। नित्य-मित्र और पर्व-मित्र की ओर से रक्षा के लिए स्थान नहीं मिलाथा किन्तु मित्रता के विपरीत व्यवहार हुआ था, इसलिए प्रधान को अपने

सैन जुहारी मित्र सेठ से किसी प्रकार की आशा तो न थी, फिर भी उसने सडक पर खडे होकर सेठ को आवाज दी, सेठ ने द्वार खोल कर पूछा कौन है ? प्रधान ने कहा इधर आइये, मैं बताता हूँ। सेठ प्रधान के समीप गया। प्रधान को देख कर सेठ ने आश्चर्यान्वित हो कहा—कि आप इस समय कैसे ? प्रधान ने उत्तर दिया, कि मुझे आपसे कुछ कहना है। सेठ ने कहा, कि कुछ कहना है, तो घर में चल कर कहिये, यहाँ सड़क पर खड़े रह कर बात करना ठीक नही। प्रधान ने कहा—कि आप मेरी बात यहीं सुन लें तो अच्छा होगा, मुझे घर मे ले जाने पर सभव है कि आपकी कोई हानि हो। क्योंकि इस समय मुझ पर राजा का कोप है। सेठ ने उत्तर दिया, कि यदि ऐसा है, तो सड़क पर खडे रह कर बात करना और भी बुरा है। आप घर मे चलिये, जो होगा सो देखा जावेगा।

सेठ, प्रधान को अपने घर में लिवा ले गया। घर मे पहुँच कर, सेठ ने, प्रधान से कहा, कि पहले आप शौचादि आवश्यक कार्य से निपट लीजिये, जिससे फिर निश्चिन्त होकर अपन बात चीत करें। सेठ के कथनानुसार प्रधान नें हाथ मुँह धोया। फिर सेठ ने, प्रधान को भोजन कराया। प्रधान को ऐसे समय मे भोजन कब अच्छा लग सकता था, फिर भी उसने सेठ के अत्यधिक आग्रह पर थोड़ा—बहुत भोजन किया। भोजन कर चुकने के पश्चात् सेठ ने प्रधान से कहा, कि अब आप सब-वृत्तान्त कहिये, परन्तु मैं आपका मित्र हूँ, इसलिए आप कोई बात छिपाइये या झूठ मत कहिये, किन्तु सच्ची २ बात बताइये, जिससे

कुछ उपाय किया जा सके। प्रधान ने यह बात स्वीकार की।

प्रधान, सेठ से कहने लगा, कि मेरे लिये मेरे विरोधी लोगों ने, राजा से अमुक अमुक बातों की चुगली की है। इन्हीं बातों पर से, राजा मुझ पर कुपित हैं, लेकिन वास्तव मे ये बातें गल्त हैं और मैं निर्दोष हूँ। यदि राजा ने मुझे अवकाश दिया होता, या मुझ से पूछा होता, तब तो मैं सब बातें बता देता परन्तु इस समय तो राजा के पास जाना, अपनी इज्जत खोना है। विरोधी लोगों ने जो बातें राजा से कही हैं, उनमे की अमुक-अमुक बात तो अमुक मिसल में, या अमुक बही मे लिखी हुई है। हाँ, अमुक बात की गल्ती मेरे से अवश्य हुई है।

प्रधान ने इस प्रकार अपने ऊपर लगाये जाने वाले सभी अभियोगों एवं उनकी सफाइयों से सेठ को परिचित कर दिया और जो भूल हुई थी, उसे भूल मान लिया। प्रधान की सब बातें सुन कर, सेठ ने प्रधान से कहा, कि कोई चिन्ता की बात नहीं है। सब कुछ अच्छा ही होगा। अब जब तक राजा की कोप-दृष्टि न मिट जावे, तब तक आप इसी घर में रहिये, किसी प्रकार का संकोच न करिये। आपने मुझे सच्ची बातों से परिचित कर दिया हैं, इसलिए परिणाम भी अच्छा ही होगा।

प्रधान को, सेठ की बातों से बहुत धैर्य मिला। वह, सेठ के यहाँ ही रहा। दूसरे दिन सेठ राजा के पास पहुँचा। राजा से, सेठ ने अपने आने की सूचना कराई। राजा ने विचारा कि यह सेठ अपने यहा कभी कभी ही आता है, और जब भी आता है, किसी न किसी काम से। आज भी यह किसी काम से

सैन जुहारी मित्र सेठ से किसी प्रकार की आशा तो न थी, फिर भी उसने सडक पर खडे होकर सेठ को आवाज दी, सेठ ने द्वार खोल कर पूछा कौन है ? प्रधान ने कहा इधर आइये, मैं बताता हूँ। सेठ प्रधान के समीप गया। प्रधान को देख कर सेठ ने आश्चर्यान्वित हो कहा—कि आप इस समय कैसे ? प्रधान ने उत्तर दिया, कि मुझे आपसे कुछ कहना है। सेठ ने कहा, कि कुछ कहना है, तो घर में चल कर कहिये, यहाँ सडक पर खड़े रह कर बात करना ठीक नही। प्रधान ने कहा—कि आप मेरी वात यहीं सुन लें तो अच्छा होगा, मुझे घर मे ले जाने पर सभव है कि आपकी कोई हानि हो। क्योंकि इस समय मुझ पर राजा का कोप है। सेठ ने उत्तर दिया, कि यदि ऐसा है, तो सडक पर खडे रह कर वात करना और भी बुरा है। आप घर मे चलिये, जो होगा सो देखा जावेगा।

सेठ, प्रधान को अपने घर में लिवा ले गया। घर मे पहुँच कर, सेठ ने, प्रधान से कहा, कि पहले आप शौचादि आवश्यक कार्य से निपट लीजिये, जिससे फिर निश्चिन्त होकर अपन बात चीत करें। सेठ के कथनानुसार प्रधान नें हाथ मुँह धोया। फिर सेठ ने, प्रधान को भोजन कराया। प्रधान को ऐसे समय मे भोजन कब अच्छा लग सकता था, फिर भी उसने सेठ के अत्यधिक आग्रह पर थोड़ा—बहुत भोजन किया। भोजन कर चुकने के पश्चात् सेठ ने प्रधान से कहा, कि अब आप सब वृत्तान्त कहिये, परन्तु मैं आपका मित्र हूँ, इसलिए आप कोई बात छिपाइये या झूठ मत कहिये, किन्तु सच्ची २ बात बताइये, जिससे

कुछ उपाय किया जा सके। प्रधान ने यह बात स्वीकार की।

प्रधान, सेठ से कहने लगा, कि मेरे लिये मेरे विरोधी लोगों ने, राजा से अमुक-अमुक बातों की चुगली की है। इन्हीं बातों पर से, राजा मुझ पर कुपित हैं, लेकिन वास्तव में ये बातें गल्त हैं और मैं निर्दोष हूँ। यदि राजा ने मुझे अवकाश दिया होता, या मुझ से पूछा होता, तब तो मैं सब बातें बता देता परन्तु इस समय तो राजा के पास जाना, अपनी इज्जत खोना है। विरोधी लोगों ने जो बातें राजा से कही हैं, उनमे की अमुक-अमुक बात तो अमुक मिसल मे, या अमुक बही मे लिखी हुई है। हाँ, अमुक बात की गल्ती मेरे से अवश्य हुई है।

प्रधान ने इस प्रकार अपने ऊपर लगाये जाने वाले सभी अभियोगों एवं उनकी सफाइयों से सेठ को परिचित कर दिया और जो भूल हुई थी, उसे भूल मान लिया। प्रधान की सब बातें सुन कर, सेठ ने प्रधान से कहा, कि कोई चिन्ता की बात नहीं है। सब कुछ अच्छा ही होगा। अब जब तक राजा की कोप-दृष्टि न मिट जावे, तब तक आप इसी घर मे रहिये, किसी प्रकार का सकोच न करिये। आपने मुझे सच्ची बातों से परिचित कर दिया हैं, इसलिए परिणाम भी अच्छा ही होगा।

प्रधान को, सेठ की बातों से बहुत धैर्य मिला। वह, सेठ के यहाँ ही रहा। दूसरे दिन सेठ राजा के पास पहुँचा। राजा से, सेठ ने अपने आने की सूचना कराई। राजा ने विचारा कि यह सेठ अपने यहा कभी कभी ही आता है, और जब भी आता है, किसी न किसी काम से। आज भी यह किसी काम से

ही आया होगा। इस प्रकार विचार कर, राजा ने सेठ को अपने पास बुलाया। उचित शिष्टाचार और थोडी बहुत इधर-उधर की बातों के पश्चात् सेठ ने प्रधान का किस्सा छेडा। सेठ ने राजा से कहा, कि प्रधानजी के विषय मे बहुत से समाचार सुनने में आये हैं, और मालूम हुआ है कि आप प्रधानजी पर रुष्ट हैं तथा प्रधान जी भाग भी गये हैं, सो क्या ये बातें सच्ची हैं? राजा ने उत्तर दिया—हॉ सेठ, प्रधान बडा बेईमान निकला। उसने राज्य का बहुत नुकसान किया और अब भाग गया, लेकिन भाग कर कहाँ जावेगा? जहाँ होगा, वहाँ से पकडवा मँगवाऊँगा और उसे दण्ड दूँगा।

सेठ—अपराधी को दण्ड तो मिलना ही चाहिए, और आप के हाथ भी बडे हैं, प्रधानजी भाग कर कहाँ जावेंगे, परन्तु प्रश्न यह है, कि प्रधान के बिना राज्य का प्रबन्ध कौन करेगा?

राजा—दूसरा प्रधान लावेंगे।

सेठ—यदि दूसरा प्रधान भी ऐसा ही बेईमान निकला तो?

राजा—उसकी जॉच करेंगे, तब रखेंगे।

सेठ—मेरी प्रार्थना यह है, कि जब आप उस नये प्रधान की जॉच करेंगे, तो पुराने प्रधान की ही जॉच क्यों न कर ली जावे? पुराने प्रधान के जिन-जिन कामों के विषय मे शिकायत है, उन-उन कामों की कागज-पत्र आदि से जाच कर ली जावे, जिसमें मालूम तो हो जावे कि वास्तव मे प्रधान की बेईमानी है, या नहीं। प्रधानजी मेरे मित्र थे, वे प्राय नित्य ही मुझे मिला करते थे और दरबार में जो काम करते उनका भी जिकर किया करते थे।

कोई योजना रखी होती, तब तो उक्त सन्देह होना स्वाभाविक था, लेकिन उन्होंने ऐसी कोई योजना नहीं रखी है-ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं किया है-इसलिए यह सन्देह नहीं किया जा सकता, कि शास्त्रकारों ने, वैतरणी नदी आदि की झूठी कल्पना की होगी। शास्त्रकारों ने, वैतरणी नदी आदि बताने के साथ ही यह भी कहा है कि तुम्हारा आत्मा ही वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, नन्दनवन और कामधेनु है। तुम्हारी आत्मा ही, दुःख एव सुख का कर्त्ता है। इस प्रकार वैतरणी नदी तथा नन्दनवन आदि का अस्तित्व आत्मा में ही सिद्ध किया है और कहा है, कि तुम अपने आत्मा को, इनमें से चाहे जैसा बना सकते हो।

अब प्रश्न यह होता है कि वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन, हमारे आत्मा से दूर हैं और हमारा आत्मा इन से दूर है। ऐसी दशा मे, आत्मा से इन सब का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख, वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृक्ष, कामधेनु और नन्दनवन आदि सबका विधायक आत्मा ही है। आत्मा ही विधायक है, इसलिए वैतरणी नदी तथा नन्दनवन आदि दूर होने पर भी, समीप किस प्रकार आजाते हैं और आत्मा उनके समीप किस प्रकार पहुच जाता है, यह बात निम्न दृष्टान्त पर से समझ में आजावेगी।

एक आदमी बीमार है। नीरोगता उससे दूर है। इसी प्रकार एक आदमी स्वस्थ है और रोग उससे दूर हैं। लेकिन रोगी आदमी ने पथ्य और स्वस्थ आदमी ने कुपथ्य का सेवन किया, इससे रोगी

आदमी स्वस्थ बन गया और स्वस्थ आदमी रोगी बन गया। यानी, बीमार आदमी से नीरोगता दूर थी फिर भी उसके पास आगई और वह बीमार नीरोगता के पास होगया। तथा स्वस्थ आदमी से रोग दूर थे, फिर भी रोग समीप आगये और वह रोगों के समीप हो गया।

ठीक इसी प्रकार, वैतरणी नदी, कूटशाल्मली वृत्त, कामधेनु एवं नन्दनवन से आत्मा और आत्मा से ये सब दूर हैं, फिर भी अच्छे या बुरे, पाप या पुण्य कार्य से, ये सब आत्मा के और आत्मा इनके समीप हो जाता है।

सनाथी मुनि ने, राजा श्रेणिक से कहा कि आत्मा ही सुख-दुःख का निर्माता एवं भोक्ता है और आत्मा ही अच्छा करने वाला मित्र, तथा बुरा करने वाला शत्रु है। सनाथी मुनि के इस कथन के प्रथमांश का विवेचन तो हो चुका, अब यह देखना है कि आत्मा अच्छा करने वाला मित्र एवं बुरा करने वाला शत्रु कैसे बनता है।

सबसे पहले यह देखने की आवश्यकता है, मित्र तथा शत्रु कहते किसे हैं? वैसे तो संसार में खाने पीने वाले बहुत से मित्र बन जाते हैं, लेकिन वे वास्तव में मित्र हैं या शत्रु, यह परीक्षा समय विशेष पर ही होती है। तुलसीदास ने कहा है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपत्ति काल परखिये चारी॥

अर्थात्—धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री की परीक्षा आपत्तिकाल में करो।

मित्र की परीक्षा, आपत्ति के समय में ही होती है। दुःख में

जो सहायता करे वही मित्र है। सकट के समय सहायता न करे, वह मित्र नहीं है किन्तु मित्र के रूप मे छिपा हुआ शत्रु है। श्री जम्बू महाराज ने अपनी रानियों से कहा था कि प्रिये, तुम प्रेम दिखाती हो, मित्रता बताती हो, लेकिन मित्र वही है जो सकट के समय काम आवे। केवल सुख के समय, मित्रता का प्रदर्शन करने वाला ही, मित्र नहीं है। इसके लिए मै एक दृष्टान्त देता हूँ।

एक राजा का प्रधान था। प्रधान ने विचारा कि अपने समय असमय के लिए किसी को मित्र भी बना रखें। यह विचार कर उसने अपना एक नित्य मित्र बनाया। प्रधान, नित्य-मित्र की बहुत खातिर करता। उसे अपनी ही तरह खिलाता-पिलाता और पहनाता ओढ़ाता। नित्य-मित्र से वह किसी भी प्रकार का भेद-दुराव न रखता। नित्य-मित्र, प्रधान के और प्रधान नित्य-मित्र के साथ ही रहता। प्रधान ने, एक दूसरा पर्व-मित्र भी बनाया। वह पर्व-मित्र को आठवें, पन्द्रहवें दिन अपने यहां बुलाकर, उसकी खातिर करता, खिलाता-पिलाता और पहनाता ओढ़ाता। इन दोनों मित्रों का प्रधान को बहुत भरोसा था। प्रधान समझता था कि ये मित्र कष्ट के समय मे मेरी सब प्रकार की सहायता करेंगे। दोनों मित्रों के प्रकट व्यवहार से भी ऐसा ही प्रतीत होता था।

इन दो मित्रों के सिवा, प्रधान ने, एक सेठ को भी मित्र बना रखा था। प्रधान का, सेठ से कोई विशेष व्यवहार न था, केवल सैन जुहार का ही सम्बन्ध था। प्रधान और सेठ जब कभी इधर-उधर मिल जाते, तब परस्पर जुहार कर लेते और इशारे से एक दूसरे की कुशल पूछ लेते। इन दोनों मे इतनी ही मित्रता थी।

कुछ दिनों तक मित्रों के साथ प्रधान का मित्रतापूर्ण व्यवहार चलता रहा। प्रधान के साथ नित्य-मित्र तो सदा और पर्व-मित्र यदा-कदा आनन्द उड़ाता रहा। इनकी परीक्षा का कोई समय न आया। एक बार राजा की प्रधान पर कोप-दृष्टि हो गई। राजा ने आज्ञा दी कि प्रधान को पकड कर कारागार मे डाल दो। राजा की आज्ञा का समाचार सुन कर प्रधान भयभीत हुआ। उसने विचारा, कि जो होना होगा सो तो होगा ही, लेकिन यदि इस समय मैं क्रुद्ध राजा के हाथ पड गया, तो मेरी बड़ी दुर्दशा होगी। इसलिए इस समय राजा के हाथ न पडना ही अच्छा है।

इस प्रकार विचार कर, प्रधान घर छोड़ कर भाग निकला। उसे सबसे अधिक अपने नित्य-मित्र का विश्वास था, इसलिए वह अपने नित्य-मित्र के पास गया। प्रधान ने नित्य-मित्र से राजा के कोप का वृत्तान्त कह कर कहा कि मेरे घर पर राजा ने पहरा लगा दिया है, मैं जैसे-तैसे निकल भागा हूँ, इस समय यदि मैं पकड़ा जाऊँगा, तो मेरी बड़ी दुर्दशा होगी, इज्जत मिट्टी मे मिल जावेगी, इसलिए तुम मुझे कहीं छिपने का स्थान दो और मुझे बचाने का प्रयत्न करो। प्रधान की बात के उत्तर मे, नित्य-मित्र ने कहा, कि जिस पर राजा का कोप है, उसे मैं अपने घर मे कदापि नहीं रख सकता। नित्य-मित्र की यह बात सुन कर, प्रधान को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह नित्य-मित्र से कहने लगा कि अरे! तू यह क्या कहता है। मैं तेरा और तू मेरा मित्र है न। आज तक अपने साथ रहे, साथ और समान खाया पिया और आज समय पड़ने पर इस तरह उत्तर देता है। नित्य-मित्र ने, क्रुध हो कर प्रधानसे कहा कि

बस। यहाँ से चला जा, नहीं तो अभी पत्थर से सिर फोड दूँगा या राजा को खबर देकर पकड़वा दूँगा। प्रधान अधिक क्या कहता। वह चुपचाप भाग चला।

नित्य मित्र के पास से रवाना होकर, प्रधान अपने पर्व-मित्र के यहा आया। पर्व-मित्र ने पहले तो प्रधान की खातिर की, लेकिन जब प्रधान ने अपना सकट सुना कर, पर्व-मित्र से सहायता एव रक्षा की याचना की, तव पर्व-मित्र ने हाथ जोड कर प्रधान से कहा कि मैं राजा के अपराधी को अपने यहाँ रखने मे असमर्थ हूँ। यदि राजा को खबर हो जावेगी, तो वह मेरा घर खुदवा कर फिकवा देगा। इसलिए कृपा करके आप यहाँ से पधार जाइये। हाँ, यदि आप भूखे हों, तो मैं आपको भोजन करादूँ और यदि द्रव्य की आवश्यकता हो, तो द्रव्य ले जाइये, लेकिन यहाँ मत ठहरिये।

नित्य-मित्र ने प्रधान के साथ जो व्यवहार किया था, उसके अनुभव ने, प्रधान मे यह साहस न होने दिया कि वह पर्व-मित्र से और कुछ कहता। वह, पर्व-मित्र के यहाँ से यह विचार कर चलता बना, कि इसके साथ तो मैंने, नित्य-मित्र से कम ही मित्रता का व्यवहार किया था, फिर भी यह पत्थर मारने को तो तैयार नहीं हुआ।

प्रधान, सैन जुहारी मित्र, सेठ के यहाँ गया। रात का समय था। सेठ के घर का द्वार बन्द हो चुका था। नित्य-मित्र और पर्व-मित्र की ओर से रक्षा के लिए स्थान नहीं मिलाथा किन्तु मित्रता के विपरीत व्यवहार हुआ था, इसलिए, प्रधान को अपने

सैन जुहारी मित्र सेठ से किसी प्रकार की आशा तो न थी, फिर भी उसने सडक पर खडे होकर सेठ को आवाज दी, सेठ ने द्वार खोल कर पूछा कौन है ? प्रधान ने कहा इधर आइये, मैं बताता हूँ। सेठ प्रधान के समीप गया। प्रधान को देख कर सेठ ने आश्चर्यान्वित हो कहा—कि आप इस समय कैसे ? प्रधान ने उत्तर दिया, कि मुझे आपसे कुछ कहना है। सेठ ने कहा, कि कुछ कहना है, तो घर मे चल कर कहिये, यहाँ सड़क पर खड़े रह कर बात करना ठीक नहीं। प्रधान ने कहा—कि आप मेरी बात यहीं सुन लें तो अच्छा होगा, मुझे घर मे ले जाने पर सभव है कि आपकी कोई हानि हो। क्योंकि इस समय मुझ पर राजा का कोप है। सेठ ने उत्तर दिया, कि यदि ऐसा है, तो सड़क पर खड़े रह कर बात करना और भी बुरा है। आप घर मे चलिये, जो होगा सो देखा जावेगा।

सेठ, प्रधान को अपने घर में लिवा ले गया। घर मे पहुँच कर, सेठ ने, प्रधान से कहा, कि पहले आप शौचादि आवश्यक कार्य से निपट लीजिये, जिससे फिर निश्चिन्त होकर अपन बात चीत करें। सेठ के कथनानुसार प्रधान ने हाथ मुँह धोया। फिर सेठ ने, प्रधान को भोजन कराया। प्रधान को ऐसे समय मे भोजन कब अच्छा लग सकता था, फिर भी उसने सेठ के अत्यधिक आग्रह पर थोड़ा—बहुत भोजन किया। भोजन कर चुकने के पश्चात् सेठ ने प्रधान से कहा, कि अब आप सब वृत्तान्त कहिये, परन्तु मैं आपका मित्र हूँ, इसलिए आप कोई बात छिपाइये या झूंठ मत कहिये, किन्तु सच्ची २ बात बताइये, जिससे

कुछ उपाय किया जा सके। प्रधान ने यह बात स्वीकार की।

प्रधान, सेठ से कहने लगा, कि मेरे लिये मेरे विरोधी लोगों ने, राजा से अमुक अमुक बातों की चुगली की है। इन्हीं बातों पर से, राजा मुझ पर कुपित हैं, लेकिन वास्तव मे ये बातें गल्त हैं और मैं निर्दोष हूँ। यदि राजा ने मुझे अवकाश दिया होता, या मुझ से पूछा होता, तब तो मैं सब बातें बता देता परन्तु इस समय तो राजा के पास जाना, अपनी इज्जत खोना है। विरोधी लोगों ने जो बातें राजा से कही हैं, उनमें की अमुक-अमुक बात तो अमुक मिसल मे, या अमुक वही मे लिखी हुई है। हाँ, अमुक बात की गल्ती मेरे से अवश्य हुई है।

प्रधान ने इस प्रकार अपने ऊपर लगाये जाने वाले सभी अभियोगों एवं उनकी सफाइयों से सेठ को परिचित कर दिया और जो भूल हुई थी, उसे भूल मान लिया। प्रधान की सब बातें सुन कर, सेठ ने प्रधान से कहा, कि कोई चिन्ता की बात नहीं है। सब कुछ अच्छा ही होगा। अब जब तक राजा की कोप-दृष्टि न मिट जावे, तब तक आप इसी घर मे रहिये, किसी प्रकार का सकोच न करिये। आपने मुझे सच्ची बातों से परिचित कर दिया हैं, इसलिए परिणाम भी अच्छा ही होगा।

प्रधान को, सेठ की बातों से बहुत धैर्य मिला। वह, सेठ के यहाँ ही रहा। दूसरे दिन सेठ राजा के पास पहुँचा। राजा से, सेठ ने अपने आने की सूचना कराई। राजा ने विचारा कि यह सेठ अपने यहां कभी कभी ही आता है, और जब भी आता है, किसी न किसी काम से। आज भी यह किसी काम से

ही आया होगा। इस प्रकार विचार कर; राजा ने सेठ को अपने पास बुलाया। उचित-शिष्टाचार और थोडी बहुत इधर-उधर की बातों के पश्चात् सेठ ने प्रधान का किस्सा छेडा। सेठ ने राजा से कहा, कि प्रधानजी के विषय मे बहुत से समाचार सुनने में आये हैं, और मालूम हुआ है कि आप प्रधानजी पर रुष्ट हैं तथा प्रधान जी भाग भी गये हैं, सो क्या ये बातें सच्ची हैं ? राजा ने उत्तर दिया—हाँ सेठ, प्रधान बडा बेईमान निकला। उसने राज्य का बहुत नुकसान किया और अब भाग गया, लेकिन भाग कर कहाँ जावेगा ? जहाँ होगा, वहाँ से पकडवा मँगवाऊँगा और उसे दण्ड दूँगा।

सेठ—अपराधी को दण्ड तो मिलना ही चाहिए और आप के हाथ भी बडे हैं, प्रधानजी भाग कर कहाँ जावेंगे, परन्तु प्रश्न यह है, कि प्रधान के बिना राज्य का प्रबन्ध कौन करेगा ?

राजा—दूसरा प्रधान लावेंगे।

सेठ—यदि दूसरा प्रधान भी ऐसा ही बेईमान निकला तो ?

राजा—उसकी जाँच करेंगे, तब रखेंगे।

सेठ—मेरी प्रार्थना यह है, कि जब आप उस नये प्रधान की जाँच करेंगे, तो पुराने प्रधान की ही जाँच क्यों न कर ली जावे ? पुराने प्रधान के जिन-जिन कामों के विषय में शिकायत है, उन-उन कामों की कागज-पत्र आदि से जाच कर ली जावे, जिसमें मालूम तो हो जावे कि वास्तव मे प्रधान की बेईमानी है, या नहीं। प्रधानजी मेरे मित्र थे, वे प्राय नित्य ही मुझे मिला करते थे और दरबार मे जो काम करते उनका भी जिकर किया करते थे।

प्रधानजी के कार्यों का बहुत समाचार मुझे भी मालूम है, इसलिए मैं भी इस जॉच मे कुछ सेवा दे सकूँगा।

राजा को सेठ की बात ठीक जँची। उसने प्रधान के विरुद्ध लगाये गये सब अभियोग, सेठ को बतलाये। सेठ ने एक एक अभियोग के लिए राजा से कहा, कि इस अभियोग के विषय में प्रधानजी ने मुझ से यह कहा था, कि अमुक फाइल मे—या अमुक बही में—सब खुलासा है। सेठ के कथनानुसार, राजा ने फाइल और बहियें देखीं, तो इसमे प्रधान की कोई बेईमानी मालूम नहीं हुई। कुछ अभियोगों के लिए सेठ ने कहा कि यह प्रधानजी से गल्ती हुई। प्रधानजी मुझसे भी कहते थे, कि अमुक काम में मेरे से अमुक गल्ती हो गई है। इतना बडा राजकाज चलाने वाले से यदि ऐसी गल्ती हो जावे तो कोई आश्चर्य या बेईमानी की बात तो नहीं हो सकती।

इस प्रकार धीरे धीरे सेठ ने राजा के सामने प्रधान को सभी अभियोगों मे निर्दोष सिद्ध कर दिया। राजा को मालूम हो गया कि प्रधान निर्दोष है, और पिशुन लोगों ने मुझ से प्रधान की झूंठी बातें कह कर, मुझे प्रधान पर कुपित किया है। मैंने भी मूर्खतावश बिना जॉच किये ही प्रधान को पकडने की आज्ञा दे दी। अच्छा हुआ जो प्रधान भाग गया, नहीं तो मैं उसकी बहुत खराबी करता।

राजा, सेठ से कहने लगा—कि आपने बहुत अच्छा किया, जो ये सब बातें बतला दीं और प्रधान को निर्दोष सिद्ध किया। वास्तव में प्रधान निर्दोष एव ईमानदार है, बेईमान लोगों की बातों मे पड़ कर ही मैंने उसकी प्रतिष्ठा पर हाथ डाला है, लेकिन अब क्या हो

सकता है ? जो होना था, वह हो चुका। अब तो केवल यह प्रश्न है कि प्रधानजी को पुनः किस प्रकार प्राप्त किया जावे। सेठ ने उत्तर दिया कि यदि आप मुझे और प्रधानजी को क्षमा करें, और प्रधानजी की प्रतिष्ठा को जो धक्का पहुचा है, उनका सम्मान बढ़ा कर उस क्षति की पूर्ति करें तो, मैं प्रधानजी को ढूँढ लाऊँ। राजा ने यह बात स्वीकार की, तब सेठ ने कहा कि प्रधानजी मेरे ही यहाँ हैं, आप पधारिये।

सेठ के साथ, हाथी घोड़े आदि सहित राजा, प्रधान को लाने के लिए सेठ के घर को चला। नगर मे भी हल्ला हो गया, कि राजा, प्रधान को लाने जा रहे हैं, इससे नगर के लोग भी राजा के साथ हो गये। गाजे बाजे से राजा, सेठ के घर पहुचा। सेठ ने घर में जा कर प्रधानजी से कहा कि चलिये, आपको राजा लेने के लिए आये हैं। सेठ की यह बात सुन कर, प्रधान घबराया। वह समझा, कि राजा मुझे पकडने आये हैं। उसने सेठ से कहा, कि क्या आप मुझे पकडा देंगे ? सेठ ने उत्तर दिया—नहीं, आप घबराइये मत, राजा आपको सम्मानपूर्वक लेने के लिए आये हैं, और द्वार पर हाथी लिये खडे हैं। राजा ने आपको निरपराधी पाया, इसी का यह परिणाम है।

सेठ की बात से, प्रधान को प्रसन्नता हुई। वह बाहर आकर राजा से मिला। राजा ने, प्रधान को हाथी पर बैठा कर शहर मे घुमाया, तथा पुनः प्रधान-पद प्रदान किया।

यह दृष्टान्त देकर, श्री जम्बू महाराज ने अपनी रानियों से पूछा—प्रिये, तुम्हारी दृष्टि में, प्रधान के तीनों मित्र मे से कौनसा

मित्र अच्छा था ? जम्बू महाराज की रानियों ने उत्तर दिया कि पहला नित्य-मित्र तो किसी काम का ही नहीं था ऐसे मित्र का तो मुँह भी न देखना चाहिए। वह तो मित्र नहीं, किन्तु मित्र के रूप मे नीच शत्रु था। दूसरा पर्व-मित्र, मध्यम है। उसने नीच नित्य-मित्र की तरह अशिष्ट व्यवहार तो नहीं किया, लेकिन मित्रता का पालन भी नहीं किया। तीसरा सैन-जुहारी मित्र, उत्तम है। उसने मित्रता का पालन करके सकट के समय मित्र की सहायता की।

जम्बू स्वामी कहने लगे, कि उस प्रधान की ही तरह, मैंने भी अपने तीन मित्र बना रखे हैं। पहला नित्य-मित्र, यह शरीर है। इस शरीर को नित्य ही नहलाता-धुलाता, सजाता पहनाता और खिलाता-पिलाता हूँ। मैं इसे दूसरा नहीं समझता। लेकिन जब कर्म रूपी राजा बदलता है, जब वृद्धावस्था या रुग्णावस्था आती है, तब, सबसे पहले यह शरीर ही धोखा देता है। उस समय यह शरीर, पत्थर मारने ऐसे काम करता है। दूसरा मित्र, कुटुम्ब परिवार है, जिसमे तुम लोग भी सम्मिलित हो। यद्यपि तुम लोग अभी मुझसे इतना प्रेम करती हो लेकिन जब कर्म रूपी राजा, मुझसे बदल कर मेरा शत्रु बनेगा, तब क्या तुम लोग, मेरी किसी प्रकार की सहायता कर सकोगी ? उस समय, पर्व-मित्र की तरह यह तो न कहोगी, कि भूखे हो, तो भोजन करा दें; दवा चाहो, तो दवा का प्रबन्ध कर दें, या हम अपने आभूषण दे दें। क्या उस समय तुम मेरी रक्षा कर सकोगी ? मुझे कोई सहायता पहुंचा सकोगी ? कदापि नहीं।

मैंने अपना तीसरा मित्र, सुधर्मा स्वामी को बना रखा है। यद्यपि सुधर्मा स्वामी हैं सैन-जुहारी मित्र ही, उनसे नित्य-मित्र और पर्व-

सकता है? जो होना था, वह हो चुका। अब तो केवल यह प्रश्न है कि प्रधानजी को पुनः किस प्रकार प्राप्त किया जावे। सेठ ने उत्तर दिया कि यदि आप मुझे और प्रधानजी को क्षमा करें, और प्रधानजी की प्रतिष्ठा को जो धक्का पहुंचा है, उनका सम्मान बढ़ा कर उस क्षति की पूर्ति करें तो, मैं प्रधानजी को ढूँढ लाऊँ। राजा ने यह बात स्वीकार की, तब सेठ ने कहा कि प्रधानजी मेरे ही यहाँ हैं, आप पधारिये।

सेठ के साथ, हाथी घोड़े आदि सहित राजा, प्रधान को लाने के लिए सेठ के घर को चला। नगर मे भी हल्ला हो गया, कि राजा, प्रधान को लाने जा रहे हैं, इससे नगर के लोग भी राजा के साथ हो गये। गाजे बाजे से राजा, सेठ के घर पहुचा। सेठ ने घर मे जा कर प्रधानजी से कहा कि चलिये, आपको राजा लेने के लिए आये हैं। सेठ की यह बात सुन कर, प्रधान घबराया। वह समझा, कि राजा मुझे पकड़ने आये हैं। उसने सेठ से कहा, कि क्या आप मुझे पकड़ा देंगे? सेठ ने उत्तर दिया—नहीं, आप घबराइये मत, राजा आपको सम्मानपूर्वक लेने के लिए आये हैं, और द्वार पर हाथी लिये खड़े हैं। राजा ने आपको निरपराधी पाया, इसी का यह परिणाम है।

सेठ की बात से, प्रधान को प्रसन्नता हुई। वह बाहर आकर राजा से मिला। राजा ने, प्रधान को हाथी पर बैठा कर शहर मे घुमाया, तथा पुनः प्रधान-पद प्रदान किया।

यह दृष्टान्त देकर, श्री जम्बू महाराज ने अपनी रानियों से पूछा—प्रिये, तुम्हारी दृष्टि मे, प्रधान के तीनों मित्र में से कौनसा

सकता है ? जो होना था, वह हो चुका। अब तो केवल यह प्रश्न है कि प्रधानजी को पुन: किस प्रकार प्राप्त किया जावे। सेठ ने उत्तर दिया कि यदि आप मुझे और प्रधानजी को क्षमा करें, और प्रधानजी की प्रतिष्ठा को जो धक्का पहुंचा है, उनका सम्मान बढ़ा कर उस क्षति की पूर्ति करें तो, मैं प्रधानजी को ढूँढ लाऊँ। राजा ने यह बात स्वीकार की, तब सेठ ने कहा कि प्रधानजी मेरे ही यहाँ हैं, आप पधारिये।

सेठ के साथ, हाथी घोड़े आदि सहित राजा, प्रधान को लाने के लिए सेठ के घर को चला। नगर में भी हल्ला हो गया, कि राजा, प्रधान को लाने जा रहे हैं, इससे नगर के लोग भी राजा के साथ हो गये। गाजे बाजे से राजा, सेठ के घर पहुंचा। सेठ ने घर में जा कर प्रधानजी से कहा कि चलिये, आपको राजा लेने के लिए आये हैं। सेठ की यह बात सुन कर, प्रधान घबराया। वह समझा, कि राजा मुझे पकड़ने आये हैं। उसने सेठ से कहा, कि क्या आप मुझे पकड़ा देंगे ? सेठ ने उत्तर दिया--नहीं, आप घबराइये मत, राजा आपको सम्मानपूर्वक लेने के लिए आये हैं, और द्वार पर हाथी लिये खड़े हैं। राजा ने आपको निरपराधी पाया, इसी का यह परिणाम है।

सेठ की बात से, प्रधान को प्रसन्नता हुई। वह बाहर आकर राजा से मिला। राजा ने, प्रधान को हाथी पर बैठा कर शहर में घुमाया, तथा पुनः प्रधान-पद प्रदान किया।

यह दृष्टान्त देकर, श्री जम्बू महाराज ने अपनी रानियों से पूछा—प्रिये, तुम्हारी दृष्टि में, प्रधान के तीनों मित्र में से कौनसा

मित्र अच्छा था ? जम्बू महाराज की रानियों ने उत्तर दिया कि पहला नित्य-मित्र तो किसी काम का ही नहीं था ऐसे मित्र का तो मुँह भी न देखना चाहिए। वह तो मित्र नहीं, किन्तु मित्र के रूप मे नीच शत्रु था। दूसरा पर्व-मित्र, मध्यम है। उसने नीच नित्य-मित्र की तरह अशिष्ट व्यवहार तो नहीं किया, लेकिन मित्रता का पालन भी नहीं किया। तीसरा सैन-जुहारी मित्र, उत्तम है। उसने मित्रता का पालन करके सकट के समय मित्र की सहायता की।

जम्बू स्वामी कहने लगे, कि उस प्रधान की ही तरह, मैंने भी अपने तीन मित्र बना रखे है। पहला नित्य-मित्र, यह शरीर है। इस शरीर को नित्य ही नहलाता-धुलाता, सजाता पहनाता और खिलाता-पिलाता हूँ। मैं इसे दूसरा नहीं समझता। लेकिन जब कर्म रूपी राजा बदलता है, जब वृद्धावस्था या रुग्णावस्था आती है, तब, सबसे पहले यह शरीर ही धोखा देता है। उस समय यह शरीर, पत्थर मारने ऐसे काम करता है। दूसरा मित्र, कुटुम्ब परिवार है, जिसमे तुम लोग भी सम्मिलित हो। यद्यपि तुम लोग अभी मुझसे इतना प्रेम करती हो लेकिन जब कर्म रूपी राजा, मुझसे बदल कर मेरा शत्रु बनेगा, तब क्या तुम लोग, मेरी किसी प्रकार की सहायता कर सकोगी ? उस समय, पर्व-मित्र की तरह यह तो न कहोगी, कि भूखे हो, तो भोजन करा दे, दवा चाहो, तो दवा का प्रबन्ध कर दें, या हम अपने आभूषण दे दें। क्या उस समय तुम मेरी रक्षा कर सकोगी ? मुझे कोई सहायता पहुंचा सकोगी ? कदापि नहीं।

मैंने अपना तीसरा मित्र, सुधर्मा स्वामी को बना रखा है। यद्यपि सुधर्मा स्वामी है सैन-जुहारी मित्र ही, उनसे नित्य-मित्र और पर्व-

मित्र की तरह कोई विशेष व्यवहार नहीं है, फिर भी उन्होंने मुझे ऐसा उपाय बताया, कि जिसके करने पर मैं, कर्मरूपी शत्रुओं से लड़ सकता हूँ और उन पर विजय प्राप्त कर सकता हूँ। उनने मुझे सिखाया है, कि तेरे आत्मा मे जो कमी है, तेरे मे जो अनाथता है उसे निकाल, फिर तेरा कोई कुछ नहीं बिगाड सकता। उन्होंने मुझसे कहा है, कि तेरा मित्र भी तू ही है और तेरा शत्रु भी तू ही है।

तात्पर्य यह, कि मित्र वही होता है, जो संकट के समय काम आये। जम्बू महाराज के कहे हुए दृष्टान्त मे, प्रधान पर लौकिक सकट था, इसलिए लौकिक मित्र ने सहायता की, लेकिन पारलौकिक सकट के समय, लौकिक मित्र सहायता नहीं कर सकता। उस समय, अपना आत्मा ही अपनी सहायता कर सकता है। क्योंकि, परलोक मे, इसका मित्र यही है, दूसरा नहीं। आत्मा स्वय का मित्र बन कर, स्वयं की सहायता तभी कर सकता है, जब वह स्वयं की मित्रता के कार्य करता हो। संकट के समय सहायता करे, वही मित्र है और जो सकट के समय काम न आवे, किन्तु सकट बढ़ा दे, वही शत्रु है।

अच्छे काम मे लगा हुआ आत्मा, स्वय का मित्र, तथा सुप्रतिष्ठ है और बुरे काम मे लगा हुआ आत्मा, स्वय का शत्र तथा दुष्प्रतिष्ठ है। उदाहरण के लिए, एक ने अपने कानों से, शास्त्र-श्रवण किया और दूसरे ने, वेश्या का गाना सुना। इन दोनों मे से, शास्त्र-श्रवण करने वाला आत्मा, स्वय का मित्र एव सुप्रतिष्ठ बना और वेश्या का शृंगार रस-पूर्ण गाना सुनने वाला आत्मा अपने आपका शत्रु एव दुष्प्रतिष्ठ बना।

आत्मा को प्राप्त इन्द्रिय, मन और बुद्धि साधनों से, दोनों ही प्रकार के काम किये जा सकते है। यानी ऐसे अच्छे काम भी किये जा सकते है, जिनसे आत्मा स्वय का मित्र और सुप्रतिष्ठ बने, और ऐसे बुरे काम भी किये जा सकते हैं, जिनसे आत्मा, स्वय का शत्रु एव दुष्प्रतिष्ठ बने। इन्द्रिय, मन, और बुद्धि के कामों पर से ही, आत्मा, मित्र, शत्रु, दुष्प्रतिष्ठ, सुप्रतिष्ठ और सनाथ या अनाथ बनता है।

सनाथ बने हुए व्यक्ति को, कभी दु ख या कष्ट तो होते ही नहीं। सासारिक लोग जिन्हे घोर से घोर कष्ट समझते हैं, उन कष्टों के समय मे भी, सनाथ बना हुआ व्यक्ति, हँसता ही रहता है। शरीर से, चर्म खींचे जाने पर भी, सनाथ बने हुए व्यक्ति को दु ख नहीं होता। वह तो यही समझता रहता है कि यह सब, मैंने ही—मेरे लिए—किया है, इसमे सुख या दुःख मानने की कौनसी बात है। सुख दु'ख मानने से, कष्ट के समय रोने एव सुख के समय हॅसने से तो और हानि है, तथा यही अनाथता बढ़ाने या अनाथता मे डालने का कारण है। मै, सनाथ तभी हूॅ, जब दु ख के समय भी हॅसता रहूॅ। दु ख को भी सुख मानने से तथा दु ख के समय भी हँसते रहने से, आत्मा की रही सही अनाथता भी दूर होगी। इस प्रकार विचार कर, सनाथ बना हुआ व्यक्ति, मृत्यु के समय भी हँसता रहता है दु'ख नहीं करता। वह जानता है कि किसी भी समय रोने से कुछ लाभ नहीं है, किन्तु ऐसा करना, आत्मा को अनाथ बनाना है। उसको, इस बात पर विश्वास रहता है, कि आत्मा और शरीर, तलवार और म्यान

की भांति, भिन्न-भिन्न हैं। 'मैं' आत्मा हूँ, शरीर, नहीं हूँ। शरीर को चाहे कोई कितना ही कष्ट दे, उससे मेरा कुछ नहीं बिगड़ सकता। मैं तो व्रती ही हूँ, जिसे कोई कष्ट दे ही नहीं सकता। मौत भी मेरा कुछ नहीं बिगाड सकती है, क्योंकि मैं अमर हूँ। सनाथ बना हुआ व्यक्ति गीता के कहे हुए निम्न श्लोक को बिलकुल ठीक मानता है। गीता में कहा है:—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक. ।
न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्यो ऽयमक्लेद्यो ऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातनः ॥

अध्याय २ रा।

अर्थात्—यह आत्मा, शस्त्र से नहीं कट सकता, इसे आग नहीं जला सकती, यह पानी से नहीं भीग सकता और इसे हवा नहीं सोख सकती। यह अछेद्य है, कट नहीं सकता, न जलाया, भिगोया या सुखाया ही जा सकता है। यह नित्य, व्यापक, स्थिर, अचल और सनातन—यानी सदा रहने वाला है।

अनाथता को त्यागकर, सनाथ बनना ही आत्म तत्व को समझ कर उसके अनुसार आचरण करना है। जो आत्म-तत्व को जान चुका, वह न तो किसी को भय देता ही है, न किसी से भयभीत ही होता है। वह, हर्ष अमरोष आदि सब से परे रहता है। गीता मे कहा है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।

शीतोष्ण-सुख दु खेषु सम संगविवर्जित' ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित ।

अर्थात्—जो शत्रु, मित्र, मान, अपमान, सर्दी, गर्मी, और सुख तथा दु ख में समान भाव रखता है, जो वासना-रहित है, जो निन्दा स्तुति मे तुल्य भावना रखता है और जो मौनी है, वही सनाथ है ।

ये, सनाथ बने हुए व्यक्ति के लक्षण हैं। इन लक्षणों से ही सनाथ व्यक्ति पहचाना जाता है।

यद्यपि सनाथी मुनि के उपदेश को सुनकर, राजा श्रेणिक अनाथता देने वाली वस्तुओं को त्याग न सका, लेकिन उसकी यह श्रद्धा अवश्य हो गई, कि ये वस्तुएँ अनाथता देने वाली हैं। अब तक, वह इन्हीं वस्तुओं को, सनाथ बनाने वाली मानता था, मनुष्य-जन्म को, भोग के लिए जानता था और संयम को, मनुष्य-जन्म का दुरुपयोग एव अपमान समझता था। लेकिन अब उसकी श्रद्धा, इसके विपरीत हो गई। अब वह, इन वस्तुओं के वास्तविक रूप को समझने लगा है। अब उसकी श्रद्धा, शुद्ध हो गई है।

शास्त्रकारों का कथन है, कि कल्याण साधने मे, श्रद्धा का शुद्ध होना आवश्यक है। श्रद्धा के अनुसार आचरण करना, न करना, अपनी अपनी शक्ति पर निर्भर है, लेकिन श्रद्धा तो शुद्ध ही होनी चाहिए। श्रद्धा शुद्ध होने पर, यदि परिस्थिति-वश किसी

बुरे कार्य में प्रवृत्त होना भी पड़ा, तो शुद्ध श्रद्धावाला उस कार्य को समझेगा बुरा ही, और शुद्ध श्रद्धा के अभाव मे, वह बुरा कार्य भी अच्छा मालूम होगा। जो आदमी, बुरे कार्य को बुरा ही, समझता है, उससे वह बुरा कार्य कभी छूट सकना सम्भव है, लेकिन जो बुरे काम को बुरा ही नहीं समझता, वह उसे क्यों छोड़ेगा ? शुद्धाचरण करना, प्रत्येक की शक्ति से परे की बात है, प्रत्येक आदमी, ऐसा करने मे समर्थ नहीं हो सकता है लेकिन शुद्ध श्रद्धा, प्रत्येक आदमी धारण कर सकता है। शुद्ध श्रद्धा के होने पर, शुद्धाचरण दुर्लभ नहीं माना जाता, लेकिन अशुद्ध श्रद्धा के होने पर, शुद्धाचरण दुर्लभ है। और यदि व्यवहार दृष्टि से किसी में शुद्धाचरण हुआ भी, तब भी, तात्विक दृष्टि से तो वह अशुद्धाचरण ही है। इसी कारण शास्त्र मे कहा है—

सद्धा परम दुल्लहा।

अर्थात्-श्रद्धा होना बहुत दुर्लभ है।

राजा श्रेणिक की श्रद्धा, अब तक अशुद्ध थी, लेकिन अब शुद्ध हो गई। इस शुद्ध श्रद्धा से—सयम न ले सकने पर भी—राजा श्रेणिक ने, तीर्थङ्कर गोत्र बाँध लिया। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के लिए, शुद्ध श्रद्धा धारण करना, उचित एवं आवश्यक है। जब तक श्रद्धा शुद्ध न हो, तब तक कैसा भी ऊँचा धर्म क्यों न हो, प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु शुद्ध श्रद्धा होने पर, ऊँचे धर्म को प्राप्त करना, कोई कठिन कार्य नहीं है।

आत्मा को, यह सर्वोत्तम मनुष्य शरीर, बड़े पुण्य से प्राप्त हुआ है। यह शरीर प्राप्त होने से पूर्व, आत्मा ने, न मालूम कौन

कौन-से शरीर धारण किये थे, और न मालूम कैसे-कैसे कष्टों को सहा था। अनन्त काल तक, अन्य-अन्य शरीर धारण करते रहने के पश्चात, इसे यह शरीर प्राप्त हुआ है।

यह मनुष्य शरीर, कैसा उत्कृष्ट है, यह बात तभी मालूम हो सकती है, जब इसकी तुलना दूसरे जीव के शरीर से की जावे। किसी वस्तु की विशेष कीमत तभी मानी जाती है, जब वह वस्तु, अन्य वस्तुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रतीत हो। इसी प्रकार, मनुष्य शरीर की विशेषता भी तभी ज्ञात हो सकती है, जब इसकी तुलना, पशु, पक्षी आदि के शरीर से करके देखी जावे। वैसे तो, आख, नाक, कान, आदि पशु के भी होते हैं और मनुष्य के भी, बल्कि मनुष्य की अपेक्षा पशु के बडे होते है, फिर भी पशु-शरीर की अपेक्षा, मनुष्य शरीर बडा ठहरता है। क्योंकि, पशु मे, विवेक नहीं है। पशु शरीर और पशु की इन्द्रियॉ, विवेक-रहित है। लेकिन मनुष्य मे विवेक है, मनुष्य-शरीर और मनुष्य की इन्द्रियॉ, विवेक सहित हैं। विवेक अपना लाभ-हानि विचार कर सकने की शक्ति-होने से, मनुष्य शरीर, अन्य समस्त जीवों के शरीर से उत्कृष्ट माना जाता है। ऐसा उत्कृष्ट शरीर प्राप्त होना, कम पुण्य की बात नहीं है।

मनुष्य शरीर प्राप्त होना तो बडे पुण्य का फल है ही, लेकिन स्वास्थ्य, एव सर्वाङ्ग सम्पन्न मनुष्य-शरीर का प्राप्त होना, और भी महान् पुण्य का फल है। क्योंकि मनुष्य-शरीर पाकर भी बहुत से लोग, अँधे, बहरे, गूँगे, या पगु आदि होते है। बहुत से मनुष्य, जन्मजात पागल, बुद्धिहीन या और किन्हीं रोगों से घिरे होते है। यदि ऐसे लोगों मे पुण्य की कमी न होती, तो इस

प्रकार का क्यों होना पडता ? उनमें पुण्य की कमी है, स्वस्थ एव सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण मनुष्य की अपेक्षा, वे, कम पुण्यवान हैं, तभी वे, अङ्गहीन या रोगी हैं। इस प्रकार, पशु-शरीर की अपेक्षा मनुष्य-शरीर उत्तम है और अस्वस्थ एव अङ्गहीन मनुष्य-शरीर की अपेक्षा स्वस्थ एव सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण मनुष्य-शरीर, बड़े पुण्य से प्राप्त हुआ है, यह बात स्पष्ट है।

अब देखना यह है, कि ऐसा सर्वोत्तम मनुष्य-शरीर पाकर करना क्या चाहिए ? यदि इसे खाने-पीने या विषय भोग में ही लगा दिया, तब तो इसे उत्कृष्ट माने जाने का कोई कारण नहीं रहता। क्योंकि, यह कार्य्य तो पशु-शरीर से भी हो सकता है। वल्कि इस विपय मे, मनुष्य की अपेक्षा पशु, कहीं बढे हुए होते हैं। इसलिए खाने-पीने और दुर्विपय भोग मे लगने के कारण मनुष्य-शरीर उत्कृष्ट नहीं माना जा सकता। मनुष्य-शरीर, इसलिए उत्कृष्ट माना जाता है, कि इस शरीर को पाकर, आत्मा, अपने आप को सनाथ वना सकता है, जन्म-मरण से मुक्त कर सकता है और समस्त कष्टों का अन्त करके, अक्षय सुख प्राप्त कर सकता है। यह न करके, यदि मनुष्य-शरीर को सांसारिक विषय-भोग में डाल दिया, तवँ तो इस उत्कृष्ट शरीर द्वारा वह काम किया, जो काम निकृष्ट माने जानेवाले पशु पक्षी के शरीर मे भी नहीं किया गया था। पशु पक्षी के शरीर मे तो आत्मा ने, शुद्ध परिणाम रखने की वह करणी की, जिससे यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ। लेकिन मनुष्य शरीर पाकर, दुर्विपय-भोग मे पड़ा हुआ आत्मा, वह करणी कर रहा है, जिससे नरक-निगोद मे पड़े।

आत्मा को, शरीर के साथ ही जो विवेक प्राप्त हुआ है, भोग प्रवृत्त होने वाला, इस विवेक का दुरुपयोग कर रहा है। यद्यपि विवेक द्वारा दुर्विषय-भोग से निवृत्ति के कार्य्य करने चाहिए, लेकिन दुविषय-भोग मे प्रवृत्त आत्मा, विवेक द्वारा दुर्विषय-भोग मे अधिकाधिक प्रवृत्त होने के कार्य्य करता है, विवेक को, भोग की सुविधा ढूँढने मे लगाता है, अधिकाधिक भोग प्राप्त करने मे लगाता है, तथा उस नीति को भग करने मे लगाता है, जिस नीति का पालन पशु भी करते हैं। मनुष्य शरीर भोग से निवर्तने के लिए है, भोग मे प्रवृत्त होने के लिए नही। भोग मे प्रवृत होना, मनुष्य शरीर के ध्येय के बिलकुल विपरीत है।

मुनि ने, अनाथता सनाथता का जो वर्णन किया है। उससे यह बात सिद्ध हो चुका, कि सासारिक-वैभव तथा भोगादि मे पड़ने पर, यह आत्मा अनाथ होता है और इनसे निवर्त कर सयम लेने पर सनाथ होता है। यदि कोई आदमी, सर्वविरति सयम न ले सके और देशविरति सयम ले, तब भी वह, सनाथता के मार्ग का अनुसरण करनेवाला है और कभी पूर्ण सनाथ भी बन सकता है। अनाथ आत्मा, निरन्तर दुख ही भोगता रहता है, और सनाथ आत्मा, दुख-मुक्त हो जाता है। सनाथता-अनाथता का यह भेद, मनुष्य ही समझ सकता है और मनुष्य ही अनाथता से निकल कर सनाथ हो सकता है। मनुष्य होकर भी यदि अनाथता सनाथता के भेद को न समझ, अनाथता से निकल कर सनाथ होने की चेष्टा न की, तो कहना चाहिये कि उसने दुर्लभ मनुष्य-जन्म का वास्तविक लाभ नहीं लिया। तात्पर्य यह कि मनुष्य-शरीर

मे विवेक एवम अनाथता से निकल कर सनाथ बनने की क्षमता है, इसी से यह उत्कृष्ट माना जाता है।

मुनि ने, श्रेणिक राजा के समीप, यह तो सिद्ध कर दिखाया, कि असंयमी जीवन अनाथतापूर्ण है। अर्थात्, ससार व्यवहार मे रहना अनायता है और ससार-व्यवहार त्याग कर सयम स्वीकार करना, सनाथता है। अब मुनि यह बताते है, कि कोई आदमी सयम स्वीकार कर भी, किस प्रकार अनाथ हो जाते है।

इस दूसरी अनाथता यानी सयम ले चुकने पर भी आने वाली अनाथता का वर्णन सनाथी मुनि, कई अभिप्राय से करते है। एक अभिप्राय तो सयमी लोगों को सावधान करना है। उन्हें यह बतलाना है, कि तुम अनाथता से निकलने के लिए ही, ससार व्यवहार त्याग कर साधु हुए हो, लेकिन यदि तुमने साधुता के नियमों का पालन न किया, साधु-नियम के पालने मे असावधानी से काम लिया, या जिन पदार्थों को त्याग कर सयम लिया है, उन्हीं से फिर प्रेम किया, तो जिस अनायता से छुटकारा पाने के लिए साधु हुए हो, उससे भी अधिक अनाथता मे पड जाओगे।

इस वर्णन से, सनाथी मुनि का दूसरा अभिप्राय उन लोगों को उलाहना देना है, जो सयम लेकर सयम के नियमों का पालन नहीं करते है, सयम के नियम पालने मे असावधानी रखते है, या सयम लेकर भी, त्यागे हुए पदार्थों मे आसक्ति या उनकी कामना रखते है। जो लोग अनाथता को जानते ही नहीं, या जान कर सनाथ हो गये है, या सनाथ होने की चेष्टा कर रहे है, उन्हे तो उलहना देने का कोई कारण ही नहीं है। उलहना तो उसी को दिया जाता है, जो

जानबूझ कर बुरे काम करता है।

इस दूसरी अनाथता के वर्णन का तीसरा बहुत बडा अभिप्राय, जनता को सावधान करना है। सनाथी मुनि, राजा श्रेणिक को यह बताते है कि यद्यपि सयम लेना, सनाथता को अपनाना है और इस कारण अनाथ लोगों की दृष्टि मे सयमी पूज्य है, लेकिन सयम लेने वालों मे भी, कई अनाथ ही होते है। बल्कि ऐसे अनाथ होते हैं, जैसा अनाथ, सयम न ले सकने वाला भी नहीं होता।

सयम लेकर अनाथ बने हुए और सयम न लेकर भी अनाथ बने हुए व्यक्ति, वेश-भूषा मे समान हो सकते है, लेकिन गुणों मे समान नहीं हो सकते है। सनाथता गुणों मे है, केवल वेष-भूषा मे ही नहीं है। यद्यपि आदरणीय वेश भी है, लेकिन तब, जब गुण-युक्त हो। गुण रहित वेश की पूजा करना, भगवान् महावीर का सिद्धात नही है।

अनाथता से निकल कर सनाथ बनने वाले सयमी को, जनता, अपना गुरु मानती है और अपने पारलौकिक जीवन की नाव को, उसके सहारे छोड देती है। लेकिन जब तक आचार-विचार से यह विश्वास न कर लिया जावे, कि यह वास्तव मे सनाथ है इसके पहले अपना आत्मा उसे सौंप देना, केवल अन्ध विश्वास है। सयमी को अपना गुरु, इसीलिए माना जाता है, कि वे सासारिक बन्धनों को त्याग कर सनाथ बने है, लेकिन उन्होंने सासारिक बन्धनों को त्यागा है या नहीं, जिस सयम मे दीक्षित हुए है, उसके नियमों का पालन करते है, या नहीं, यह जानना आवश्यक है। यह पहचान, केवल वेश से नहीं हो सकती। वेश में तो सनाथ

और अनाथ, ऐसे दोनों ही प्रकार के रहते है। वेशधारी परन्तु अनाथ संयमी को अपना आत्मा सौंप देने से, लाभ के वजाय हानि है। सनाथ और अनाथ वेशधारी की पहिचान कैसे हो सकती है ? अनाथ वेशधारी के प्रधान लक्षण क्या हैं, यह बात सभी लोग नहीं जानते। सनाथी मुनि, इस प्रकार के अनाथ लोगों की पहिचान कराने के लिए ही, इस दूसरी अनाथता का वर्णन करते है।

आज कल, साधु-वेश रख कर असाधुता के काम करने वाले लोगों की कमी नहीं है। सनाथ मुनि ने, इस दूसरी अनाथता का वर्णन, लगभग ढाई हजार वर्ष पहले किया है, इससे प्रकट है, कि ऐसे लोग उस समय भी थे। तुलसीदासजी ने भी ऐसे लोगों के लक्षण बता कर, उनकी निन्दा की है। उन्होंने कहा है—

जे जन्मे कलिकाल कराला, कर्तब वायस वेप मराला।
वचक भक्त कहाइ राम के, किंकर कञ्चन कोह काम के॥

अर्थात्—कराल कलियुग मे जन्मने वाले लोग, काम तो कौए के करते हैं और वेश हस का रखते है। वे ठग, राम के भक्त कहा कर भी काम, क्रोध एवम् द्रव्य के गुलाम बने रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि मुनि वेश मे ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो साधु कहला कर भी, असाधुता के काम करते हैं। एक ही वेश मे, दोनों प्रकार के व्यक्ति रहते है, इसलिए पहचान कठिन हो जाती है। उनकी पहचान कराने के लिए ही, सनाथी मुनि, इस दूसरी अनाथता का वर्णन करते है।

इस दूसरी अनाथता को समझना भी, जनता का कर्त्तव्य है। इससे मुख्य लाभ तो यह है कि कुगुरु सदगुरु का निर्णय हो जाता

है। यह वेशधारी, वास्तव मे निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी-निर्ग्रन्थ धर्म का पालन करने वाला है, या नहीं। यह बात मालूम हो जाती है। यह मालूम होने से, जनता अनेक हानियों से भी बच जाती है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति साधु-वेशधारी है। उस व्यक्ति का आचरण देखकर नहीं, किन्तु केवल वेश के कारण विश्वास किया गया, इसलिए उसके द्वारा किसी भी समय, धन, जन, प्रतिष्ठा और धर्म की हानि हो सकती है। यदि वेश के साथ ही, उसके आचरण के सम्बन्ध में भी विश्वास कर लिया जावे, तो फिर ऐसी हानि की आशका नहीं रहती। इसलिए सनाथी मुनि द्वारा वर्णित, दूसरी अनाथता के लक्षणों को ध्यान मे रख कर, इन लक्षणों पर से सयम वेशधारी अनाथ को पहचान लेना, जनता के लिए, प्रत्येक दृष्टि से हितकारी है।

कुछ लोगों ने, यह सिद्धान्त बना रखा है, कि 'अपने-यानी साधु साध्वियों के-चरित्र सम्बन्धी शास्त्राज्ञा से, गृहस्थ को परिचित न किया जावे। परिचित कर देने पर, गृहस्थ लोग अपने को पद-पद पर टोकेंगे, इससे अपनी मनमानी न चल सकेगी।' इस प्रकार के विचार से, कई लोग, साधुता के आचार से गृहस्थों को अपरिचित रखते है, लेकिन ऐसा करना, उनकी सयम पाल सकने की अक्षमता के सिवा और कुछ नहीं कहला सकता। जो सयम पालनेमे वीर होगा, वह, इस प्रकार का सिद्धान्त कभी न बनावेगा। वह तो सनाथी मुनि द्वारा वर्णित, इस दूसरी अनाथता को जनता के सन्मुख विस्तृत रूप मे रख कर, यह घोषणा करेगा, कि अनाथता के इन लक्षणों मे से, यदि कोई लक्षण हम पर घटता हो, तो हमे उलाहना दो और ऐसा

उपाय करो, कि हम में से अनाथता का वह लक्षण मिट जावे।

कई आदमी, गृह-संसार त्याग कर और सयम को अपना कर भी, अनाथता मे पड जाते हैं। संयम लेकर भी अनाथता मे कैसे पडते हैं, और फिर अनाथता मे पडना कितना एव कैसा बुरा है? यह बताने के लिए, सनाथी मुनि कहते हैं—

इमा हु अण्णा वि अणाहया निवा,
तमगचित्तो निहुओ सुणेहि।
नियण्ठधम्म लहियाण वी जहा,
सीयन्ति एगे बहु कायरानरा ॥३८॥

अर्थ—हे राजा, एक अनाथता और है, जिसे तुम स्थिर चित्त होकर सुनो। सनाथ बनाने वाले निर्ग्रन्थ-धर्म को प्राप्त करके भी, बहुत से कायरलोग पतित हो जाते हैं और निर्ग्रन्थपने मे दुःख पाते है।

कुछ लोग कहते हैं—हम गुरु है, अतएव जो कुछ भी करते है, वही ठीक है। परन्तु अनाथी मुनि ऐसा नहीं कहते। वह कहते है—कितनेक साधु कायर होकर अनाथ ही बने रहते है और निर्ग्रन्थ-अवस्था मे भी दु ख पाते है।

इस आलोचना को सुनकर, सभव है कुछ साधुओं और साध्वियों को अप्रसन्नता हो और वे रुष्ट भी हो जाएँ, किन्तु जो बात शास्त्र मे आई है, वह तो कहनी ही पडेगी। जब हम दूसरों की टीका-टिप्पणी एव आलोचना करते है तो अपनी निज की टीका टिप्पणी और आलोचना से क्यों डरना चाहिए? इस टीका को सुनकर साधुओं को तो ऐसा सोचना चाहिए कि ससार मे जो

पाप होता है, उसका उत्तरदायित्व हमारे ऊपर ही है। अगर हम साधु पवित्र रहें तो ससार के समस्त पाप भस्मीभूत हो जाएँ। अगर हम अपने भीतर छिपे पापों को न रहने दें तो स्वय पवित्र हो जाएँ और दूसरों को पवित्र कर सकें।

जैसे श्वेत चादर पर पडा हुआ काला धब्बा आँखों को चुभता है उसी प्रकार साधुओं का सनाथता में से निकलकर फिर अनाथ बन जाना महापुरुषों को चुभता है।

अनाथ मुनि कहते हैं—राजन्। अब मैं तुम्हे एक जुदा प्रकार की अनाथता बतलाता हूँ। तुम एकाग्र और निश्चल चित्त होकर सुनो'—

अनाथ मुनि ने राजा श्रेणिक से यह बात कहकर एक महान् सिद्धान्त की सूचना की है। इस सिद्धान्त-तत्त्व को ध्यान मे रखने की खास आवश्यकता है।

लोग कहते हैं—इतना उपदेश सुनने पर भी हमे ज्ञान क्यों नहीं होता? उन्हें समझना चाहिए कि उपदेश श्रवण करने मे भी चित्त को एकाग्र और निश्चल करना पडता है। मन एकाग्र न हुआ तो उपदेश श्रवण का फल नही होता।

योगियों का चित्त एकाग्र होता है। योग शास्त्र मे क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरोध यह पाँच चित्तवृत्तियाँ बतलाई गई हैं। इन पाँचों का विवेचन करने के लिए लम्बा समय चाहिए, परन्तु अभी बहुत विस्तार न करके सक्षेप मे ही कहता हूँ।

मन मे राग-द्वेष को बढ़ाने वाली रजोगुणमयी जो वृत्ति होती है, अर्थात् मन जब राग-द्वेषवर्द्धक रजोगुण मे ही आनन्द

मानता है, उस समय की मनोवृत्ति क्षिप्त वृत्ति कहलाती है।

तमोगुण प्रधान वृत्ति मूढ वृत्ति है। मादक पदार्थों का सेवन करने मे आनन्द मानना मूढ़वृत्ति का ही परिणाम है। कोई-कोई चित्त को निश्चल करने के लिए अफीम, भग, गांजा आदि मादक पदार्थों का सेवन करते हैं। इस प्रकार तामसिक पदार्थों का सेवन करके चित्त को निश्चल बनाना भी मूढ वृत्ति है।

शब्द, रूप, रस, गंध आदि इन्द्रिय-विषयों में आनन्द मानना चित्त की विक्षिप्त वृत्ति है। शास्त्र के कथनानुसार इन तीन वृत्तियों के पश्चात् की जो एकाग्र वृत्ति है, उसका अवलम्बन करके धर्म श्रवण किया जाय तो शास्त्र का तत्त्व समझ मे आता है।

यह एकाग्र वृत्ति ही योगी की वृत्ति है और इसी में योग-साधना होती है। जब तक चित्त मे एकाग्र वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, तब तक शास्त्र की बात समझ मे नहीं आती।

आप यहाँ शास्त्र श्रवण करने के लिए आये है, तथापि अगर आप राग द्वेष मे पडे है, रूप, रस, गंध आदि की अभिलाषा का सेवन कर रहे हैं, अथवा निद्रा ले रहे हैं, तो आपका चित्त क्षिप्त, मूढ़ या विक्षिप्त वृत्ति मे ही रह रहा है और ऐसी स्थिति मे शास्त्र श्रवण करने पर भी ज्ञान की उपलब्धि किस प्रकार हो सकती है? शास्त्र की बात सुनकर ज्ञान तो तभी हो सकता है जब चित्त मे एकाग्रता हो।

कदाचित् श्रोताओं का चित्त एकाग्र हो या न हो, पर शास्त्र सुनाने वाले वक्ता का चित्त तो एकाग्र होना ही चाहिए। आज कल हम साधुओं पर भी आपकी क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त चित्तवृत्ति का

प्रभाव पडा है। हम से भी कहा जाता है कि जमाने को देखकर बोलना-चलना चाहिए। किन्तु जमाने को देखकर आपको खुश करने के लिए हम सत्य को दबा रक्खें तो कहना चाहिए कि फिर तो हम भी पहले की तीन वृत्तियों मे ही रहे। हमारी चित्तवृत्ति भी एकाग्र हुई नहीं कही जा सकती। हम साधुओं को तो चित्त एकाग्र करके सत्य वस्तु-तत्त्व ही प्रकट करना चाहिए। उससे कोई प्रसन्न हो तो अच्छा और अप्रसन्न हो तो अच्छा।

मित्रों। आपसे भी यही कहना है कि आप भी चित्त को एकाग्र कर शास्त्र श्रवण करें। इस प्रकार मेरे कहने पर भी अगर आप एकाग्रतापूर्वक शास्त्र न सुनें तो आपकी मर्जी, किन्तु मुझे तो एकाग्र होकर ही शास्त्र श्रवण करना चाहिए। साधुओं का तो यही कर्त्तव्य है कि वे अपनी चित्त वृत्ति को बिखरी न रखकर एकाग्र करें।

कितनेक साधु अपनी चित्तवृत्ति को सयम मे स्थिर न करके सामाजिक सुधार के नाम पर सासारिक झझटों मे फँस जाते हैं, किन्तु ऐसा करना उचित नहीं है। साधुओं को तो अपनी चित्त-वृत्ति सयम मे ही स्थिर रखनी चाहिए। राजा श्रेणिक ने मुनि के उपदेश को एकाग्र भाव से सुना तो तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया। यह सम्पत्ति कुछ साधारण नहीं है। तीर्थंकर प्रकृति सर्वोत्कृष्ट पुण्यप्रकृति है और आत्मा का शाश्वत कल्याण करने की निमित्त है।

कह सकते हो कि ससार के झझटों मे मन को किस प्रकार एकाग्र किया जाय ? किन्तु ससार के सकटों के समय तो मन और अधिक एकाग्र रहना चाहिए।

कुछ लोगों का ख्याल है कि गृहस्थों के सामने साधु-आचार सबंधी बातें कहना अनावश्यक हैं। साधु आचार का विचार तो एक जगह बैठकर साधुओं को ही आपस मे कर लेना चाहिए। गृहस्थों के सामने उन बातों को रखने से कोई लाभ नहीं है।

अगर यह ख्याल सही होता तो अनाथ मुनि को श्रेणिक राजा के सामने भी यह चर्चा नहीं करनी चाहिए थी। किन्तु हम देखते हैं कि अनाथ मुनि राजा के सामने साधु आचार की चर्चा कर रहे हैं। इससे विदित होता है कि गृहस्थों के सामने साधु-आचार की चर्चा करना आयोग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त साधु भीतर ही भीतर अपने आचार की चर्चा कर लिया करें और गृहस्थों के सामने न करें तो उन्हें कैसे पता चले कि कौन साधु है और कौन नहीं ? इस प्रकार गृहस्थों के समक्ष साधु–समाचारी की बातें रख कर यह प्रकट किया गया है कि जो साधु आगम के अनुसार आचरण करते हों, उन्हें साधु मानो और जो तदनुसार आचरण न करते हों, उन्हें साधु न मानो।

कहा जा सकता है कि आगम मे कथन होने पर भी कैसे यह निर्णय किया जाय कि यह है या नहीं ? क्योंकि कितने ही साधु ऊपर से तो आगमानुसार व्यवहार करते हैं, किन्तु गृहस्थों को क्या पता कि वे भीतर से भी वैसा ही करते है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आपको साधु की अपेक्षा आगम को अधिक प्रमाणभूत मानना चाहिए और देखना चाहिए कि आगम के विधान के अनुसार इसका आचरण है या नहीं ? आप गृहस्थ भी निर्ग्रन्थप्रवचन के दास हैं। उसे जीवन व्यवहार मे लाना तो

अपनी-अपनी शक्ति और परिस्थिति पर निर्भर है. किन्तु श्रद्धा तो उस पर दृढ़ ही रखनी चाहिए। और जो साधु हैं उन्हें निर्ग्रन्थ-प्रवचन के अनुसार ही चलना चाहिए। जो शास्त्र के अनुसार नहीं चल सकता, उसके साधुपन त्याग कर चले जाने की शास्त्र निन्दा नहीं करता। किन्तु साधु-अवस्था मे रहकर शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति करने वालों की तो अनाथ मुनि भी टीका कर रहे हैं।

लेकिन मूल प्रश्न अभी कायम है। कोई साधु ऊपर-ऊपर से शास्त्रानुकूल व्यवहार करता हो और भीतर से न करता हो तो उस अवस्था मे कैसे निर्णय किया जाय कि वह वास्तव मे शास्त्र के अनुसार व्यवहार करता है या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि भीतर-भीतर कुछ करना और ऊपर कुछ और ही तरह का प्रदर्शन करना, यह भूतकाल मे हुआ है, वर्त्तमान मे होता है और भविष्य मे भी होगा। इस प्रवृत्ति को रोका नहीं जा सकता। अतएव आपको तो निर्ग्रन्थप्रवचन पर ही श्रद्धा रखनी चाहिए और देखना चाहिए कि व्यवहार मे साधु का आचरण उसके अनुकूल है या नहीं। आप पूर्ण नहीं है, जिससे की किसी के आन्तरिक भावों को या आन्तरिक वास्तविकता को जान सकें। अपूर्ण के लिए तो व्यवहार देखना ही उचित है। अतएव जो साधु व्यवहार मे निर्ग्रन्थप्रवचन का पालन करते है, उन्हें साधु के रूप मे मानना चाहिए और जो नहीं पालन करते, उन्हे नहीं मानना चाहिए। आपको ध्यान रखना है कि अपूर्ण जनों के लिए निश्चय को जानने का कोई अचूक साधन नहीं है। अपूर्ण तो व्यवहार से ही सब बातें जान सकते हैं।

उदाहरणार्थ—आपने किसी को अपनी दुकान पर मुनीम बना

कर रक्खा। वह मुनीम व्यवहार मे बरावर जमा—खर्च का हिसाब रखता है। ऐसी स्थिति मे आप उस पर विश्वास करेंगे अथवा नहीं? निश्चय मे उसका हृदय कैसा है, यह बात आप नहीं जानते, किन्तु व्यवहार का पालन वह बरावर कर रहा है। ऐसी स्थिति मे आप उसे मुनीम मानेंगे। इसके विपरीत, अगर किसी का हृदय साफ हो परन्तु व्यवहार मे काम बरावर न करता हो आप क्या करेंगे? आप यही कहेंगे कि जो मुनीम व्यवहार को नहीं जानता, उसकी हमे आवश्यकता नहीं। राजशासन मे भी यही बात है। पुलिस विभाग हो अथवा न्यायविभाग हो, जो कायदे के अनुसार काम करता है, उससे कोई कुछ नहीं कहता। वहा कायदे का पालन करना आवश्यक है। हृदय कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों न हो, पर जो कायदे का पालन नहीं करता, वह उपालंभ का पात्र बनता है।

सारांश यह है कि जब तक पूर्णता न आ जाय तब तक व्यवहार द्वारा ही किसी बात की परीक्षा हो सकती है। यद्यपि व्यवहार के साथ निश्चय की भी आवश्यकता है, किन्तु निश्चय तो आत्मसाक्षी से ही जाना जा सकता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।

अर्थात्—श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते है, दूसरे लोक भी उन्हीं का अनुकरण करके आचरण करने लगते हैं, क्योंकि व्यवहार मे आचरण ही देखा जा सकता है, निश्चय को देखना हमारे लिए शक्य नहीं है। अतएव निश्चय के साथ व्यवहार का पालन करना ही चाहिए।

हमारे यहां से प्रकाशित

जवाहर साहित्य की सूची

नं०	नाम	विषय	मूल्य
	श्री जवाहर किरणावली		
१	प्रथम किरण	दिव्य-दान	१।)
२	द्वितीय ,,	दिव्य-जीवन	१)
३	तृतीय ,,	दिव्य-सदेश	१।)
४	चतुर्थ ,,	जीवन-धर्म	१॥)
५	पाचवीं ,,	सुबाहुकुमार	१॥।)
६	छट्ठी ,,	रुक्मिणी विवाह	॥।)
७	सातवीं ,,	श्रावणमास के व्याख्यान	२)
८	आठवीं ,,	सम्यक्त्व-पराक्रम [प्रथम भाग]	१।)
९	नवीं ,,	,, ,, [दूसरा भाग]	१॥)
१०	दसवीं ,,	,, ,, [तीसरा भाग]	१।)
११	ग्यारहवीं ,,	,, ,, [चौथा भाग]	॥।)
१२	बारहवीं ,,	,, ,, [पांचवां भाग]	॥।)
१३	तेरहवीं ,,	धर्म और धर्मनायक	२)
१४	चौदहवीं ,,	राम वन-गमन [प्रथम भाग]	१।)
१५	पन्द्रहवीं ,,	,, ,, [द्वितीय भाग]	॥।)
१६	सोलहवीं ,,	अजना	१)
१७	सत्रहवी ,,	पाडव-चरित्र [प्रथम भाग]	१।)
१८	अट्ठारहवीं ,,	,, ,, [द्वितीय भाग]	१।)
१९	उन्नीसवीं ,,	बीकानेर के व्याख्यान	२)

प्राप्ति स्थान—

मंत्री
श्री जवाहर साहित्य समिति
भीनासर (बीकानेर)